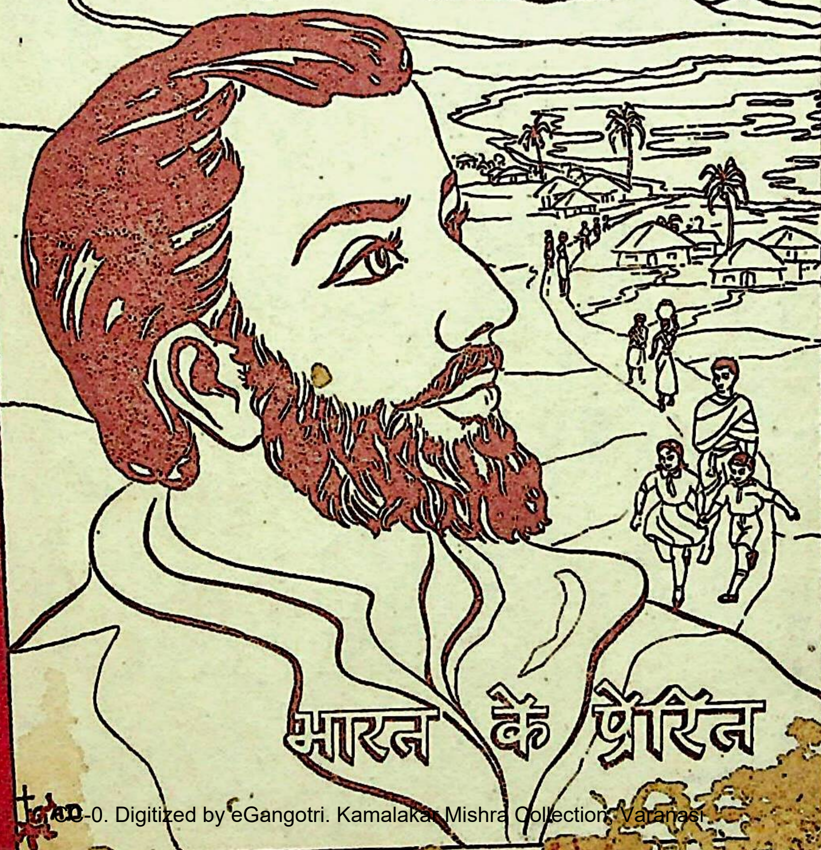
संत फ्रांसिस जेवियर



भारत के प्रेरित

संत फ्रांसिस जेवियर

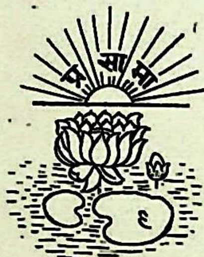
भारत के प्रेरित

लेखक
श्रद्धेय जे० एफ० पस्काल येसुसमाजी

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट,
वाराणसी--१

प्रकाशक
संपादक, प्रभात
ख्रीस्तराजा, बेतिया
चम्पारण, बिहार

प्रभात साहित्य-माला—९



मूल्य २.७५ : डाक खर्च अलग,

Permissu Superiorum

अनुक्रमणिका

परिचय

ख्रीस्तमंडल के गगन-मंडल में,
दो तेजपूर्ण प्रकाश-पिंड, दो महान सन्त :
सन्त इनीगो, गंभीर ज्वालामुखी;
सन्त फ्रांसिस जेवियर युग-युग के प्रकाश-स्तंभ !
एक गुरुदेव– दूसरा पट शिष्य ।
गुरुदेव इनीगो का गुरुमंत्र –
"मनुष्य को क्या लाभ यदि वह सारा संसार
अर्जित कर ले और अपनी आत्मा गवां दे ?"
शिष्य के कानों से टकराया जैसे जल के फुहारे चट्टान से ।
किन्तु बार-बार के आघात ने
और उससे भी अधिक गुरु की प्रार्थना, तपस्या तथा आदर्श ने
उस पाषाण से मनोहर मूर्त्ति गढ़ना आरम्भ किया ।
शिष्य ने धीरे-धीरे आत्मा का, मुक्ति का मूल्य समझा ।
गुरु ने उस जड़ मूर्त्ति में प्रभु ईसा की अंतरात्मा रग-रग में भर दी ।

× × × × ×

तब शिष्य तथा गुरु दोनों गिरजा के रणक्षेत्र में उतरे ।
इनीगो निपुण, दूरदर्शी, युगांतकारी सेनानी बने
और फ्रांसिस कुशल, विद्युत्‌गामी, सर्वजयी सैनिक ।
पूर्व के लिए प्रस्थान करने के पूर्व
गुरु ने शिष्य से दक्षिणा चाही :
"जाओ, समस्त संसार को प्रज्वलित कर दो ।"
शिष्य ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की

और इसकी पूर्त्ति में जीवन का क्षण-क्षण
शरीर का कण--कण तर्पण कर दिया ।
फ्रांसिस "प्रेम का बवंडर" बन
विद्युत् वेग से पूरब की ओर बढ़े
और अंतस्तल के प्रचंड प्रेम--विस्फोट से
दसों दिशाओं को निनादित कर दिया

"मुझे आत्माएं दो, और सब ले लो ।"

उनका यह प्रेम-विकल आवाहन सुन
अरब, हिंद एवं प्रशांत महासागर की उतुंग तरंगें
नभमंडल के भीषण गर्जन तथा भूतल के कोटि-कोटि कंठ
उसी निनाद से प्रकंपित, प्रतिध्वनित हो उठे :

मुझे आत्माएं दो, और सब ले लो ।

गुरु-दक्षिणा देने का यह कितना हृदयहारी रूप था ,
जो लिसबन और गोआ से लेकर मलक्का, जापान और चीन के
लाखों हृदयों में आज भी धर्म--क्रांति मचाए हुए है ।

× × × × ×

भगवान के महान भक्त और गिरजा के ऐसे क्रांतिकारी प्रेरित की जीवनी प्रदान कर श्रद्धेय स्वामी योसेफ पस्काल ने हिंदीभाषी ख्रीस्त-प्रेमियों की प्रशंसनीय सेवा की है । इसके लिए हम सब उनके आभारी हैं और आशा करते हैं कि समय-समय पर अपनी पटु लेखनी मुखरित कर आगे भी हमारा हृदय आलोकित करते रहेंगे ।

ख्रीस्त राजा, बेतिया — कल्याण
१५वीं अगस्त १९६०

पहला परिच्छेद

पुष्प का स्फुरण

जेवियर गढ़ स्पेन के उत्तर स्थित नव्वार प्रान्त के पूर्वी भाग में पड़ता है। उन दिनों नव्वार की राजधानी पंप्लूना थी। उत्तर-पूर्व में फ्रांस और स्पेन को अलग करती है पिरीनीज पर्वतमाला। बगल से ही आरागोन नदी पर्वत-शृंग से निकलकर अतलांतक की ओर बढ़ती है। नव्वार प्रान्त की प्राकृतिक सुषमा बड़ी मनमोहक है। इस शस्यश्यामला घाटी में नव्वार के किसान अपने खेत जोतते और इसके हरे-भरे चरागाहों में नव्वार की भेड़ें आनंद से चरती थीं। वहाँ सैनिकों की जगह कवि और ललित-कला-प्रेमी कल्पना के डैनों पर उड़ते थे।

आज के स्पेन में नव्वार का वही स्थान है जो उस देश के अन्य प्रान्तों का है। फिर भी नव्वारी अपने को स्पेनियों से पृथक मानते आए हैं। स्पेनी भाषा में उन्हें न अपनी बास्क का ओज मिलता है न उसका जोश ही; बास्क फ्रांसिस की मातृभाषा थी। बास्क के ही शब्द पहली बार बालक फ्रांसिस के कोमल कानों से टकराए थे, और वर्षों बाद जेवियर गढ़ के प्रेममय वातावरण से दूर, फ्रांसिस ने बास्क में ही अपने जीवन-बलि के मन्त्र उच्चारे थे।

फ्रांसिस के दो बड़े भाई थे, जुआन और मिकेल। इनको नव्वार की स्वतंत्रता के लिए कभी रणस्थल में शत्रुओं का सामना करना पड़ता, तो कभी गिरि-गह्वर तथा गहन वनों की खाक छाननी पड़ती। इनकी दो बहनों ने राजाधिराज प्रभु येसु के राज्य-विस्तार के लिए अपनी स्वतंत्रता का होम कर दिया था। इन दोनों कुमारियों ने संसार के कोलाहलपूर्ण वातावरण को त्याग मठ की शान्ति का आलिंगन कर लिया था; मरियम पंप्लूना के मठ में और मग्दलेना गांदिया की दरिद्र क्लारों के मठ में।

फ्रांसिस का जन्म पवित्र सप्ताह के मंगलवार को हुआ था। उनकी सुन्दर मुखाकृति, बड़ी-बड़ी आँखें और चौड़े भाल पर लटकते घुंघराले, लच्छेदार

बालमात्र ही उनकी पैतृक सम्पत्ति नहीं थे, चंचलता और कुतूहल में वे अन्य जेवियरवालों से आगे थे। वचपन से ही उनकी धार्मिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाने लगा। गढ़ में ही एक प्रार्थना-कक्ष था। तीन पुरोहितों और एक सेवक के हाथ में समस्त जेवियर कुल की धार्मिक परिचर्या थी। पुरोहितों की जीवनचर्या के लिए जेवियर के स्वामी ने अपनी पत्नी की सहायता से एक विशेष नियमावली तैंयार की थी। प्रतिदिन बड़े समारोह के साथ मिस्सा का पूज्य वलिदान चढ़ाया जाता और प्रत्येक रविवार और पर्व-दिवस को तीन पुरोहितों का मिस्सा होता।

इस प्रकार जेवियर गढ़ में सर्वप्रथम स्थान भगवान को ही प्राप्त था जेंवियर की कीमती वस्तुओं में एक आदमकद क्रूसकाय भी था, जिसे देखते ही हृदय कम्पित हो जाता। ऐसे वातावरण में पलने के कारण फ्रांसिस के चरित्र पर नव्वार की धार्मिक भावना तथा भक्ति की गहरी छाप पड़ी थी। उनके कण-कण में थी नव्वारियों के शौर्य की लहर, जो संकट एवं विपत्ति में उनके स्पेनी हृदय को सदा उत्तेजित करती रहेगी।

फ्रांसिस के प्रथम ६ व्रर्ष शान्तिपूर्वक वीते। पर नव्वार की स्वतंत्रता ज्यों-ज्यों क्षीण होती गई, जेवियर गढ़ पर विपत्तियों के काले वादल छाते गए। नव्वार पाँच भागों में विभक्त था, चार भाग पिरीनीज के दक्षिण, स्पेनी इलाके में पड़ते थे। फ्रांसिस के पितामह इसी हिस्से में रहा करते और फ्रांसिस के पिता भी इसी भाग में खेल कूद कर वड़े हुए थे। शिक्षा तथा योग्यता के अनुसार जव उनका व्याह चार्ल्स महान की सुपुत्री मरियम से हुआ, तो इस पुनीत वंधन ने उनका संवंध सुश्री मरियम से स्थापित नहीं किया, वरण जेवियर गढ़ से ही उनका अटूट संवंध हो गया।

विपदा के वादल

किन्तु नव्वार के शासन की वागडोर पाँचवें भाग के हाथ में था। और यह हिस्सा फ्रांस में पड़ता था। १५१२ ई० में स्पेनी सेना ने नव्वार पर आक्रमण कर दिया। इसका एकमात्र कारण था स्पेनी सेना को नव्वार से होकर जाने पर नव्वारियों द्वारा प्रतिवंध लगा देना। उधर पिरीनीज के उत्तर से फ्रांस की

सेना स्पेनी सिपाहियों को ललकार रही थी। कुछ ही समय में नव्वार, आरागोन के राजा फर्दिनान्द के अधीन चला गया, और नव्वार की गणना स्पेन के अन्य प्रान्तों में होने लगी। और फर्दिनान्द के प्रतिनिधि नव्वार पर शासन करने लगे। जब स्पेनी सेना के सामने नव्वार नरेश जौन के सैनिकों के पैर अधिक देर न टिक सके तो नव्वार की स्वतंत्रता चली गई। राजा जौन को नव्वार से जान बचाकर भागना पड़ा। इसी बीच जेवियर के स्वामी श्रीमान जुआन इस धराधाम से चल बसे। उसी वर्ष राजा फर्दिनान्द भी संसार से कूच कर गए जिससे नव्वार के काले आकाश में एक पतली रश्मि एक बार फिर चमक उठी। लेकिन क्षणिक चकाचौंध के बाद अंधेरा और भी गहरा हो गया। इसके बाद जेवियर नव्वारी विद्रोहियों का केन्द्र बन गया; किन्तु व्यवस्था के अभाव और कुशल सेनापति के नहीं रहने से यह क्रान्ति विफल रही और जेवियरगढ़ का विध्वंस आरंभ हो गया। गगनचुंबी मीनारों को नतमस्तक होना पड़ा, दीवारें काँप उठीं। विजयी सेना की उदारता से ही श्रीमती मरियम और उनके बच्चों के प्राण बचे। फ्रांसिस नौ वसंत देख चुके थे।

इस विफल क्रान्ति का जेवियर की आर्थिक स्थिति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। जेवियर की पुरानी जागीर थी। इसी जागीर से होकर चरवाहे जाया-आया करते थे; मालिक की गिरी अवस्था देख रैयतों ने इस सुविधा के लिए कर देना बंद कर दिया। श्रीमान जुआन के जन्म-काल से इनकी रैयत ऐसा करती आ रही थी। फलस्वरूप फ्रांसिस और उनके भाइयों को अपने बाहुबल का सहारा लेना पड़ा। वे गड़ेरियों की भेंड़ छीन लाते; किन्तु उदारहृदया मरियम के सामने उनकी एक न चलती। भेड़ों को कुछ समय रखकर लौटा दिया करती थीं। ऐसी दुरवस्था में भी फ्रांसिस की शिक्षा में कोई त्रुटि नहीं हुई। मानसिक विकास के साथ-साथ उनके चरित्र-निर्माण पर भी माता-पिता और गढ़ के पुरोहितों की कड़ी निगरानी रहती थी।

सुयोग्य शिक्षक एवं अभिभावकों के संरक्षण में उन्होंने परमप्रसाद के लिए तैयारी की। जेवियर के अशान्त वातावरण में भी फ्रांसिस का बाल हृदय शान्ति से उमड़ उठा होगा जब उन्होंने प्रथम बार पवित्रतम संस्कार में जगत के मुक्तिदाता को ग्रहण किया।

वीर इनीगो

नव्वार के इतिहास में ऐसे उलट फेर हो ही रहे थे कि पंचम चार्ल्स स्पेन की शाही गद्दी पर आए। उन्होंने स्पेनी सेना को नव्वार से हटा लेने का हुक्म दिया। नव्वारियों की उमंग ने एक बार फिर अँगड़ाई ली। पिरीनीज के उत्तर से सहायता लेकर फ्रांसीसी सेना भी आ धमकी। यह एक स्वर्ण अवसर था, कम से कम नव्वारियों की तो यही धारणा रही। मुस्कुराती विजय का आलिंगन करने जेवियर के जवान जुआन और मिकेल उत्साह से झूमते चल पड़े। फ्रांसीसियों ने नव्वार की राजधानी पंप्लूना पर बमवारी शुरू कर दी। यह थी १५२१ के अप्रैल की २०वीं तारीख। दोनों ओर से घमासान लड़ाई होने लगी। पंप्लूना के गढ़ में छिपी स्पेनी सेना इस भीषण बमवारी के सामने अशक्त रही। खुले मैदान में उतरना मृत्यु को ललकारना था। बहुमत ने आत्मसमर्पण का प्रस्ताव पेश किया। लेकिन इनीगो नामक एक आत्माभिमानी एवं महत्त्वाकांक्षी सैनिक ने इसका जोरदार विरोध किया। ईंट का जवाब पत्थर से दिए जाएँ, इसके लिए उन्होंने अधिकारियों और सहसैनिकों को उत्तेजित किया। उनका उत्साह तथा उमंग देखकर सैनिकों में नया जोश आया। दुर्भाग्यवश गढ़ की रक्षा करते समय फ्रांसीसी सैनिक के एक गोले से उनकी एक टाँग चकनाचूर हो गई और दूसरी में भी भारी चोट आई। इधर इनीगो की टाँग टूटी और उधर स्पेनी सिपाहियों के पैर उखड़ गए। फ्रांसीसी सैनिकों ने इस घायल वीर को शिष्टाचार के साथ स्पेनी शिविर में भिजवा दिया। दो सप्ताहों की परिचर्या के बाद भी इनीगो की दशा में कोई सुधार न हुआ। अन्त में उनके आग्रह से उनके पैर फिर तोड़े गए। इस असह्य यंत्रणा के समय वीर सैनिक इनीगो के मुँह से एक उफ् तक न निकली। इससे उनके आत्माभिमान को ठेस जो लगती। उनकी जोर से बँधी मुट्ठियाँ देख परिचारक उनकी वेदना की थाह लगा सकते थे। लेकिन दुर्भाग्य और यंत्रणा की ओट से सौभाग्य तथा उत्कर्ष झाँक रहे थे। पावस की आँधी के बाद ही प्रकृति की हरियाली आँखों को लुभाती है।

पंप्लूना पर नव्वारियों की विजय-पताका तीन ही दिनों तक फहरा पाई थी कि निकटवर्ती नोआईम नगर में उन्हें मुँह की खानी पड़ी। मिकेल भाग खड़े

हुए किन्तु कुछ ही समय बाद उन्हें गिरफ्तार होकर पंप्लूना की कैद में सड़ना पड़ा। कैद से भाग निकलने पर वे अपने भाई जुआन के साथ स्पेनियों पर छिटपुट आक्रमण करते रहे। फलतः उनकी जायदाद जब्त हो गई और वे मृत्यु दंड के योग्य घोषित हुए। जब तक वह सजा रद्द न कर दी गई, नव्वार के ये वीर सपूत अपनी माता तथा कुटुम्बियों से न मिल पाए। तीन वर्षों के सैनिक आतंक के बाद नव्वार में फिर शान्ति आई।

उस समय फ्रांसिस किशोरावस्था में प्रवेश कर चुके थे। तब तक उनका मुंडन हो चुका था। इस युवक की चंचल आँखें ऊँचे गगन में अपने लिए एक उपयुक्त स्थान ढूँढ़ रही थीं। सैनिक-जीवन की ओर उनका आकर्षण नहीं था। उनमें शायद पुरोहित बनकर अपनी कुशाग्र बुद्धि और मानसिक प्रतिभा से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की लालसा थी। वे १५२५ के सितम्बर में अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए जगत विख्यात पेरिस की ओर चल पड़े, सफलता के प्रथम सोपान विद्यार्जन के लिए।

पेरिस में

यूनानी संस्कृति का प्रवाह फ्रांस तथा इटली के वन-प्रान्तर से होकर सारे यूरोप में फैल चुका था। साहित्य एवं कला सर्वोच्च पद पर आसीन होकर सारे महादेश को आकृष्ट कर रहे थे। यूरोप के अन्य नगरियों में पेरिस सितारों में चान्द बना हुआ था। पेरिस का विश्वविद्यालय युगों से यूरोप भर में कला और विज्ञान का अद्वितीय केन्द्र हो गया था। उसकी इमारतें सेन नदी के दोनों किनारों पर दूर तक फैली हुई थीं। उसके अन्तर्गत पचास महाविद्यालय थे, जहाँ चार हजार से ऊपर विद्यार्थी विद्या का वरदान पाने के लिए कच्ची उम्र से कठोर तपस्या करने आए थे।

स्पेन, पुर्तगाल तथा यूरोप के सभी देशों तथा फारस और ईरान से आए विद्यार्थी उसकी प्रसिद्धि के प्रत्यक्ष प्रमाण थे। यहाँ का प्रत्येक विद्यार्थी अपने देश तथा संस्कृति का भेदभाव त्याग कर उस विद्या-केन्द्र के नियम-सूत्र से बँधा हुआ था। वहाँ का रहन-सहन एक था। वहाँ की भाषा एक ही थी लातिनी, विचारों के आदान-प्रदान तथा शिक्षा का माध्यम। इस जगत् विख्यात विश्व-

विद्यालय में कला तथा विज्ञान की सभी शाखाओं की शिक्षा दी जाती थी। देवशास्त्र तथा दर्शन के साथ-साथ कानून, वैद्यक, और साहित्य के अध्ययन का भी उत्तम प्रवंध था।

दिनचर्या की झलक

इसी पेरिस में फ्रांसिस भी शिक्षा प्राप्त करने आए। अव तक उन्होंने अठारह वसंत देखे थे। संत वारवरा कालेज में उन्हें स्थान मिल गया। यहाँ पुर्त्तगालियों तथा स्पेनियों की संख्या अधिक थी, क्योंकि पुर्त्तगाली राजकोष से प्राप्त अनुदान से ही इस कालेज का खर्च चलता था। अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा फ्रांसिस की उम्र अधिक थी। विद्यार्जन के लिए वहाँ वालक भी आते थे । ये मासूम वच्चे भी कालेज के कठोर अनुशासन के अधीन थे । नियमानुसार प्रातः चार बजे उठते, और प्रार्थना के वाद अपना अध्ययन-कार्य शुरू कर देते थे। दस बजे कुछ नाश्ता करके वे पुनः पढ़ने में लग जाते। वे मनोरंजन के समय यूनानी और लातिनी साहित्यिक महारथियों की अमर कृतियाँ पढ़ा करते। एक बजे स्वाध्ययन का समय होता, और ६ बजे भोजन।

संदेह नहीं कि अध्ययन ही उस समय विद्यार्थी जीवन का मुख्य धंधा माना जाता था। जितना अधिक अध्ययन होता, उतना ही कम भोजन। विद्यार्थियों के स्थूल शरीर में कुशाग्र वुद्धि विरले ही मिलती है। अल्पायु विद्यार्थियों को नाश्ते के लिए रोटी का एक टुकड़ा मिलता था। इसे वे पानी के सहारे गले के नीचे उतार संतुष्ट हो जाते थे। दोपहर को एक टुकड़ा मछली या एक अंडा मिलता। बड़ों को एक पूरी मछली, या दो अंडे मिलते। आधे सेर शराब से तीन तीन अपनी प्यास मिटाते। और इसके अलावा कुछ साग-सब्जी खाकर, थोड़े पनीर से मुंह चिकना कर लेते। ऐसे वातारवण में, जहाँ अध्ययन अधिक हो और भोजन कम, वहाँ शरीर विद्रोह कर सकता है।

अतः उसे अनुशासन में रखने के लिए अध्यापक छड़ी का मुक्तहस्त प्रयोग करते थे। ऐसी तपस्या से विद्यार्थी मानसिक उन्नति के सोपान पर चढ़ते। फिर भी अध्यापकों की कठिनाइयाँ दूर नहीं हो जातीं। इधर ये लातिनी और यूनानी भाषा की सौंदर्य-निधि अपने श्रोताओं के आगे विखेरने में तल्लीन रहते,

उधर अन्यमनस्क विद्यार्थी बड़ी-बड़ी आँखें निकाले महाशून्य में बिचरते या आँखें बंद किए निद्रादेवी की उपासना में अनुरक्त रहते अथवा अपने कपड़ों तथा जूतों की दयनीय दशा पर तरस खाते नजर आते। पेरिस के विश्वविद्यालय का कार्यक्रम विस्तृत था और उसका अध्ययन-काल भी लंबा। पूरा वर्ष प्रारंभिक अध्ययन में लग जाता। तब तीन वर्ष दर्शन की सेवा में काटकर विद्यार्थी एम० ए० की पदवी प्राप्त कर पाते। तत्पश्चात् डाक्टर की उपाधि पाने के पूर्व वर्षों तक अध्यापन-कार्य में गुजारना पड़ता। तब अन्त में चार वर्षों के अध्ययन के उपरान्त परिपक्व विद्यार्थी उस उच्च उपाधि के योग्य समझे जाते। पेरिस में फ्रांसिस ने कुल ग्यारह वर्ष बिताए।

लूथर और काल्विन

फ्रांसिस पेरिस में ही अध्ययन कर रहे थे कि लूथर का विषाक्त मत धीरे-धीरे यूरोप में फैलने लगा था। काल्विन भी उसी विश्वविद्यालय में अध्ययन कर रहे थे। लूथर के सुधारों की मोहिनी इस युवक पर चल रही थी। फिर भी इन दोनों सुधारकों में बड़ा अन्तर था। साहित्य के बाद काल्विन ने कानून का अध्ययन शुरू किया, पर उनका जी देवशास्त्र में ही अधिक लगता था। संत बारबरा कालेज में भी उनका आना-जाना हुआ करता था।

इन नए सुधारकों की विषभरी शिक्षा के साथ-साथ पेरिस की सुन्दर नगरी में अन्य खतरों का भी जाल बिछा था। देश-विदेश से आए विद्यार्थियों ने अपने मनोरंजन के लिए अनेकों रास्ते ढूंढ़ निकाले थे। मनोरंजन के ये साधन नैतिकता की दृष्टि से किसी भाँति भी आदरणीय नहीं थे। वासना की दलदल में अनुभव-हीन विद्यार्थी वृन्द तो फँसा ही था, अध्यापक भी अपने बुरे उदाहरण द्वारा उन्हें अपने साथ और भी नीचे खींचते जा रहे थे। ऐसे ही एक अध्यापक-कुल कलंक से संत फ्रांसिस का भी परिचय हुआ, जो पतन के गर्त्त में इतना नीचे गिरा था कि पशुवत् मृत्यु ही उसे बुरी आदतों से मुक्त कर सकी। उसके स्थान पर आदर्श चरित जुआन द पेन्या नियुक्त किए गए।

ऐसे खतरों से घिरे रहने पर भी फ्रांसिस चरित्र भ्रष्ट न हुए। पढ़ाई से अधिक उनका खेलकूद में मन लगता था। ऊँचा कूदने में शायद ही वे अपना

सानी रखते थे। उनके छरहरे, सुडौल शरीर और विलक्षण बुद्धि की धाक पेरिस में जमते देर न लगी। इसके कारण उनकी महत्वांकाक्षा और आत्माभिमान दिनानुदिन बढ़ता ही गया। महान कार्य करने की उनकी बचपन की वह अभिलाषा अब स्वप्नलोक से निकलकर यथार्थ की ओर बढ़ी। उनकी नसों में रईस का खून भरा था। अपने को वह पेरिस के विशाल विद्यार्थी-समुदाय में विलीन कर देना नहीं चाहता था। उनका रहन-सहन रईस का था। सवारी के लिए उनका अपना घोड़ा था और सेवा में मिगुएल लादिवार नामक टहलुआ।

अभी फ्रांसिस का स्वप्न-संसार सुनहली किरणों से रंजित हो ही रहा था कि आँधी का एक अचानक झोंका आया और आकाश बादलों से काला होने लगा। जेवियर गढ़ की आर्थिक स्थिति दिन प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। अतः एक निरे लड़के में, जिसकी शिक्षा-दीक्षा के अभी बहुत वर्ष बाकी थे, इतने पैसे लगाने में उनके अभिभावक हिचकने लगे। फ्रांसिस को पेरिस की चकाचौंध छोड़ने की नौबत आ गई। उनकी उम्र का युवक घर पर रहकर परिस्थिति को काबू में रखने के लिये माता तथा भाइयों की मदद कर सकता था। किन्तु मग्दलेना के हस्तक्षेप ने उमड़ते बादलों को छिन्न-भिन्न कर दिया। उनकी तेज आँखों ने सुदूर भविष्य को देखा, जेवियर कुल की ख्याति फ्रांसिस के पेरिस-जीवन पर ही निर्भर थी। मग्दलेना की जीत हुई और फ्रांसिस का अध्ययन-चक्र अबाध गति से चलता रहा।

घनमाला से आकाश अभी स्वच्छ हो ही रहा था कि दुर्भाग्य के बादल क्षितिज को पुनः काला करने लगे। यह फ्रांसिस की अग्नि परीक्षा थी। दर्शन के अध्ययन का अभी तीसरा वर्ष चल रहा था कि उन्हें जीवन के सबसे कठिन दुःख का सामना करना पड़ा। वह अनाथ हो गए, माता का सत्संग और सहारा सदा के लिये छूट गया। यह दुखद समाचार पाकर उनका हृदय विह्वल हो उठा। मा के रिक्त स्थान को उनके भाइयों ने भरने की चेष्टा की लेकिन भ्रातृप्रेम में माता का वात्सल्य कहाँ मिलता। धीरता और वीरता के साथ उन्होंने अपने नेत्रों से वियोग के आँसू पोंछे और अध्ययन कार्य में दत्तचित्त हो गए।

संतों का साथ

पेरिस में फ्रांसिस का परिचय केवल बदमाशों और पाखंडियों से ही हुआ, ऐसी बात न थी। यदि पाखंडियों ने पवित्र गिरजा का तेजोमय मुख काला करने का प्रयास किया तो उन्हीं देशों में, उन्हीं मातृस्तनों को पीकर सुपुत्रों ने उस माता की प्रेम-शिक्षा तथा पवित्रता का प्रचार अपनी दीनता और आदर्श जीवन से किया। उन्हीं महात्माओं में एक पीटर फावेर भी थे। फावेर का जन्म गरीब घर में हुआ था। उनके विमल चरित्र पर मुग्ध होकर एक उदार आत्मा ने उन्हें अध्ययन के लिए पेरिस भेजा था। पेरिस ही में संयोगवश फ्रांसिस और पीटर की भेंट हुई। दोनों एक ही कोठरी में रहते थे। सत्संग से जनित प्रेम-बंधन अन्त तक बना रह सकता है, इस तथ्य का ज्वलंत उदाहरण पीटर और फ्रांसिस दे गए हैं। हजारों कोस दूर रहकर भी उनका स्नेह-दीप एक रस जलता रहा।

उस समय पेरिस में एक और महात्मा का पदार्पण हुआ। वीर कुलोत्पन्न इनीगो से हम पहले ही परिचित हो चुके हैं। पंप्लूना के दुर्ग की रक्षा करते समय घायल होने पर उनकी रुग्णावस्था बड़ी विचित्रता से बीती। कहाँ स्पेनी सम्राट् के लिए दिग्विजय करने का स्वप्न देखनेवाले इनीगो और कहाँ गीपुज-कोआ के गढ़ में खाट की शरण लेता पंगु, जिसके सामने समय दुर्गम भूखंड के समान फैला हुआ था। एक-एक क्षण उनके लिए एक-एक युग के समान था। समय काटने के लिए उन्होंने वीरों और प्रेमियों की कहानियाँ पढ़ने को माँगीं। किन्तु उस विशाल दुर्ग में वीरों की कहानियाँ और प्रेमियों की प्रणयलीला कहाँ। समूचे गढ़ में खोजने पर केवल दो पुस्तकें मिलीं; रणवीरों की गाथाओं के बदले सच्चे सन्तों की जीवनी और प्रेमालाप के रोमांचकारी वर्णन के बदले सच्चे प्रेमी येसु खीस्त का जीवन चरित्र, जिन्होंने कहा है : "किसी का भी प्रेम इससे बढ़कर नहीं है कि वह अपने मित्रों के लिए अपने प्राण निछावर कर दे। (चो० १५, १३) वर्षों की रात्रि के बाद अब इनीगो का धार्मिक अभ्युदय हुआ। सच्ची वीरता नश्वर नरेश की सेवा में नहीं, किन्तु अनश्वर, अनंत, अदृश्य ईश्वर की अविरल भक्ति में है।

उनकी हृत्तंत्री झंकृत हो उठी, किन्तु उस पर किसी मृदुहासिनी की सुकोमल अंगुलियाँ नहीं खेल रही थीं। यह सच्चे प्रेम, ईश-प्रेम की ललकार थी, सच्ची

वीरता की चुनौती थी और वीर इनीगो का वीर हृदय उछल पड़ा प्राणों की वाजी लगाने के लिए।

स्वास्थ्य-लाभ करने पर भिक्षुक का वाना पहन उन्होंने स्पेन, रोम और येरूसलीम का भ्रमण किया। तपस्या के कारण उनका शरीर दुर्वल और क्षीण हो चला था।

शहर का कोलाहल और गढ़ का विलास त्याग कर उन्होंने एक कन्दरा को अपना निवास वनाया। अनवरत तपस्या और लगातार प्रार्थना के वाद उन्होंने उस विश्व विख्यात पुस्तिका को जन्म दिया जो आज "आध्यात्मिक साधना" के नाम से प्रसिद्ध है। अव उनकी आँखें एक नया संसार देखने लगीं। नई अभिलाषाएँ, नई आकांक्षाएँ, नई लहरें अव उनके हृदय में तरंगित होने लगीं। वे "पुरोहित", दूसरा ख्रीस्त वनना चाहते थे। पर इस लक्ष्य-सिद्धि के लिए उन्हें अपने अभिमान को धूल में मिलाकर प्रेम की वलिवेदी पर होम करना पड़ा। इनीगो के कदम उस वेदी की ओर उठ चुके थे। वे लातिनी भाषा सीखने वारसलोना पहुँचे। तैंतीस वर्ष के युवक के लिए वच्चों के साथ गुरु के चरणों में वैठना, ऐसे कठोर आघात से कोई भी आत्माभिमानी हृदय तिलमिला उठेगा। लेकिन वे अव अखाड़े में उतर चुके थे, और बाजी हारना नहीं जानते थे। इसके बाद उन्होंने अलकला में दर्शन का अध्ययन आरंभ किया।

अंगारों को ईंधन का ढेर कव तक छिपा सकता है। अवकाश पाते ही वे लोगों को धर्मोपदेश देने लगते। फलस्वरूप उन्हें जेल की हवा खानी पड़ी। अलकला में भी धार्मिक (Inquisition) विचारालय का वोलवाला था। शंकित अधिकारियों ने उन्हें नए "सुधारकों" का अनुयायी समझा। न्याय तथा जाँच के वाद इनीगो की शिक्षा निर्दोष और सनातन सिद्ध हुई, किन्तु कैद से रिहा होने पर भी उनके उपदेशों पर कड़ा प्रतिवंध लगा रहा।

---

१. पाखंडियों की विपाक्त शिक्षा के प्रचार के डर से किसी भी अनजान व्यक्ति का प्रचार-कार्य देखकर धर्माधिकारियों के हृदय में शंका उत्पन्न हो जाती।

२. धार्मिक विचारालय अथवा धर्म परीक्षण समिति वह समिति थी जो किसी भी व्यक्ति के धार्मिक विचारों की परीक्षा लेती थी। राज्याधिकारियों का आश्रय पाकर इसका क्षेत्र इतना व्यापक हो गया था कि कोई भी इसके चंगुल से नहीं वच सकता था।

ऐसी हालत में वे अलकला छोड़ कर सालामांका की ओर चले। सालामांका ने उनका स्वागत अलकला के ही समान किया। एक धर्मनिष्ठ, उदार महिला की आर्थिक सहायता से वे सालामांका से लँगड़ाते १५२८ के शुरू में पेरिस पहुँचे। किन्तु एक मित्र की वेईमानी तथा विश्वासघात के कारण उन्हें फिर दूसरों का द्वार खटखटाना पड़ा। पैसे की खोज में उन्होंने वेलजियम और इंगलैंड आदि उत्तरी देशों का भ्रमण किया। इस देशाटन में उन्हें इतने पैसे मिले कि उससे वे दूसरों की भी मदद करने लगे।

उनका अध्ययन फिर शुरू हुआ। प्रतिदिन बड़े सवेरे वे विश्वविद्यालय के एक कालेज में लातिनी भाषा पढ़ने जाया करते थे। उनके पवित्र जीवन के सौरभ को फैलते देर न लगी। विद्यार्थिगण उनकी ओर भौंरों की तरह आकृष्ट होने लगे। यहाँ भी अधिकारियों को उनके अनोखे आचरण पर शंका हुई प्रधानाध्यापक दिओगो दे गोवेया ने उनको कोड़े लगाने की धमकी दी। पर उन्हें भी अन्त को उसी सौरभ से पराभूत होना पड़ा।

पेरिस में इनीगो को, स्पेनी होने के कारण संत वारवरा कालेज में ही जगह मिली और ये फ्रांसिस तथा पीटर के साथ एक ही कोठरी में रहने लगे। फावेर पर तो इनके व्यक्तित्व का जादू चल गया, किन्तु फ्रांसिस अब भी किनारा काटते रहे। यह नवागन्तुक उनकी महत्वाकांक्षाओं के पथ पर बाधा बनकर आया था, ऐसा ही फ्रांसिस को प्रतीत हो रहा था। यह दो वास्क वीरों की मुठभेड़ थी, प्रतिफल में अभी विलंब था।*

---

*१ इनीगो के व्यक्तित्व का असर फ्रांसिस पर भी पड़ा। लेकिन यह युवक हृदय इतनी आसानी से आत्मसमर्पण करने को तैयार न था। यश तथा विलास का स्वप्न देखनेवाले को त्याग और तप से कोई मतलब नहीं होता। फ्रांसिस अपने को इनीगो की अन्तर्भेदी आँखों से बचाकर निकल जाना चाहते थे। लेकिन त्याग और तप भी तो महत्वाकांक्षियों के लिए है। जिस हृदय में उत्साह नहीं, जीवन में कुछ कर जाने की उमंग नहीं वह त्याग और तप के विषय भला क्या सोचेगा। यश-प्राप्ति के लिए भी कठिन त्याग और कठोर से कठोर तप करना पड़ता है। वीर का हृदय सागर के समान होता है जहाँ आँधी उठती है, लहरें एक पर एक चढ़ती हैं और सागर अपने तट पर की चट्टानों को भी समेट लेना चाहता है। फ्रांसिस की भी कुछ यही दशा थी। अन्तर इतना ही था कि उन्होंने निश्चित कर लिया था कि कौन-सी चट्टान वह उखाड़ फेंकेगा।

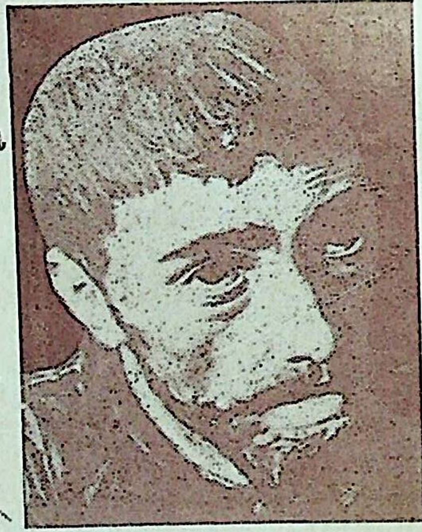
नई दिशा

१५३० का वसंत आया फ्रांसिस और फावेर के गले में जयमाला डालने। इन दोनों तरुणों को पेरिस विश्वविद्यालय की एम० ए० की उपाधि प्राप्त हुई। अव वे अध्यापन कार्य के योग्य मान लिए गए। फ्रांसिस ने अपना अध्यापन दोरमा वोवे नामक कालेज में प्रारंभ किया। आर्थिक संकट से वचने के लिए ये कुछ उपरवार भी पढ़ाते रहे। इनीगो को इस तरुण अध्यापक के प्रति अपनी उदारता प्रकट करने का अच्छा अवसर मिला। वे विद्यार्थियों को फ्रांसिस के पास भेजने लगे। अध्यापन के साथ-साथ फ्रांसिस देवशास्त्र, धर्मविज्ञान का भी अध्ययन करते रहे। उनकी महत्त्वाकांक्षा पौरोहित्य की ओर उन्मुख हो चुकी थी। उन्होंने अपने धर्मप्रान्त पांप्लूना के लिए अपना नाम भी भेज दिया था। यदि कोई जागीर मिल जाय तो सोने में सुगंध आ जाती।

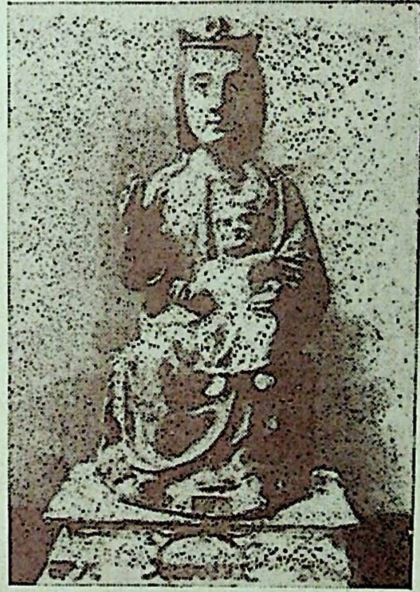
इनीगो की निष्कपट उदारता पर फ्रांसिस धीरे-धीरे मुग्ध होने लगे, किन्तु अंतिम विजय में अभी तीन बरसों की देर थी, अविराम तप, अनवरत प्रार्थना और अवाध उदारता के तीन वर्ष। वीज अच्छी, उपजाऊ भूमि पर गिर चुका था। कालान्तर में वह विशाल वृक्ष का रूप धारण करेगा जिस पर त्याग और प्रेम के फल और फूल लहलहाएँगे।

१५३३ में इनीगो और फ्रांसिस को छोड़कर फावेर सात महीनों के लिए अपनी मातृभूमि सावोय चले गए। जब वे अगले वर्ष लौटे तो पराजित फ्रांसिस इनीगो के चरणों के पास वैठे दीक्षा प्राप्त कर रहे थे। यह प्रेम की विजय थी अभिमान पर, त्याग के सामने विलास पराजित था, महत्त्वाकांक्षा पराजित हो चुकी थी। प्रेम की मशाल वल चुकी थी, कालान्तर में विश्व भर की मशालें इसकी जलती शिखा से प्रज्ज्वलित हो उठेंगी।

इसी १५३३ के वसंत में फ्रांसिस की मठवासिनी वहन मग्दलेना इस संसार से चल वसीं। उन्होंने ही फ्रांसिस के अध्ययन में आनेवाली अड़चन को उखाड़ फेंका था। उनकी पवित्र आँखें शायद दूर भविष्य को देख रही थीं। अपने होनहार भाई की सहायता अव वे स्वर्ग से करेंगी।



संत का प्रथम रूप-साम्य (पृष्ठ १३)



जेवियर गढ़ में मरियम की मूर्त्ति

दूसरा परिच्छेद

जीवन की ज्योति

पन्द्रहवीं अगस्त

संत बारबरा की विद्यार्थि-मंडली में इनीगो का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। कुछ लोगों ने उनका साथ दिया, कुछ तो सान्ध्य समीर के समान कुछ समय के पश्चात् चले गए, लेकिन कुछ सर्वव्यापी वायुमंडल के समान उनकी संगति में स्थायी रह गए। आरंभ में फावेर ही उनकी छोटी टोली के सदस्य थे। तब दो स्पेनियों का पेरिस में आगमन हुआ जो इनीगो के अनोखे जीवन की चर्चा सुनकर उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। युवक दिएगो लाइनेज, जिनके पूर्वजों में कुछ यहूदी भी थे, कुल बाईस वर्ष के थे। दूसरे थे आलफोंस सालमरोन, महज अट्ठारह वर्ष के तरुण। दोनों आगे चलकर येसुसमाज के महारथी होनेवाले थे लाइनेज तो संपूर्ण समाज के प्रधानाध्यक्ष भी। इसके कुछ ही दिनों बाद एक पुर्त्तुगाली युवक सिमोन रोद्रिगेज भी उसमें आ मिले। उस टोली के सातवें सदस्य थे निकोलस अलौंसो जिन्हें लोग बोबाडिल्ला के नाम से पुकारते थे।

येसुसमाज के इतिहास में सन् १५३४ बड़ा महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इस वर्ष इनीगो को एम० ए० की उपाधि मिली और फावेर भावी धर्मसमाज के प्रथम पुरोहित अभिषिक्त हुए। इसी वर्ष ये सुसमाज की नींव की पहली ईंट जोड़ी गई, यद्यपि उसके निर्माणकर्त्ता और प्रथम सदस्य इस तथ्य से बिलकुल अनभिज्ञ थे। फ्रांसिस का मन सांसारिक प्रतिष्ठा और मान से उचटने लगा। प्रार्थना और तप उन्हें विनय और दीनता के पथ पर अग्रसर करा रहे थे। कुछ ही वर्ष पूर्व का महत्त्वाकांक्षी युवक अब अपनी अभिलाषाओं और मधुर स्वप्नों पर लात मारकर भक्ति का जीवन-यापन करने को उतावला हो रहा था। अब मानों नींद से उसकी आँखें खुली थीं। अध्यापक का पद अब उसे खोखला लग रहा था। उस खोखलेपन में गूंजती, भयावह आवाज से उसका हृदय काँप उठता। अध्यापक

के पद को छोड़ किसी अमूल्य रत्न की खोज में निकल जाने को वह विह्वल हो उठा। किन्तु यह एक युवक हृदय का आवेग था। प्रार्थना और तप के लिए भी भोजन वस्त्र की आवश्यकता होती हैं। उसके साथियों ने अपने तर्कपूर्ण अनुरोध से उसके आवेग को शान्त किया। उस वर्ष फ्रांसिस के अन्य साथियों ने इनीगो के निर्देशन में उस ख्यातिलब्ध "आध्यात्मिक साधना" के द्वारा सिद्धि की ओर ठोस कदम उठाया, तीस दिनों की अटूट प्रार्थना-शृंखला, तीस दिनों का कठिन तप, उपवास, मौन और एकान्त व्रत। अध्यापन के कार्य में उलझे रहने के कारण फ्रांसिस अपने साथियों के समान इस अवसर से लाभ न उठा सके। उनकी तृष्णा अशान्त ही रही। उन्हें कुछ दिन और ठहरना पड़ेगा, इनीगो की यही राय थी।

इनीगो और उनके साथी देवशास्त्र का अध्ययन करते गए। इस अध्ययन के बिना पुरोहित का पद प्राप्त करना कभी संभव नहीं रहा। अवकाश के समय वे बराबर मिलते रहते। इन गोष्ठियों में वे अपनी नई अवस्था पर विचार विमर्श करते तथा अपने नए कार्य में एक दूसरे को प्रोत्साहन देते। ऐसी ही एक गोष्ठी में एक बार प्रस्तावित हुआ कि वे व्रत द्वारा ईश्वर की महिमा और लोक-सेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य माने। यह महान कार्य बिना ब्रह्मचर्य के पूरा नहीं हो सकता हैं। अतः उन्हें वैवाहिक जीवन को तिलांजलि देनी होगी और चूँकि धन-वैभव के कारण ही मनुष्य कर्त्तव्य से विमुख हो जाता हैं, विद्यार्थी जीवन के बाद इस बंधन से भी अपने को मुक्त कर देना होगा। धन-जाल को काटकर ही कोई ईश्वर तक पहुँच सकता है। तथा अपने भाइयों की सेवा में अडिग रह सकता हैं।

तीर्थ की विफल कामना

उस युग की परंपरा के अनुसार इन धर्मवीरों के हृदय में भी अपने प्रभु के प्रति निष्ठा और वफादारी दिखाने के लिए उस पावन भूमि के दर्शन करने की लालसा जाग उठी, जिसे येसुने अपने श्रीचरणों से पवित्र किया था। तीर्थराज येरूसलीम जाना उस समय कोई आसान काम नहीं था। रास्ते की कठिनाइयाँ और पहुँच जाने पर जान के खतरे हृदय को कुछ दहला तो अवश्य देते थे, लेकिन साथ-साथ उसे आकृष्ट भी करते रहते थे। इनीगो ने स्वयं यह तीर्थ किया था।

उनके साथियों को यह मालूम था। लेकिन येरूसलीम केवल तीर्थ के लिए ही जाना होगा या वहाँ रहकर खतरों का सामना कर, लोक हित का व्रत ले उस प्रदेश के निवासी तुर्कों के बीच प्रभु येसु की अमर शिक्षा का प्रचार करना भी उनके व्रत का भाग होगा, इस पर बहुत वाद-विवाद हुआ।

अन्त में सर्वमत से निश्चित हुआ येरूसलीम जाकर धर्म प्रचार करना ही। व्रत तो निश्चित हो गए लेकिन तीसरे के पालन में कुछ अड़चनें थीं। क्या उस समय पवित्र भूमि की यात्रा करना संभव था जब युद्ध के काले बादल क्षितिज में उमड़ते दीख रहे थे; जब रणभेरी की प्रतिध्वनि कानों तक पहुँच रही थी, जब किसी भी क्षण विस्फोट हो सकता था। राय हुई कि यदि युद्ध छिड़ गया तो वेनिस में एक वर्ष तक इन्तजार किया जाय। और इस अवधि के बाद भी तीर्थ का कोई उपाय नजर न आए तो सातों व्रतधारी अपने आपको संत पिता के चरणों में समर्पित कर देंगे किसी भी काम के लिए, किसी भी काल तक, और किसी भी स्थान में।

येसुसमाज का बीजारोपण

इस निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद एक दिन प्रातःकाल वे पेरिस नगरी के कोलाहल से कुछ दूर मोमात्र "शहीद गिरि" नामक एक छोटी पहाड़ी पर पहुँचे। एक पीटर फावेर ही उनमें पुरोहित थे। फावेर ने पूज्य खीस्तयाग चढ़ाया और सातों ने प्रभु की अमर त्याग की यादगारी में विलास से दूर रहने, ऐश्वर्य का त्याग करने तथा तीर्थ जाने के व्रत ले लिए; फिर भी अब तक एक नए धर्म-समाज की स्थापना की बात उन सातों में से किसी के मन में नहीं आई थी।

फिर भी यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि शहीद गिरि पर लिया व्रत ये सुसमाज का बीज था जिसे केवल अंतर्यामी ईश्वर ही जानते थे। वह इन सात महारथियों के अथम श्रम, अमूल्य त्याग तथा अदम्य उत्साह और प्रभुवर येसु के प्रतिनिधि संत पिता के वरद आशीर्वाद पाकर बढ़नेवाला था, वह बढ़कर विश्व भर में फैलेगा जिसकी स्निग्ध छाया में युगों से भटकते क्लान्त राही सत्य को पाकर अपने को कृतार्थ समझेंगे, जो खीस्त की निधि की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगाने को तत्पर रहेगा, जो खीस्त के प्रतिनिधि के सम्मान में पलक

पाँवड़े बिछाए रहेगा। लेकिन यह तो भविष्य की बात थी जो उन सातों में से किसी के मन में अब तक उठ भी नहीं पाई थी, यद्यपि लगभग इसी समय फ्रांसिस ने एक विचित्र सपना देखा था। न जाने वे कैसे पवित्र भूमि पहुँच गए थे। खीस्त के संदेश के प्रचार के लिए वे इतने आतुर थे कि मौका न मिलने के कारण वे एक तुर्क बालक को खीस्त की निधि का भागी बनाने के लिए अपने कंधों पर लिए भागे जा रहे थे।

संदेह नहीं कि इस स्वप्न में येरूसलीम के तुर्कों के बीच धर्मप्रचार करने की लालसा छिपी हुई थी, लेकिन इसमें यदि भावी धर्मसमाज के कार्यकलाप का आभास देखा जाय तो कोई आपत्ति नहीं। फिर भी इसका ज्ञान उनमें से किसी को नहीं था। फ्रांसिस को भी पूर्वाभास नहीं था कि वह इस धर्मसमाज के सुयोग्य पुत्र कहलाएँगे और सुदूर पूर्व में अपने बंधुओं से अलग, तब भी उनके प्रेमपाश में ग्रथित, प्रभुवर के सुसंवाद सुनाने के लिए अपने प्राण त्यागेंगे, कि विश्व भर के खीस्त श्रमिक उनको अपना संरक्षक और आदर्श स्वीकार करें। लेकिन वह रास्ता लंबा और कंटकाकीर्ण होगा। स्वर्ग का रास्ता सचमुच कितना संकीर्ण है।

तपस्या का ताप

सितंबर की छुट्टियों में फ्रांसिस को भी आध्यात्मिक साधना करने का अवसर मिला। सूने घर में, संगी-साथियों से अलग, ईश्वर के आलाप में विभोर, दुनिया के भोग-विलास, ऐश-आराम, पद-प्रतिष्ठा से वे युद्ध करते रहे। चालीस दिनों तक अविरल तप और प्रार्थना में निरत रहे। कुशल सेनानी इनीगो के ही निर्देशन में यह घोर युद्ध चलता रहा। दिन तो ध्यान-चिन्तन में बीत जाता और रात आती तो पेट की ज्वाला अशान्त ही रह जाती, हृदय की प्रेम-लपट में विलास और अभिमान का मैल क्षार-क्षार होने लगा। लपट हरएक क्षण ऊँची ही उठती जाती थी। तपस्या के ताप में एक समय का मांसल शरीर जर्जर होने लगा।

फ्रांसिस के लिए यह आध्यात्मिक साधना अतीत के अभिमान का प्रायश्चित्त एवं भावी कार्यक्रम की तैयारी थी। संयम के सामने विवेक को भी सिर झुका देना पड़ा। फ्रांसिस ने अपने अंगों को रस्सी से इस तरह जकड़ दिया था कि रस्सी

मांस में धंस गई। सूजन इतनी थी कि रस्सी काटी भी नहीं जा सकती थी, हाथ काट डालने के सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं था। सबों ने प्रार्थना का सहारा लिया। "जो कुछ मेरे नाम से तुम माँगोगे वह तुम्हें मिलेगा" की सत्यता की यह अग्नि परीक्षा थी। दो दिनों की असह्य वेदना के बाद रस्सी आप से आप टूट गई। हाथ उसी समय स्वस्थ हो गया, आगे उसकी आवश्यकता जो थी।

इनीगो का प्रस्थान

इधर इनीगो का स्वास्थ्य भी गिरता ही जा रहा था। सुधार की आशा न देख चिकित्सकों ने उन्हें आबहवा की बदली के लिए अपनी मातृभूमि जाने का आदेश दिया। इस अवसर पर फ्रांसिस ने अपने भाई, जेवियर स्वामी जुवान के नाम एक पत्र लिखा। यह पत्र लिखने के अनेक कारण थे। एक तो फ्रांसिस की जेब खाली हो रही थी, दूसरे यदि महात्मा इनीगो का सत्संग जुवान को भी प्राप्त होता तो जेवियर कुल के स्वर्णागार में सुगंध आ जाती। इसके अलावा एक तीसरा भी कारण था जो सबों में प्रमुख जान पड़ता है, फ्रांसिस अपने विषय में जुवान का संदेह निवारण करना चाहते थे।

किसी ने पीठ पीछे फ्रांसिस की निन्दा की थी, जिसकी भनक उन्हें मिल गई थी। इस झूठे दोषारोपण से उनकी स्पेनी नसों में प्रतिशोध का गर्म खून दौड़ने लगा, आवेश में आकर उन्होंने उस दंभी आलोचक को मनगढ़ंत आक्षेप को प्रमाणित करने के लिए ललकारा। पत्र का स्वर कर्कश अवश्य है, तब भी उसकी प्रत्येक पंक्ति भ्रातृप्रेम और आदर से सराबोर थी। इनीगो की उदारता का बखान करते हुए उन्होंने लिखा : "मैं सौगंध लेकर कहता हूँ, उन्होंने जो मेरी सहायता की है, अपनी मित्रता द्वारा जिस बुरी संगति से मेरा उद्धार किया है जिसे मैं अनुभव के अभाव के कारण पहचान न पाया था, उनके ऋण से मैं कदापि मुक्त नहीं हो सकूँगा। अतः मैं आपके बड़प्पन की दुहाई देता हूँ कि आप उनका स्वागत करें.....मैं आपसे करबद्ध निवेदन करता हूँ कि आप उनसे संलाप करना और उनकी सलाह लेना न भूलें तथा उनके आदेशों पर विश्वास करें। मेरी बातों पर यकीन करिए, उनके सलाह और मशविरे आपके लिए बड़े लाभप्रद होंगे।......आप यदि अपनी उदारता के कारण मेरे संकट को दूर करने के

लिए कुछ भेजना चाहें तो वह भी श्री इनीगो के हाथ सौंप दें।.....आपका

विश्वस्त सेवक और अनुज, फ्रांसिस जेवियर।

मार्च २८, १५३५ को इनीगो ने पेरिस से प्रस्थान किया। अंतिम वार वे उस सुन्दर नगरी को प्रणाम कर रहे थे। उनके जाने के पूर्व सभी वंधुओं ने पूर्ण निश्चय कर लिया था कि १५३७ की जनवरी की पांचवीं तारीख को वे सव इनीगो से वेनिस में मिलने के लिए पेरिस छोड़ देंगे। और वहाँ पहुँच कर पवित्र भूमि की यात्रा के प्रवंध में लग जाएँगे। तव तक देवशास्त्र का अध्ययन भी समाप्त हो चुका रहेगा, यद्यपि डाक्टर की उपाधि प्राप्त न हुई रहेगी।

इनीगो के प्रस्थान के वाद मंडली के सदस्यों की संख्या वढ़ने लगी। १५३६ में तीन फ्रांसिसी विद्यार्थियों को फावर ने भर्त्ती किया : क्लोंद ल जे, पास्काज ब्रोए और वां कोदचूर। इनमें से पहले दो पुरोहित अभिषिक्त हो चुके थे। प्रथम व्रत के ठीक दो वर्ष वाद, जव सव वंधु व्रत दुहराने को जमा हुए तो उनकी संख्या इनीगो को छोड़कर अव तक नव तक पहुँच चुकी थी। सभों ने भक्ति और और श्रद्धा से त्याग और प्रेम के वे व्रत दुहराए। यह तीसरी वर्षगाँठ थी, पन्द्रह अगस्त की।

पवित्र भूमि की ओर

इनीगो के प्रस्थान के वाद मंडली के संचालन की वागडोर फावेर के ही हाथों में थी। टोली के कार्यक्रम में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया। पहले जैसा ही वे देवशास्त्र का अध्ययन करते रहे। प्रति दिन सवेरे उठते ही वे ध्यान-चिन्तन करते। और दिन भर के अध्ययन और लोकसेवा से थके शरीर को अन्तः परीक्षण के पहले आराम न देते। व्यस्त कार्यक्रम रहने पर भी आत्मा में चिरशान्ति विराजमान थी। किन्तु यह शान्तिमय कार्यक्रम अधिक समय तक न चल सका। अपने निस्स्वार्थ त्याग और तत्पर सेवा द्वारा स्पेन में इनीगो ईश्वर के प्रेम के प्रचार में लगे थे, लेकिन युद्ध के दुंदुभ वज उठे।

इस युद्ध का भी वही कारण था जो अनादि काल से अन्य युद्धों का होता आ रहा है। इटली के उत्तरी भाग पर स्पेन और फ्रांस दोनों की गृद्ध दृष्टि लगी थी। दोनों के लिए यह भूभाग महत्त्वपूर्ण था, राज्य-विस्तार की दृष्टि से। भूमध्य-

सागर के बन्दरगाहों तक रास्ता निकालने के विचार से इसी भूखंड को लेकर इन दो नरेशों में झगड़ा बहुत दिनों से चला आ रहा था। पहला विस्फोट १५२० में हुआ था। अब १६ वर्षों के बाद फिर स्पेन के पंचम चार्ल्स और फ्रांस के प्रथम फ्रांसिस की सेनाएँ तैनात की गईं, एक दूसरे के गले पर तलवार का सान आजमाने के लिए, एक दूसरे के खून से पृथ्वी की प्यास मिटाने के लिए।

विष की यह अविरल धारा सैनिक वर्ग तक ही सीमित नहीं थी, जन साधारण भी उचित-अनुचित का ध्यान न कर, विदेशों में अपने-अपने देश का पक्ष लेने से बाज नहीं आते। पेरिस के विद्यागार की भी यही बात थी। विद्यार्थी भी विद्या माता का दामन छोड़ रणचंडी की तलवार सहपाठियों के रक्त से रंजित करने के लिए व्याकुल हो उठते। पेरिस के विद्यामंदिर में फ्रांसिसियों को छोड़ स्पेनी पुजारियों का गुजारा होना कठिन था।

इनीगो की टोली में स्पेनियों की संख्या अधिक थी। यद्यपि इस मंडली का हरएक सदस्य परस्पर प्रेम के प्रबल पाश में बँधा था; बाहर से इस नवजात संस्था पर आघात होने का डर था। फाबेर ने देखा कि पेरिस में अधिक दिन रहना खतरे से खेलना है। विद्रोह की भट्ठी के पास विलम्ब करना वीरता नहीं मूर्खता होगी। और इनीगो के साथी तो शान्ति के अभिलाषी थे, युद्ध के नहीं, वे मित्रता करना जानते थे, घृणा नहीं। अब फ्रांसिस और उनके साथियों के सामने एक ही रास्ता रह गया था पेरिस से अविलम्ब कूच करना। उन्हें अपनी पूर्व निर्धारित योजना में संशोधन करना पड़ा। थोड़े बहुत जो उनके पास सामान थे, उसको बेच, जो भी रकम हाथ लगी उससे दरिद्र नारायण की सेवा उन्होंने की, और मुसाफिर का लठ्ठ हाथ में ले १५३७ की जनवरी के पहले ही पेरिस से चल पड़े।

माया-जाल

भविष्य के सुनहले चित्र को ऐसी निर्ममता से मिटते देखकर संसार ने एक बार फिर फ्रांसिस पर अपना माया-जाल फेंका, यश तथा विलास का। पाँच वर्ष पूर्व महत्त्वाकांक्षी फ्रांसिस ने स्पेन के राजा के यहाँ अपनी वंशागत कुलीनता के प्रमाणपत्र के लिए दरखास्त दिया था। अपने भाई जुवान से भी उन्होंने इसके

लिए अनुरोध किया था। किन्तु बहुत दिनों तक जुवान के कानों में जूँ तक नहीं रेंगी। अब शायद अपने अनुज के विचित्र आचरण की चर्चा सुनकर उनकी आँखें खुलीं।

भाई के नए विचारों से घवड़ा कर वे जेवियर कुलोत्पन्न फ्रांसिस का नाम स्पेन के कुलीनों में लिखाने में सफल हुए। फ्रांसिस को पंप्लूना के पुरोहित वर्ग में भी स्थान मिल गया। सफलता अपनी जादूभरी मुस्कुराहट विखेरने लगी। अब मानों स्वर्गीय मग्दलेना की भविष्यवाणी चरितार्थ होने लगी, यह लड़का अपने कुल का नाम उज्ज्वल करेगा। किन्तु इस मोहक मुस्कान का जादू अब फ्रांसिस पर चल न पाया। उनके पग आगे उठ चुके थे और पीछे मुड़कर देखने की कोई वात न थी। वह स्वजनों से विदा हो चुके थे, अव उनकी अश्रु-वर्षा से विचलित होनेवाले नहीं थे। ज्ञान और शालीनता की माँग पूरी करने के लिए उन्होंने अपने सहायकों तथा हितैषियों के नाम धन्यवाद के पत्र लिखे और उनकी सेवा अब स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। समय चक्र वहुत आगे निकल चुका था।

नहरों की नगरी

पेरिस से यह छोटी टोली निकली तीर्थयात्रियों के वेष में, लम्बा बाना, गले में माला, पीठ पर झोली जिसमें प्रायः पुस्तकें ही थीं : धर्मग्रंथ, आह्निका (ब्रिवियरी) राह के लिए कुछ कपड़े और हाथ में लाठी, यात्रियों का प्रतीक। युद्ध के कारण फ्रांस के दक्षिण पूर्वी सीमान्तर प्रदेश, सावोय से होकर सीधे वेनिस जाना खतरनाक था। अतः उस अपेक्षाकृत सुगम रास्ते को छोड़, उन्हें फ्रांस के उत्तरी-पूर्वी प्रदेश लोरेन से होकर और आल्प्स को लाँघकर इटली का रास्ता पकड़ना पड़ा। वर्षा और वर्फ में यह पैदल यात्रा करना आपदाओं से खाली न था। तौभी यही मौसम उस टोली के भाग्य में वदा था।

लेकिन उस यूरोपीय नवम्बर की हड़कंप सर्दी में भी उनको विशेष आनंद मिलता था। वेनिस पहुंचकर इनीगो से मिलने की आशा उनका उत्साह तथा हर्ष उत्तेजित कर रही थी। यात्रा लंबी और विपदाओं से भरी थी। शाम को वे किसी सराय में टिक जाते और अपनी जेव के पैसे के अनुसार भूख मिटाने को

भोजन और रात काटने को आश्रय माँगते। सराय में उनको दूसरे यात्रियों के साथ ठहरना पड़ता। अलग कोठरी के लिए पैसे कहां थे। अन्य यात्री उनके समान नहीं थे, वे दुनिया के अरमान छोड़कर ईश्वर पर अपने को कुर्बान करने नहीं निकले थे। उनके हो-हल्ला और गंदे मजाकों तथा अश्लील गानों में ही इन भक्तों को अपनी प्रार्थना के लिए कुछ समय किसी प्रकार निकालना पड़ता था।

दिन भर की थकावट उनकी सहायता करती, उस शोरगुल में भी चैन की नींद उनका साथ नहीं छोड़ती। बड़े तड़के वे उठते, तीन पुरोहित मिस्सा का बलिदान चढ़ाते, दूसरे उनमें परमप्रसाद ग्रहण करते। फिर एक नया दिन उनके सामने आता। पिछले दिनों की भांति प्रार्थना, ध्यान, चिन्तन, भजन और आध्यात्मिक वार्त्तालाप में दिन भर का रास्ता तय हो जाता। वे स्वभावतः कभी इनीगो के विषय अटकलवाजी करते, तो कभी अपनी येरूसलीम यात्रा का काल्पनिक आनंद लेते। सूर्य डूवते डूवते वे किसी सराय पर पहुंचते और पिछली रात की तरह ठंढ और निद्रा से अपनी थकावट मिटाते।

कुछ दिनों की यात्रा के वाद फ्रांसिस और उनका दल फ्रांस की सीमा पार कर तटस्थ लोरेन में पहुंचे। यह प्रदेश सैनिकों से खचाखच भरा था। सभी आगंतुक वहां शंका की दृष्टि से देखे जाते। अतः किसी भी अपरिचित चेहरे को देखते ही उस पर प्रश्नों की वौछार शुरू हो जाती। जव कोई इनकी यात्रा के विषय पूछता तो ये अपने को सुप्रसिद्ध संत निकोलस नामक तीर्थ जानेवाले यात्री वतलाते। समयानुकूल उनकी वोली स्पेनी या फ्रांसिसी हो जाती। मेत्स नामक शहर में तीन दिनों तक रहकर उन्होंने नान्सी नगर में संत निकोलस के गिरजाघर के दर्शन किए।

यूरोप में केवल राजनीतिक नहीं, धार्मिक क्षेत्र में भी तहलका मचा हुआ था। उस महादेश की ख्रीस्तीय जनता बड़ी तीव्र गति से दो भागों में वंटी जा रही थी। "सुधारकों" की चिकनी-चुपड़ी बातों में भोलेभाले लोग अवोध वालकों के समान भुले जा रहे थे। लूथर का विभेद विष की तरह फैलता जा रहा था। जर्मनी और स्विट्ज़रलैंड प्रोटेस्टंटों के कब्जे में आ चुके थे। सुधारकों के एक नायक काल्विन ने भी अपने विद्रोही मत का प्रचार आरंभ कर दिया था। विश्वस्त

ख्रीस्तीय अपनी सुरक्षा के विफल प्रयास में संलग्न थे। रक्त प्रवाह में पड़े विष को रोकना असंभव नहीं तो कठिनतम अवश्य होता है। इन विभेदकों से फ्रांसिस और उनके साथियों का साक्षात्कार करना पड़ा। इनके आतंक से तो कहीं कहीं इन यात्रियों की जान पर भी खतरा आ पहुंचता। बआल शहर में वे तीन दिन ठहरे। वहाँ की विषाक्त आवहवा देखकर उनका हृदय अवश्य मसोस उठा होगा। यह वही बआल था जहाँ कुछ ही वर्ष पूर्व ख्रीस्तीय सिद्धान्त की शुद्ध वायु हर क्षण बहा करती थी, जिसे पवित्र माता, रोमी गिरजा का प्रेमामृत प्राप्त था। एक ही वर्ष पहले विभेदक काल्विन के पैर वहाँ पड़े थे, और एक ही वर्ष के अन्दर हतभागा बआल विभेदकों की कठोर जंजीरों में जकड़ा जा चुका था। अब वहाँ काथलिक गिरजा नाममात्र को भी न रह गयी थी।

ये नए मत इतने सुन्दर और आकर्षक मालूम पड़ते थे कि भोली भाली जनता की कौन कहे, एक भूले-भटके पुरोहित से स्विटरलैंड के कौंस्टांस नगर में फ्रांसिस और उनके साथियों का पाला पड़ गया। पेरिस के उपाधि प्राप्त विद्यार्थियों के लिए उसे सही रास्ता दिखाना कठिन नहीं था। लेकिन अपने को तर्क में हारते देख उस बेचारे ने नगर के अन्य विभेदक अधिकारियों की मदद माँगी। कारागार का दरवाजा नन्ही टोली के सामने खुला था। विवेक ने उनके पैरों को बल दिया और वे नगर छोड़कर वहां से चलते बने। सामने यूरोप की पर्वतमाला आल्पस था, जिस पर बारह मास बर्फ जमी रहती है। इन बर्फानी पहाड़ों को पार कर टोली तिरोल होती हुई इटली पहुंची। अब तक विभेद का काला तूफान इटली के निर्मल, स्वच्छ, आकाश को न छू पाया था। आठ हफ्तों की कठिन यात्रा के बाद छठी जनवरी १५३७ को उन्होंने वेनिस की जलमग्न सड़कों पर कदम रक्खे। आठ तारीख को उनकी भेंट इनीगो से होनेवाली थी। उनके हर्षोन्माद का पारावार न रहा।

नहरों की नगरी में अब काम की कमी न थी। वेनिस सुन्दर अवश्य है पर स्वर्ग नहीं और न उसने स्वर्ग होने का कभी दावा ही किया है। इस दुखभरे संसार को स्वर्ग समझना या किसी दिन उसको स्वर्ग में परिणत कर देने का स्वप्न देखना भ्रम छोड़ और क्या हो सकता है। यहाँ के सौंदर्य में भी कुरूपता है, इसके आनंद में विषाद का आभास। वेनिश जैसी मनोरम नगरी में भी यही

वात थी। सुन्दर स्वच्छ नहरों के नयनाभिराम दृश्य पर भी अपाहिजों तथा रोगियों के हृदयविदारक चीत्कार मंडरा रहे थे। इन वेचारों की सेवा के लिए नगर में दो अस्पताल थे, लेकिन रोगियों की संख्या इतनी अधिक थी कि उनकी सेवा-शुश्रूषा की कमी दूर नहीं हो पाती।

फ्रांसिस और उनके साथियों की उदारता को यहां खुला मैदान मिला। उनमें से कुछेक ने सान्ते जिओवान्नी में डेरा डाला। फ्रांसिस के हिस्से में "इनकुराविली" पड़ा। इसके नाम से ही इसकी विशेषता प्रगट हो जाती है। इस अस्पताल में वे ही मरीज भर्त्ती किए जाते जिनके स्वस्थ होने की कोई आशा न रहती। ऐसा मनभावन क्षेत्र पा सवके सव अविलंव अपने नए कार्य में लग गए। उस महातीर्थ की यह विलकुल उपयुक्त तैयारी थी जहां अनाथों के नाथ, निराश्रयों की शरण, निराशों की आशा प्रभुवर ख्रीस्त ने अंधों को आंखें दी थीं, लूलों को हाथ और वहरों को कान। जिन्होंने भूखों को रोटी दी थी और पापियों के उद्धार के लिए अपने प्राण, जिनके विषय में कहा गया है "वे भलाई करते फिरे।"

रोगियों की सेवा में

इस इनकुराविली अस्पताल में फ्रांसिस रोगियों के विस्तरे लगाते, उनके कपड़े साफ करते, वरतन मलते, फर्श पोंछते और रात दिन उन अपाहिजों की टहल में लगे रहते। वह कभी किसी ज्वरग्रस्त को सुलाने की कोशिश करते, तो कभी किसी को भोजन के लिए वैठाते। किसी को नहलाते। अन्त तक वे मरीजों का साथ देते। मृत्यु जव उनके द्वार खटखटाती तो उस भयानक अतिथि का स्वागत करने के लिए उन्हें दृढ़ करते और जव वे रोग से सदा के लिए मुक्त हो जाते, तो अपने हाथों खोदी कब्र में उन्हें दफना कर पुनरुत्थान के इन्तजार में, अपनी धरोहर धरती-माता को सौंप देते।

रोगियों तथा असहायों का मल-मूत्र साफ करना, उनके सड़ते घावों को धोकर मरहम-पट्टी करना कोई आसान काम नहीं है। कम से कम फ्रांसिस जैसे स्वाभिमानी को ऐसा करने के लिए असाधारण वीरता की जरूरत पड़ती। एक बार वे किसी मरीज की सेवा में तन्मय थे। पास ही एक दूसरे मरीज ने आवाज लगाई, "भाई, जरा मेरी पीठ सहला दो।" उसकी पीठ पर नजर डालते ही

फ्रांसिस ने अपनी आँखें फिरा लीं। वह किसी मनुष्य की पीठ थी या कोई सड़ती लाश। उनका चित्त घृणा से मितला उठा। सहायता के लिए उठा हाथ कांप कर वगल में गिर गया, कहीं बीमारी न लग जाय। घिनौनी चीजों से मनुष्य स्वभावतः दूर भागता है।

किन्तु ऐसी प्रकृति को पराजित करने पर ही मनुष्यता तपे सोने की भांति चमक उठती हैं। फ्रांसिस उस बेचारे मरीज के पास गए। अपनी उंगलियों को उसकी पीठ से लगाया और सड़ते घाव से पीब निकालकर अपने मुंह में डाल लिया। यह फ्रांसिस की अतुल आत्म-विजय थी। सुख तथा सौंदर्य का चिर उपासक मानव स्वभाव उनके पैरों तले पराजित पड़ा था। शुरू की घृणा सदा के लिए चली गई। और बीमारी ने उन्हें छुआ तक नहीं। रात को उन्हें स्वप्न में ऐसा जान पड़ा कि उनके गले में वह बीमारी अटकी रह गई है और लाख चेष्टाएं करने पर भी उसे खाँस कर वह नहीं निकाल सके।

रोम के लिए प्रस्थान

वेनिस के अस्पतालों में दो महीनों तक सेवा-टहल करने के बाद ये तीर्थयात्री तत्कालीन प्रथा के अनुसार, संत पिता की आशिष प्राप्त करने रोम चले। लेकिन इनीगो इनके साथ न जा सके। उनके हृदय में शंका थी कि कहीं उनका वना-वनाया काम विगड़ न जाए। उस वक्त पवित्र नगरी में दो सुप्रसिद्ध व्यक्तियों का निवास था: कार्दिनल जिआन पिएर कराफा और स्पेनी राजा के संदेशवाहक डाक्टर पेद्रो ओर्तित्जा। यदि रोम में इन दोनों से भेंट हो जाती तो शायद वर्षों का परिश्रम मिट्टी में मिल जाता। कार्दिनल कराफा से पहले ही वेनिस में कुछ अनबन हो गई थी और इनीगो के अनूठे जीवन से ओर्तित्जा पेरिस से ही परिचित थे। उनकी कटुता का स्वाद इनीगो पहले ही चख चुके थे। किन्तु ईश्वर की कृपा से आगे चलकर ये दोनों इनीगो के शुभचिन्तक सिद्ध हुए।

वेनिस से तीन दिनों की दूरी पर रावेन्ना नगर रोम के रास्ते में पड़ता है। रास्ते भर उन्हें वर्षा और वर्फ का मुकावला करना पड़ा, देवदारु के बीज खाकर उन्हें पेट की ज्वाला शान्त करनी पड़ी। वे रावेन्ना से अनकोना जहाज से गए, किन्तु किराए के पैसे उनके पास न थे। जहाज से उतर कर अपनी आह्निका

गिरवी रख वे भिक्षा मांगने निकले। अनकोना से वे पैदल चल लोरेत्तो होते हुए, इटली का पहाड़ी मेरुदंड लांघ कर, अन्त में रोम पहुंचे। १५३७ का वह पवित्र सप्ताह था, प्रभु येसु के दुःखभोग के स्मरण-दिवस।

पवित्र नगरी में उनकी भेंट आखिर डाक्टर ओर्तित्जा से हो ही गई। पेरिस का खूँखार शेर अब विनम्र और दीन मेमना बन गया था। उन्हीं की सिफारिश से तीसरी अप्रैल को संत पिता तृतीय पौल के दर्शन का प्रबंध हुआ। इन आगंतुकों की विद्वतापूर्ण संलाप से प्रभावित होकर सन्त पिता ने उन्हें अपने भोजन के समय वादविवाद के लिए आमन्त्रित किया। संत पिता को इससे बड़ी खुशी हुई। उन्होंने प्रसन्न हो उनको पुरोहिताभिषेक की अनुमति ही न दी, साथ-साथ अपने निजी कोश से उनकी यात्रा के लिए धन भी दिया। वेनिस लौटने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि येरूसलीम जाना उनके लिए दिन-दिन कठिन होता जा रहा है।

अभिषेक

संत पिता द्वारा दिए पैसों से उन्होंने गरीबों की सेवा की। उनमें जो अब तक पुरोहित अभिषिक्त नहीं हुए थे, वे उस महान दिवस की तैयारी में जुट गए। २४ जून १५३७ को इनीगो, फ्रांसिस आदि का पुरोहिताभिषेक सम्पन्न हुआ। अभिषेक के तुरंत बाद वे कोलाहल से दूर, प्रार्थना में चालीस दिन व्यतीत करने के लिए तितर-बितर हो गए। वेनिस से प्रस्थान करने के कुछ ही दिन पहले फ्रांसिस ने एक अपूर्व स्वप्न देखा, जिसमें उनके भावी जीवन का आभास मिलता है। वे भारत में थे, एक भारतीय युवक को अपने कंधे पर ढोए जा रहे थे, भार से परेशान होने पर अनायास उनके मुंह से निकल पड़ा, "हे येसु, मैं कितना दबा और थका हूं।"

फ्रांसिस और सालमरोन एकान्त के लिए मनसेलिस नामक गाँव के बाहर एक झोपड़े में रहने लगे। आवश्यकता के अनुसार वे गाँव में भिक्षा मांगने जाते। चालीस दिन बीत जाने पर सब विन्सेंजा नामक शहर में एकत्रित हुए। यहां इनीगो को छोड़ सभी नवअभिषिक्त पुरोहितों ने अपना प्रथम मिस्सा का बलिदान चढ़ाया। इनीगो अब भी बेतलेहेम जाने की आशा में थे। इसी

विसेन्जा में फ्रांसिस को सन्त जेरम के अलौकिक दर्शन हुए। इस महान सन्त ने भावी सन्त के आगामी कार्यक्रम का उल्लेख भी किया और वोलोन्या नगर में जिन कष्टों का सामना करना पड़ेगा, उनके भी संकेत दिए।

ज्यों ज्यों काल पंछी अपने डैने फड़फड़ाते उड़ता आता था, इनीगो और उनके साथियों पर स्पष्ट होता गया कि पवित्र भूमि जाने का उनका दिव्य स्वप्न अधूरा ही रह जाएगा। अब उन्हें अपनी चिर प्यारी अभिलाषा को त्यागना पड़ा। पेरिस में लिए व्रत के अनुसार प्रतीक्षा की अवधि भी समाप्त हो रही थी। १५३८ की छठी जनवरी को उनके वेनिस आए एक वर्ष हो गया। अब उन्होंने इटली में ही जनसेवा करना निश्चित किया। इस अभिप्राय से वे सब विभिन्न विश्वविद्यालयों में अध्ययन कार्य के लिए बंट गए। इनीगो, फावेर और लाइनेज रोम की ओर चले। फ्रांसिस और वावाडिल्ला ने वोलोन्या की ओर कदम उठाया। अब तक उनमें से किसी में भी नया धर्मसमाज स्थापित करने का विचार उत्पन्न नहीं हुआ था। फिर भी अपनी टोली के लिए एक उपयुक्त नाम चुनना उन्हें अनिवार्य जान पड़ा। इस कार्य में ईश्वर से ज्योति प्राप्त करने के लिए उन्होंने कुछ दिन प्रार्थना में विताए; तब सबों ने एक मत होकर अपने को "येसु संघ" का सदस्य बताना निश्चित किया। इसके बाद अपना-अपना कार्य क्षेत्र निर्धारित करने के लिए उन्होंने चिट्ठे डाले। चिट्ठे के अनुसार फ्रांसिस और वावाडिल्ला वोलोन्या शहर की ओर चले।

वोलोन्या में फ्रांसिस के आए अभी अधिक दिन नहीं हुए थे कि उनके आचरण से लोग प्रभावित होने लगे। संत दोमिनिक के गिरजे में मिस्सा का बलिदान चढ़ाते समय फ्रांसिस की भक्ति देख कर एक महिला ने इन्हें अपने चाचा से मिलने का आग्रह किया। ये चाचा जी सान्ता लुचिया नामक पल्ली के पुरोहित थे। पुरोहित जी ने उन्हें अपने पल्ली भवन में ठहरने को आमंत्रित किया। फ्रांसिस ने निमंत्रण तो सहर्ष स्वीकार कर लिया किन्तु शर्त यह रही कि वे अपना जीवन निर्वाह भिक्षा मांग कर ही करेंगे। वोलोन्या में वे बड़े सवेरे मिस्सा कर के पापस्वीकार सुनने में लग जाते। यह काम खत्म करके वे अस्पतालों में कराहते रोगियों और कारागार में सड़ते कैदियों की सेवा करने जाते।

नगर भर में जहाँ-जहाँ बन पड़ता, वे गरीबों की सेवा और सड़कों तथा

गलियों के नुक्कड़ों पर बच्चों तथा अपढ़ों को धर्मशिक्षा देते। राह चलते लोगों को इकट्ठा करने का उनका ढंग भी अनूठा था। कहीं चौक पर खड़ा होकर अपनी टोपी से संकेत कर, अपनी टूटी-फूटी इटालियन भाषा में चिल्ला-चिल्ला कर वे लोगों को बुलाते। यही रोज का धंधा था। काम अधिक था और उत्साह की कमी न थी। लेकिन इनका साथ इनका स्वास्थ्य न दे सका। अन्त में ज्वर ने उनको पछाड़ ही दिया। भूख और अभाव से इनका शरीर जर्जर हो गया था। ऐसी लाचार अवस्था में इनके प्यारे बंधुओं में से कोई भी इनके पास न था; बोवा दिल्या पदुआ चले गए थे। "येसु संघ" के एक बंधु की अचानक मृत्यु के कारण उन्हें खाली जगह की पूर्ति के लिए बोलोन्या से एकाएक विदा होना पड़ा था।

आंधी

तीर्थयात्रा का निर्धारित समय समाप्त होते देख सब बंधु रोम की ओर जाने लगे। फरारा नगर के बोवादिल्या को बोलोन्या होकर पवित्र नगरी जाते देख रोगग्रस्त फ्रांसिस भी उनके साथ ढहते-ढिमलाते चलने को तैयार हो गए। कठिन यात्रा के बाद पास्का के आसपास १५३८ में फ्रांसिस रोम पहुंचे। इस १२५ कोसों की पैदल यात्रा के उपरान्त फ्रांसिस के बचने की आशा किसी को न रही। किन्तु बंधुओं से मिलकर उन्हें जो आनंद हुआ, उसका असर उनके स्वास्थ पर जादू-सा पड़ा। कुछ दिनों तक तो सभी एक छोटे से मकान में किसी तरह दिन काटते रहे, तब एक बड़े मकान का पता लगा जिस में रहने का अब तक किसी को साहस नहीं हुआ था। लोग कहते थे, वहां भूतों का अड्डा है। यह अफवाह निराधार नहीं थी। वहां रात दिन नारकीय आत्माओं का शोरगुल मचा रहता था। लेकिन ज्यों ही उषा की सुनहली किरणें अंधकार को चीरती हुई आतीं, उस मकान का कोलाहल शान्त हो जाता। इन दुष्ट आत्माओं ने फ्रांसिस पर भी वार किया, अचानक अंधेरे में। यह उनके ब्रह्मचर्य की परीक्षा थी। शुद्धता वीरों की सम्पत्ति है और इसकी रक्षा के लिए सच्चे वीर तिल-तिल जल जाने को तैयार रहते हैं। फ्रांसिस भी वीर थे। ब्रह्मचर्य उन्हें जान से भी अधिक प्यारा था। उन्होंने उस नीच दुश्मन का ऐसा मुंह तोड़ जवाब दिया कि इस चेष्टा में उनकी नाक से खून बहने लगा।

रोम आकर भी बंधुओं ने येरुसलीम जाने की आशा न छोड़ी थी। लेकिन राजनैतिक परिस्थिति और भी उलझती गई। अन्त में वेनिस को तुर्कों के विरोधी गुट का साथ देते देख यात्रा का अंतिम आधार भी चकनाचूर हो गया। तब उन्होंने सोचा, विधि का विधान और इच्छा क्यों न यहीं पूरी करने का प्रयास करें।

हवा का रुख बदला। अतएव संत लुइस नामक पल्ली फ्रांसिस के सुपुर्द की गई। इस पल्ली में एक निराले दुश्मन से इनकी मुठभेड़ हुई; वह भेड़ के वेष में सचमुच भेड़िया था। संत लुइस के गिरजाघर में मतेव मेनार्दी नामक उपदेशक की बहुत दिनों से धाक जमी हुई थी। उसकी वाक्पटुता की चर्चा सुनकर श्रोता दसों दिशाओं से उमड़ पड़ते थे। उसकी प्रशंसा तथा प्रशंसकों की बाढ़ में कभी भी शिथिलता न आती। किन्तु इस सफल वक्ता के शब्दाडंबर के नीचे लूथर के विभेद का हलाहल भरा था। गुड़ में लपेटा विष अधिक खतरनाक होता है।

फ्रांसिस के कर्त्तव्यपरायण साथियों ने उसकी भूलों को उभाड़ कर उसके उपदेशों का खंडन शुरू किया। इस तथाकथित अपमान से उपदेशक और उसके हितैषियों की क्रोधाग्नि भड़क उठी। उन्होंने इसका बदला लेने को ठान लिया और बदले में इनीगो तथा उनके साथियों पर ही लूथरपंथी होने की लांछना लगाई। येसुसमाज के सदस्यों के विरुद्ध उन्होंने जोरशोर से प्रचार शुरू किया और इनीगो के विरोधियों का दल इकट्ठा करने में नगर का कोना-कोना छान डाला।

डूबते को तिनके का सहारा मिला और यह तिनका था एक उच्छृंखल प्रकृति का युवक, मिगुएल लांदिवार। लांदिवार पेरिस में फ्रांसिस का टहलुआ रह चुका था। अपने स्वामी को इनीगो का साथ देते देख उसे भी उस दल में भर्त्ती होने की क्षणिक उत्कंठा हुई थी। किन्तु तुरंत ही इनीगो को पता चल गया कि यह काम लांदिवार की शक्ति से परे है। इसके बाद लांदिवार ने भर्त्ती के लिए और दो बार दरखास्त दिए। किन्तु चरित्रविद् इनीगो अपने निश्चय पर अटल रहे। तब से रूठा लांदिवार इस अपमान के बदले के घात में बैठा था। अब वह अवसर हाथ आया। इनीगो के साथ रहने से उसे उनके पूर्व जीवन की कुछेक घटनाएँ मालूम थीं। इन्हीं के सहारे वह येसुसमाज की जड़ उखाड़ देने का स्वप्न देख रहा था। उसने दिल खोल कर इनीगो के विरोधियों का साथ दिया। इनीगो

के वंदी होने और उन पर लगाए गए अन्य अभियोगों की कहानी वह लोगों के सामने डंके की चोट कहता फिरता था। हवा का रुख बदलने लगा, धीरे-धीरे रोम की जनता इन नवागंतुकों को भी संदेह की दृष्टि से देखने लगी। मेनार्दी के हितैषी आनन्द से फूले न समाए। वे दूने उत्साह के साथ येसुसमाज के सदस्यों के उपदेशों तथा शिक्षाओं में पोल ढूंढ़ने लगे। उनकी विद्वता में उन्होंने प्रोटेस्टंटों का रंग देखा और उनके प्रेरितिक कार्यों में अतृप्त वासना की कुचेष्टा। फ्रांसिस इस समय एक चरित्रहीना स्त्री को पाप के दलदल से निकालने में लगे थे। इस घटना ने आग में घी का काम किया। उनके बैरियों ने फ्रांसिस के दयाकार्य अशुद्धता के काले आवरण से मंडित करने की चेष्टा की। ऐसे झूठे दोपारोपण का प्रतिवाद करना आवश्यक था। पंप्लूना के वीर ने परिस्थितियों के सामने सिर झुकाना सर्वथा अनुचित समझा।

संत पिता के सामने

अपने और अपने साथियों पर से संदेह का वादल हटाने के लिए उन्होंने संत पिता से मिलने की ठानी। इस कार्य में डाक्टर ओर्तित्जा से बड़ी सहायता मिली। संत पिता के सामने उन्होंने अपने संपूर्ण जीवन का वयान रक्खा और अपने भावी जीवन की रूपरेखा भी प्रस्तुत की। उन्होंने अपनी शिक्षा की जांच के लिए एक विशेष न्यायालय की मांग की। इन दुर्दिनों में जिन लोगों ने इनीगो की मदद की, उनमें वेनिस के कार्दिनल गास्पार कोन्तारिनी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वोलोन्या के विकर जेनेरल ने भी फ्रांसिस के पक्ष में प्रमाण पेश किए। अन्त में इनीगो की ही विजय हुई, लांदिवार नगर से निर्वासित किया गया और मेनार्दी को मुंह की खानी पड़ी। आठ महीनों के प्रचंड अंधड़ के वाद १८ वीं नववंर १५३८ को येसुसमाजियों के लिए फिर स्वच्छ, शान्त नील गगन दीख पड़ा। सत्य की किरण पाकर लोगों का विश्वास पुनः इन नवागंतुक पुरोहित पर जमने लगा।

नई टोली का उत्साह और उमंग बढ़ने लगी। संत पिता की अनुभवी आंखों को उनका मूल्य पहचानने में देर न लगी। उनकी इच्छा हुई कि वे सब रोम में ही जनता और गिरजा की सेवा करते रहें। किन्तु इन पुरोहितों के हृदय से तीर्थ की उत्कंठा अभी पूरी तरह नहीं मिटी थी। एक दिन संत पिता ने दैनिक वाद-

विवाद के बाद कहा, "आप लोग येरूसलीम जाने पर इतने क्यों तुले हुए हैं ? यदि ईश्वर के लिए कुछ करना चाहते हैं तो क्या इटली सचमुच येरूसलीम नहीं हो सकता।" यह भावी धर्मसमाज के लिए भविष्यद्वाणी थी।

१५३९ के चालीसे के समय इनीगो ने बंधुओं की सभा की। वे तीन महीनों तक अपने भावी जीवन-विधि पर तर्क-वितर्क करते रहे, उनके संगठित जीवन में पेरिस के मोमार्त्रे पर लिए व्रतों का क्या महत्त्व होगा ? क्या निर्धनता और ब्रह्मचर्य के साथ आज्ञाकारिता का भी व्रत लेना ठीक नहीं होगा। लेकिन इससे उनकी टोली एक धर्मसमाज का रूप धारण कर लेगी जिससे उनके प्रेरितिक कार्यों में बाधा आने लगेगी; क्योंकि एक नंए धर्मसमाज के लिए संत पिता की मंजूरी आवश्यक होगी, और यह मंजूरी प्राप्त करने में अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ेगा।

अन्त में बहुत माथा-पच्ची और अविरल प्रार्थना के बाद अप्रैल की १९ तारीख को यह महत्त्वपूर्ण निर्णय हुआ : उनमें एक अध्यक्ष चुना जाए जो आजीवन पद भार वहन करे। दूसरा, वे अन्य धर्मसमाजियों से भिन्न अपनी आह्निक प्रार्थना एक साथ न कर व्यक्तितः किया करें। तीसरा, एक चौथा व्रत संत पिता के प्रति आज्ञाकारिता का लिया जाए, जिससे संस्था का कोई भी सदस्य संत पिता की आज्ञा पाते ही संसार के किसी भी क्षेत्र में किसी भी कार्य के लिए जाने को बाध्य हो जाय।

इन सब निष्कर्षों को इनीगो ने एक पांच अध्याय की पुस्तिका में लिखा और संत पिता तृतीय पौल के परीक्षण तथा स्वीकृति के लिए अगस्त महीने में पेश किया। किन्तु इस बीजारोपण के समय फिर बिजली कड़की और एक बार फिर निर्मल आकाश घनमाला से काला हो गया। ऐसी नियमावली धर्मसमाज के इतिहास में बिलकुल अनूठी और नई थी। इस नई क्रान्ति को दबा कर रखने में ही भलाई थी, अन्यथा इससे दूसरे धर्मसमाजों और कालान्तर में संपूर्ण पवित्र गिरजा पर भारी संकट आ जाएगा। यही अधिकारिवर्ग की प्रतिक्रिया थी। यह देख टोली ने फिर प्रार्थना का दामन पकड़ा।

इनमें संत पिता की दिलचस्पी बढ़ती जा रही थी। इधर राजाओं तथा राजकुमारों ने भी अपनी-अपनी मांगें पेश करनी शुरू की। संत पिता ने इस नए

धर्मसमाज को मौलिक मान्यता देकर सदस्यों को आवश्यकता के अनुसार इधर-उधर भेजना शुरू कर दिया ।* लेकिन फ्रांसिस रोम में ही रहकर इनीगो के सचिव का काम करने लगे। अभी तक इनका स्वास्थ्य संतोषजनक नहीं था।

आवाहन

जिस दिन पुर्त्तगाली नाविक वास्को दगामा का महीनों से भटकता हुआ जहाज कालिकट के बंदरगाह में लगा, उस दिन पुर्त्तगाल के भाग्य का अभ्युदय हुआ। अपने राजा के नाम पर वास्को ने कालिकट के राजा से व्यापारिक समझौता किया और अनजान पूरब का द्वार पश्चिम के लिए खोल दिया। पहला अवसर पुर्त्तगाल को ही मिला। और पुर्त्तगाल जैसे छोटे देश की धाक और सत्ता भारत में ही नहीं, पर सुदूर पूर्व भर में जमते देर न लगी। यह पुर्त्तगाल के औपनिवेशिक साम्राज्य का प्रभात था, जो कुछ ही वर्षों में देदीप्यमान मध्याह्न में परिणत हो गया। संसार के इतिहास में भी एक समय था जब यूरोप के इस छोटे देश की पताका संपूर्ण पूर्व में निर्विरोध फहरा रही थी। किन्तु पुर्त्तगाल और अन्य पाश्चात्य देशों के राज्यविस्तार में अन्तर था। पुर्त्तगाल राजनैतिक साम्राज्य फैलाने नहीं निकला था। वह पूरबी देशों को अपने दबदबे में नहीं रखना चाहता था, ऐसी न उसकी इच्छा थी और न उसका सामर्थ्य ही। उसे तो पूरब के सुगंधपूर्ण मसालों से मतलब था जिन्हें बटोरने के लिए वह पूरबी देशों का सहयोग खोजता था और यूरोप में ले जाने के लिए निरापद मार्ग।

अतः जहां पुर्त्तगाल का जहाज जाता, वहां पुर्तगाली सैनिक भी पहुंचते, अपने राजा के हित देश जीतने के लिए नहीं, लौंग, इलायची से लदे जहाजों को लूट-मार से बचाने के लिएं। पुर्त्तगाल और यूरोप के अन्य साम्राज्यवादी देशों में एक और अन्तर था। पुर्त्तगालियों में धन के लालच के साथ-साथ खीस्तधर्म के विस्तार की लालसा भी थी, यद्यपि इस हेतु अपनाए गए अनेक साधन किसी भी हालत में आदरणीय और अनुकरणीय नहीं कहे जा सकते। जहां पुर्त्तगाली

---

* येसु समाज की विधिवत् लिखित स्थापना २७ सितंबर १५४० के पूर्व नहीं हुई।

जहाज पहुँचता वहां इसकी रक्षा के लिए किले वनाए जाते और पुर्त्तगाली सैनिकों की आध्यात्मिक देखभाल के लिए पूरा प्रबंध किया जाता। पुर्त्तगाल के राजा तृतीय जौन की यह उत्कट अभिलाषा थी कि ईसाई पुरोहित उनके उपनिवेशों तथा व्यापार केन्द्रों में पुर्त्तगालियों की आध्यात्मिक देखरेख और ख्रीस्त के प्रेम और दया का सर्वत्र प्रचार करने जाएं।

अपने काम में उन्हें कितनी सफलता मिली यह इतिहास का हरएक विद्यार्थी जानता है। लेकिन जब धन और धर्म में द्वंद्व उठता है तो अधिकतर प्रत्यक्ष ही परोक्ष पर विजय पाता है।

पुर्त्तगाल के सम्राट

पूर्वी उपनिवेशों से ख्रीस्तीय अग्रदूतों की मांग दिनानुदिन वढ़ती जा रही थी। इतने प्रचारकों की मांग पूरी करने की क्षमता पुर्त्तगाल में नहीं थी। राजा जौन इसे अच्छी तरह महसूस करते थे। सहायकों की खोज में उन्होंने अपनी आंखें यूरोप के अन्य देशों की ओर उठाई। इसी ध्येय से वे पेरिस के संत वार कालेज की सहायता मुक्त हाथों करते आए थे। उनकी उदारता व्यर्थ नहीं गई। पुर्त्तगाल नरेश की इच्छा जानकर १५३८ में संत वारवरा कालेज के प्रधानाध्यक्ष सिओगोद गोवेया ने उनका ध्यान इनीगो और उनके साथियों की ओर आकृष्ट किया तथा उनकी अनोखी जीवन-विधि से परिचित कराया। तव तक इनीगो और उनके साथी रोम पहुंच चुके थे। पवित्र नगरी में जौन के राजदूत दोम पेद्रो मसकरैन्यास भी मौजूद थे।

१५३९ अगस्त में पुर्त्तगाली राजा ने अपने राजदूत को उक्त पुरोहितों के रहन-सहन का पता लगाने का आदेश दिया। जांच-पड़ताल के वाद पेद्रो मसकरैन्यास ने अपने राजा के पास लिखा, "ये नए पुरोहित भारत जाने के लिए उत्सुक तो अवश्य हैं, किन्तु संत पिता उन्हें आज्ञा देकर इतनी दूर भेजने को तैयार नहीं।" ऐसे कठिन कार्य को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का भार संत पिता तृतीय पौल ने इनीगो पर ही छोड़ दिया। सारी परिस्थिति जानकर और ईश्वर की आज्ञा पहचान कर भी इनीगो भारी उलझन में पड़ गए। इतनी बड़ी मांग पूरी करने में वे अपने को असमर्थ पा रहे थे। कुछ ही वर्षों में इनीगो के हाथ

इतने कार्यों में उलझ गए कि वे स्वयं सहायकों की कमी महसूस कर रहे थे। फिर भी वे आवश्यकतानुसार अपने संगियों में से दो को सुदूर पूर्व भेजने के लिए राजी हो गए।

इस महान और कठिन कार्य के लिए निकोलस वोवादिल्या और सिमोन रोद्रिगेज़ चुने गए। फ्रांसिस की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया। किसे मालूम था उनकी आत्मा में दिग्विजय की चिनगारी कब से सुलग रही थी जिसकी लपट उनके क्षीण शरीर को भस्म कर रही थी।

तीसरा परिच्छेद

उदयाचल की ओर

भगवान का हाथ

१५४० के मार्च के आरंभ में बोबादिल्या नेपल्स से बीमार लौटे। उनका स्वास्थ्य इतना गिर गया था कि रोम छोड़ना उनके लिए असंभव था। पन्द्रह मार्च तक पुर्त्तगाली राजदूत रोम से प्रस्थान कर देना चाहते थे। तब प्रश्न उठा, बोबादिल्या का स्थान किसे दिया जाए। रोद्रिगेज की भी तबीयत उतनी अच्छी न थी। कुछ ही दिन पहले बुखार ने उन्हें भी धर दबाया था। राजदूत ने उन्हें जलमार्ग से लिस्बन जाने की सलाह दी। उनके साथ एक युवक पुरोहित भी गए, पौल कमरीनो। इनकी भी आंखें भारत पर टंगी थीं। लेकिन बोबादिल्या की जगह किसको भेजा जाए, बड़ा विकट प्रश्न था। तर्क वितर्क में मार्च के चौदह दिन देखते-देखते गुजर गए और यह जटिल प्रश्न हल नहीं हुआ। दूसरे ही दिन पुर्त्तगाली राजदूत रोम से विदा होनेवाले थे। अब अधिक विलम्ब का समय नहीं था।

इस नवजात संघ के सभी सदस्य किसी-न-किसी आवश्यक काम में लगे हुए थे। केवल एक बचे थे फ्रांसिस। इनीगो की आंखें चमक उठीं, लेकिन ईश्वर के विधान और फ्रांसिस के प्रति उनके प्रेम में कुछ देर तक हाथापाई हुई। अन्ततः इनीगो को वही करना पड़ा जिसकी उन्होंने कभी आशा न की थी। दोनों हाथों कलेजा थाम कर उन्होंने फ्रांसिस से कहा, "फ्रांसिस आप जानते हैं संत पिता ने हम लोगों में से दो व्यक्तियों को भारत जाने की आज्ञा दी है। जिन दो को हम लोगों ने चुना था, उनमें बोबादिल्या का भी नाम है। लेकिन उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ चुका है। और उनके स्वस्थ होने तक राजदूत का रुकना असंभव है। लीजिए यह कार्य आपही को सुपुर्द करता हूं।" स्वामी इनीगो के हृदय की थाह वे ही लगा सकते हैं जिन्होंने सचमुच किसी को प्यार किया है।

फ्रांसिस की खुशी का ठिकाना न रहा, उनका स्वप्न अब सार्थक होने जा रहा था। उन्होंने गद्‌गद् कंठ से कहा, "मैं प्रस्तुत हूं।" और तुरंत कुछ फटे-पुराने कपड़ों की मरम्मत करने में लग गए। फ्रांसिस यह भली भाँति जानते थे कि पेरिस विश्वविद्यालय की छाया में जो प्रेम उनके और इनीगो के विशाल हृदयों में उत्पन्न हुआ था, वह पन्द्रह वर्षों की सद्‌भावना और सुसंगति का इंधन पाकर कितना प्रचंड हो उठा है। यह दो मित्रों का प्रेम था, जिसमें अनुग्रहीत की दीनता थी, पिता का वात्सल्य था और दो सन्तों का निर्मल अनुराग था। उस समय की चिनगारी अब प्रेम के लाल-लाल शोले बन गई थी। और अचानक एक दूसरे से चिपके हृदय अब विछुड़ रहे थे ईश्वर जाने कब तक के लिए, दो-चार, दस वर्षों के लिए या सदा के लिए।

कुछ भी हो, समय और दूरी का तुषारपात उनकी प्रेमाग्नि को न बुझा सकेगा, बल्कि वह और प्रचंड होती जाएगी, उसकी लपटें सारे पूर्वाकाश को प्रज्ज्वलित कर देंगी। उसके ताप से हजारों और लाखों सर्द दिल ईश्वर के प्रेम से धधक उठेंगे। दूर रहने पर भी वे दो हृदय एक दूसरे से जुड़े रहेंगे, पत्रों के आदान प्रदान से, विचारों की समानता से, प्रार्थना के सतत् प्रवाह से। और अन्त में वे पुनः मिलेंगी इस दुनिया में नहीं, लेकिन जहां विछुड़न की दाहक अग्नि नहीं जलाती, जहां वियोग की मार्मिक पीड़ा नहीं सताती, जहां मिलन ही मिलन है, प्रेम है, मधुर, अनंत संलाप है। इस महावियोग के समय भी इनीगो और फ्रांसिस को संलाप का समय न था। पन्द्रह मार्च द्वार खटखटा रही थी।

लंगर उठे

दूसरे दिन प्रस्थान करते समय फ्रांसिस तीन मुहरबंद पत्र छोड़ते गए। पहले पत्र में उन्होंने नए धर्मसमाज की तैयारी की जानेवाली जीवन-विधि की प्रत्येक धारा पर अपनी स्वीकृति दी, अर्थात् जो कुछ उनके बंधु निर्धारित करेंगे वह उन्हें शिरोधार्य होगा। दूसरे लिफाफे में उन्होंने इनीगो के अधिनायक होने के पक्ष में अपना मत दिया। तीसरे में अपने ही हाथों से लिखी उनके तीन व्रतों की प्रति थी, निर्धनता, आज्ञाकारिता और ब्रह्मचर्य। वे बंधुओं से अंतिम बार गले मिले तथा राजदूत के साथ रोम के उत्तरी द्वार से पवित्र नगरी से प्रस्थान

किया। देह पर के कपड़े, आह्निका और एक दूसरी धार्मिक पुस्तक, यही उनका सारा सामान था। नौ हजार मील की यात्रा की यह अजब तैयारी थी, बारह महीनों के लिए यही राह खर्च था।

मार्च का अन्त होते-होते यह दल बोलोन्या पहुंचा। पुनरुत्थान महापर्व फ्रांसिस ने अपने पुराने प्रेरितिक क्षेत्र में मनाया। ठीक रविवार के दिन फ्रांसिस को इनीगो के दो पत्र मिले। पहले पत्र में इनीगो ने भावी पत्राचार के विषय में दो चार सलाहें दी थीं। दूसरा पत्र लोयोला के स्वामी के नाम था। इसमें इनीगो ने पुर्त्तगाली राजदूत और फ्रांसिस के स्वागत करने की प्रार्थना की थी। बोलोन्या ने फ्रांसिस का शानदार स्वागत किया और विदाई हृदय विदारक हुई।

फ्रांसिस के पारमा पहुंचने के एक ही दिन पहले फावेर किसी दूसरी जगह जा चुके थे। उनसे मिलनेके लिए फ्रांसिस का दिल तड़प उठा; लेकिन राज-दूत और लाइनेज के कहने पर उन्होंने अपनी उत्कट अभिलाषा का होम कर दिया। बरसों के मित्र अंतिम बार भी न मिल सके। राजदूत की टोली दक्षिण फ्रांस से फुएंटेराबिया होती हुई उस ऐतिहासिक रणस्थली पर पहुंची, जहाँ जेवि-यर के वीरों ने नव्वार की आजादी के युद्ध लड़े थे। तब वे आरागोन की घाटी पार कर आज़पेइसिया पहुंचे। यह लोयोला का खानदानी गढ़ था। लोयोला के स्वामी ने अतिथियों का भव्य स्वागत किया।

रास्ते में फ्रांसिस का दल नव्वार होता हुआ पुर्त्तगाल की ओर बढ़ा। फ्रांसिस अपने भाई से मिलने जेवियर गए या नहीं, कहना अत्यन्त कठिन है। इस विषय पर लेखकों में मतभेद है। लेकिन यद्यपि फ्रांसिस ने इसका जिक्र अपने किसी भी पत्र में नहीं किया है उनके लौहचरित्र को ध्यान में रखकर हम यही कह सकते हैं कि जब उन्होंने अपने होनहार भविष्य की ओर से आंखें बंद कर ली थीं; तब वे भ्रातृप्रेम के प्रदर्शन मात्र से कर्त्तव्य-पालन में कोई बाधा न उपस्थित होने देते।

लिसबन

जून के अन्त में वे लिसबन पहुंच गए।

लिसबन पुर्त्तगाल की राजधानी, जहाजों और नावों से भरी टागुस नदी के मुहाने पर बसा हुआ है। यहां से पुर्त्तगाली जहाज सुदूर समुद्रों का भ्रमण करने

निकलते थे। वे पुर्त्तगाल का झंडा जगह-जगह गाड़ते और पुर्त्तगाल के वैभव से मदमस्त जहाजों के मस्तूल नील गगन में उन्नत कर फ्रांसिसियों, अंग्रेजों और डचों को चुनौती देते थे। इसी लिसबन से फ्रांसिस का भी प्रस्थान होगा एक नए प्रकार का राज्य स्थापित करने के लिए, पुर्त्तगाल के अभिमानी बेड़े पर, किन्तु क्षणभंगुर, अस्थायी, पुर्त्तगाली राज्य के विस्तार के लिए नहीं, लूट मार करने खून की नदियां बहाने के लिए नहीं, पुर्त्तगाल की तोपों से कलेजा दहलाने तथा आतंक का राज्य फैलाने के लिए नहीं, वरण प्रेम, दया और क्षमा देने, सेवा और त्याग का पाठ पढ़ाने, मुक्ति का मार्ग दिखलाने और उनका सुसमाचार सुनाने जिन्होंने साढ़े पन्द्रह सौ वर्ष पहले कहा था, "मैं हूं मार्ग, जीवन तथा सचाई।"

लेकिन इस महान कार्य की सिद्धि के लिए उनको पग पग पर कठिनाइयों का सामना करना होगा, नए देशों की नवीनता और अपने लोगों की स्वार्थान्धता से लोहा लेना होगा, जड़ और चेतन प्रकृतियों से युद्ध करना होगा, क्लान्ति होगी, थकावट होगी, परिस्थितियों के सामने सिर झुकाना होगा, किन्तु अन्ततः विजय उन्हीं की होगी, उनका नाम उन नए देशों में अमर हो जाएगा, उनकी याद लोगों के हृदय-पट पर, शिलाखंड पर खींची लकीर के समान अमिट बनी रहेगी, उनकी सेवा से सब पराजित होंगे, बेगाने उनके अपने हो जाएंगे, लाखों उनकी जयजयकार करेंगे, पृथ्वी और आकाश उन्हें धन्य कहेंगे।

विदा

लिसबन पहुंचते ही फ्रांसिस सीधे अपने रोगग्रस्त मित्र रोद्रिगेज के पास गए। इस मिलन का रोद्रिगेज पर ऐसा असर पड़ा कि उन्हें स्वास्थ्य लाभ करते देर न लगी। तुरंत दोनों मित्रों ने अपनी प्रेरितिक सेवा तथा त्यागपूर्ण कार्य शुरू कर दिया। पुर्त्तगाली राजधानी में काम की कमी न थी। अन्य देशों के समान यहां भी गरीबी और अमीरी एक साथ बसती थी। लिसबन में मखमल के फर्श पर चलनेवाले रईस थे तो मैली-कुचैली गलियों में दुःख के दिन काटनेवाले दरिद्र भी। रंक और राजा दोनों को सिद्धहस्त आध्यात्मिक निर्देशक की जरूरत थी। ऐसा निर्देशक जो लिसबन के गरीबों की आध्यात्मिक सेवा के साथ-साथ गरीबी के अथाह सागर में डूबती नैया का पतवार बन सकें। रोद्रिगेज और फ्रांसिस ने

देखा कि यदि बुद्धिमानी से काम लिया जाए, तो अमीरों की मदद से गरीबों का बेड़ा आसानी से पार लग जाएगा। अत: वे दोनों इन दो वर्गों की सेवा में बंट गए। सिमोन रोद्रिगेज धनिकों की ओर मुड़े, तो फ्रांसिस गरीब, अपाहिजों की सेवा में दत्तचित्त हो गए।

लिसबन में पदार्पण करने के चार ही दिन बाद राजदम्पत्ति ने उन्हें निमंत्रण भेजा। राजमहल में इन दोनों स्वयंसेवकों के हार्दिक स्वागत का आयोजन किया गया। मुलाकात के समय राजा ने उनसे सैकड़ों प्रश्न किए, उनके नए समाज की उत्पत्ति से लेकर तत्कालीन स्थिति तक की हरएक बात पूछ डाली। राजा जौन उनकी जीवन-विधि से अत्यन्त प्रभावित हुए। तुरंत उन्होंने फ्रांसिस को पुर्त्तगाली भाषा में उपदेश करने का आदेश दिया। शाही हुक्म से उनके लिए सुसज्जित कोठरियों और स्वादिष्ट राजकीय भोजन का प्रबंध किया गया। राजा उन्हें हर प्रकार की सुविधा देना चाहते थे। किन्तु ख्रीस्त के उन सेवकों ने राजा की उदारता से लाभ उठाना अपनी जीवन-विधि के प्रतिकूल समझा। उनका घर तो अस्पताल था और उनका भोजन भिक्षा में मिला अन्न। अत: उन्होंने कृतज्ञतापूर्वक इन सुविधाओं को अस्वीकृत कर दिया। शीघ्र ही उन्हें उस पुरानी लोकोक्ति की सत्यता मालूम हो गई, अनुभव ही सबसे कुशल शिक्षक है। अपने परोपकारियों की उदारता पर आशा रख दिन भर प्रेरितिक कार्य में लगा रहना व्यावहारिक नहीं सिद्ध हुआ। कभी भोजन मिलता तो कभी नहीं मिलता, और कभी कभी तो इतनी देर से मिलता कि खाने के लिए भी समय न रहता। अतएव वे सप्ताह में दो दिन भिक्षा मांग कर जीवन निर्वाह करते और बाकी पांच दिन राजकीय शाला की सहायता स्वीकार करते। इससे उनको दो लाभ होते : एक तो उनके प्रेरितिक कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती, और दूसरे, इस प्रकार गरीबों की और अधिक सहायता हो सकती। यथार्थ में शाही भोजन का मजा अन्न के लिए तरसते, बेचारे गरीबों को ही अधिक मिलता था।

पुर्त्तगाली राजधानी में भी फ्रांसिस और रोद्रिगेज का कार्यक्रम वही रहा जो इटली के अन्य नगरों में था। परोपकार उनकी दिनचर्या थी, अस्पताल के रोगियों तथा कारागार के कैदियों की सेवा और सर्वसाधारण नागरिकों को दिन

में कई बार उपदेश। लेकिन लिसबन में उनके लिए एक और काम था। इतिहास प्रसिद्ध धर्मपरीक्षण समिति के फल स्वरूप, जिसकी स्थापना पाखंडियों की कुशिक्षाओं के उन्मूलन के लिए की गई थी, कैदियों की संख्या में ह्रास होने के बदले उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जाती थी। इन अभागों के लिए धर्मशिक्षा देने तथा सुधारकों के विष से मुक्त करने के लिए फ्रांसिस और रोद्रिगेज प्रति दिन कैदखाने में भी जाया करते थे। वे इनीगो द्वारा रचित आध्यात्मिक साधना की पुस्तिका में से कैदियों को प्रथम सप्ताह के उपदेश देते और उन्हें ध्यान-चिन्तन करना सिखलाते। दया और प्रेम ने उन कट्टर अखीस्तीयों को भी लुभा लिया, बहुतों ने खीस्तमत को अपनाया।

जिस दिन से फ्रांसिस ने अपने प्रिय स्वामी इनीगो के मुंह से अपने नए कार्य क्षेत्र का नाम सुना था, उस दिन से उनके मन में केवल एक विचार चक्कर काट रहा था, भारत में खीस्तीय धर्म का प्रचार। उनके हृदय में केवल एक भाव उमड़ रहा था, भारत के लिए प्राणदान। उनके सपनों का संसार केवल एक बिन्दु पर केन्द्रित हो गया था। इस स्वप्न को साकार करने के लिए वे लिसबन में पहुंचने के दिन से ही संलग्न थे। अपने भावी कार्य की कठिनता को वे बहुत कुछ पहचानते थे। काम बहुत बड़ा था, उनके विशाल हृदय से भी बड़ा। इसको पूरा करने के लिए उत्साही सहकारियों की आवश्यकता होगी, जिनका उत्साह अदम्य होगा और कर्त्तव्यपरायणता कठोर। लेकिन ऐसे वीर आए दिन तो मिलते नहीं।

अर्द्धशिक्षित साथी

बहुत परिश्रम के बाद एक उम्मीदवार मिला जिसका नाम था फ्रांसिस मानसिल्यास, एक अर्द्धशिक्षित युवक, जिसमें सेवा की भावना तो थी लेकिन नवजाग्रत यूरोप में पुरोहित पद के योग्य अध्ययन और शिक्षा नहीं थी। फ्रांसिस ने उसे निराश नहीं किया। भारत में अर्द्ध शिक्षित व्यक्ति भी दूसरों के बीच खीस्त प्रेम के प्रचार जैसा महान कार्य कर सकता था। फ्रांसिस ने बिना किसी हिचकिचाहट के उसे, अपने साथ ले लिया।

पुर्त्तगाल के राजा का नया रुख देख रोद्रिगेज ने संत इनीगो को सारा वृतान्त लिख भेजा। एक ओर था पुर्त्तगाल में रह कर भारत की सहायता करने

का प्रश्न और दूसरी ओर था भारत में जाकर प्रेम का राज्य फैलाने का। दोनों महत्त्वपूर्ण थे। भारत जाना आवश्यक था लेकिन लिसबन में रहकर भी भारत की बड़ी सहायता की जा सकती थी। राजा और प्रजा दोनों को अपने सुपुत्रों में ऐसी दिलचस्पी लेते देखकर संत इनीगो को अपने निश्चय में कुछ संशोधन करना पड़ा। राजा के इच्छानुसार रोद्रिगेज पुर्त्तगाल रह जाएं किन्तु फ्रांसिस भारत अवश्य जाएं, यह आदेश उन्होंने दिया।

पुर्त्तगाली राजा और रईसों का जो प्रभाव संत पर पड़ा, हम उनके पत्रों में पढ़ सकते हैं। उनकी उदारता से संत फ्रांसिस के हृदय से कृतज्ञता की धारा फूट पड़ी। वे कभी राजा की प्रशंसा करते हैं तो कभी दौन पेद्रो की, और उनकी सफलता के लिए प्रार्थना की भीख मांगते हैं।

इसी समय फ्रांसिस की भेंट दौन अफोंसो दसूजा नामक महानुभाव से हुई जो पूरब और पश्चिम दोनों दुनिया का चक्कर लगा चुके थे। इनकी वीरता को ब्राजिल और श्री लंका पहचान चुके थे। इनकी योग्यता पर मुग्ध होकर पुर्त्तगाल के राजा अब इन्हें भारत भेज रहे थे, गोआ के गवर्नर के पद पर। इन्हीं से पहली वार फ्रांसिस ने श्री लंका की चर्चा सुनी। पुर्त्तगाल के सेनापति के रूप में दौन अफोंसो ने श्री लंका के उपद्रवकारियों को परास्त कर पूरब में पुर्त्तगालियों की शक्ति बढ़ाई थी। इस भावी राज्यपाल के प्रति फ्रांसिस के हृदय में बड़ा सम्मान था। वे उनकी उदारता के कायल हो चुके थे। अपने पत्र में उन्होंने इस शासक की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। यह फ्रांसिस के विशाल हृदय का द्योतक है जो दूसरों के उपकारों को कदापि नहीं भूल सकता था।

अपने धर्मसमाज के विस्तार और उसे सन्त पिता से मान्यता दिलाने के लिए भी फ्रांसिस पुर्त्तगाल में सदा प्रयत्नशील रहे। शक्तिशाली व्यक्तियों का उन दिनों गिरजा में विशेष मान था। उनके सुझावों और सलाहों का आदर होता था। ऐसे महापुरुषों में कुछ थे जो इस नए, पनपते धर्मसमाज को शंका की दृष्टि से देखते थे। इनीगो द्वारा स्थापित येसुसमाज उनके लिए किसी नए खतरे की ही घंटी थी। उन महानुभावों की सिफारिश तथा मदद इस नवजात संघ के लिए अत्यावश्यक थी। अतः उन शंकित हृदयों के परिवर्त्तन के लिए फांसिस सदा ईश्वर से प्रार्थना करते रहे। १५४० की २७वीं सितंबर को संत पिता

तृतीय पौल ने येसुसमाज को मान्यता दे दी। अब उसे नए साठ सदस्य भर्ती करने की अनुमति मिली। यह खुशखबरी फ्रांसिस को भारत पहुंचने के दो वर्ष बाद मिली। तब तक वे इस मनोरथ-सिद्धि के लिए रोज मिस्सा का बलिदान चढ़ाते रहे।

भारत यात्रा की तैयारी पुर्त्तगाल भर में हो रही थी। पुर्त्तगाल के कोने-कोने से यात्री लिसबन में जमा हो रहे थे। फ्रांसिस की यात्रा को आसान तथा सुखमय बनाने के लिए राजा जौन अत्यन्त उत्सुक थे। उन्होंने अपने मुनीम को आज्ञा दी थी कि वे फ्रांसिस को हर प्रकार से आराम देने का प्रबंध करें। सारी यात्रा के लिए भोजन, दवादारू आदि का भार मुनीम कोन्दे को ही सौंपा गया। कोन्दे अपने कार्य में बड़ा उत्साह दिखला रहे थे। राजा की आज्ञा का उल्लंघन कर वे उनकी नजर में गिरना नहीं चाहते थे। यह तो था ही, लेकिन उन्हें फ्रांसिस के प्रति भी श्रद्धा थी।

आदर और श्रद्धा के कारण ही उन्होंने फ्रांसिस को अपने लिए एक नौकर रख लेने के लिए आग्रह किया; क्योंकि जहाजों पर उन दिनों यात्रियों को अपना भोजन स्वयं बनाना पड़ता था। अपने कपड़े भी खुद धोने पड़ते थे। कोंदे के विचार मे ये काम थे किसी सज्जन के मान-मर्यादा के विरुद्ध। लेकिन फ्रांसिस के पास सामान ही क्या थे कि उन्हें नौकर की आवश्यकता होती। दूसरों की सेवा करना जिनका धर्म हो, वे अपनी सेवा दूसरे से कैसे करा सकते थे। जब शाही मुनीम अधिक जोर देने लगे तब फ्रांसिस ने कहा "श्रीमान कोन्दे, बिना किसी के मुंह ताके अपने वस्त्र स्वयं धोकर, अपना भोजन स्वयं बनाकर तथा दूसरों की आध्यात्मिक सहायता करके ही, कोई दूसरों का आदर-पात्र बन सकता है।" यह खरा उत्तर था। फ्रांसिस जानते थे कि इससे कोन्दे के कोमल हृदय को ठेस अवश्य लगेगी। अतः उन्होंने कोन्दे से मिले सामानों में से मोटी ऊन के दो ओढ़ने और कुछ आवश्यक पुस्तकें रख लीं।

जहाज खुलने के कुछ ही समय पहले रोम से सन्त पिता के दो पत्र फ्रांसिस के नाम लिसबन पहुंचे। एक पत्र के द्वारा संत पिता फ्रांसिस को अपना राजदूत बनाकर सुदूर पूर्व, लाल सागर, फारस तथा हिन्द महासागर और गंगा के इस पार और उस पार के सभी राजाओं और सम्राटों के पास भेज रहे थे। दूसरा पत्र एथियोपिया के अफ्रीकी नरेश दाविद के नाम था।

प्रस्थान का शुभ दिन निकट आता जा रहा था। और फ्रांसिस का हृदय प्रेरितिक उत्साह से लबालब भरता जा रहा था, उसमें सेवा की उमंग थी और प्रेम से दिग्विजय की आकांक्षा। राजा जौन के वादे और दृढ़ संकल्प देखकर संत फ्रांसिस का आशा-वृक्ष लहलहा उठता था। सेवा ही उनका अरमान थी, आत्म-विस्मृति उनका स्वप्न और प्रेम उनका अचूक मंत्र। उनकी आत्मा की तत्कालीन झांकी हम इनीगो के नाम लिखे पत्रों में पाते हैं। दो दशक पूर्व का स्वाभिमानी युवक अब दीनता का मूर्त्ति बन गया था। दूसरों को अपने व्यक्तित्व के अधीन करने की चाह अब नहीं थी। आज्ञाकारिता द्वारा दूसरों के अधीन रहना ही उनकी एकमात्र कामना थी। उन्होंने पत्र लिखा उस मित्र भाव से प्रभावित होकर, जो उन दोनों को ख्रीस्त येसु में संयुक्त किए था, "मैं आप से करबद्ध विनय करता हूं कि कार्य संचालन के विषय आप मुझे अपनी राय और सलाह दें कि मैं अधिक कुशलतापूर्वक ईश्वर की सेवा कर सकूँ।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि इनीगो की सलाहें उनको शिरोधार्य थीं, हर बात में वे उनसे परामर्श पाने की आशा करते थे, उनके लिए इनीगो येसुसमाज के संस्थापक थे, उनके पिता और व्यवस्थापक थे। रोम से प्रस्थान करने के पहले उन्होंने अपना मत उन्हीं के पक्ष में दिया था। उनकी इच्छा थी कि वे ही समाज के अध्यक्ष चुने जायं। अतः उनका पत्र एक आवेशपूर्ण प्रशंसक या क्षुद्र चाटुकार की खुशामद नहीं था, एक सीधे-सादे हृदय की पवित्र भावना का प्रतिबिम्ब था।

जहाज खुलते समय पुराने मित्रों में से केवल सिमोन रोद्रिगेज संत फ्रांसिस के साथ थे। यह अंतिम मिलन था। इस अवसर पर फ्रांसिस ने स्मारक रूप में एक पूर्व घटित घटना का रहस्य खोला, जो अब तक उनके सागर सम गंभीर हृदय में छिपा था। रोम में रहते समय उन्होंने एक भयंकर स्वप्न देखा था कि एक कुलटा उनको ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट करने का कुप्रयास कर रही है। धर्मनिष्ठ फ्रांसिस ने ऐसे वीरतापूर्वक उसका प्रतिरोध किया कि उनके मुंह से रक्तधार बहने लगी। इस कठोर युद्ध का फल बहुत अच्छा हुआ, उन्हें शुद्धता का वर प्राप्त हो गया, वे शरीर के सभी प्रलोभनों से सदा के लिए मुक्त हो गए। उदारता में ईश्वर की बराबरी कौन कर सकता है।

सन् १५४१ की अप्रैल सात तारीख आई। यह फ्रांसिस की पैंतीसवीं

वर्षगांठ थी। यात्रा की सारी तैयारियां पूरी हो चुकी थी। वेड़ा वंध चुका था, रसद लादी जा चुकी थी, सब यात्री जहाज पर चढ़ चुके थे। मन्सिल्यास और पौल कामरीनो के साथ फ्रांसिस "संतियागो" जहाज पर चढ़े। घंटी बजी, पालें चढ़ीं, लंगर उठे, हवा के झोंकों से पालें भर गईं, संतियागो जहाज मंथर गति से हिलोरों को रौंदता, अतलांतिक समुद्र के वक्ष को चीरता, लहरों से अठखेलियां करता रवाना हो गया अथाह जल राशि में, अपनी लंबी, संकटपूर्ण, अनिश्चित यात्रा के लिए।

प्रेम के पथ पर

आज कल के वाष्प चालित जहाजों, विमानों तथा रेलगाड़ियों पर यात्रा करनेवालों के लिए सात समुद्र पार करनेवाले सोलहवीं सदी के यात्रियों के साहस का अनुमान लगाना कठिन है। आजकल के जहाज तीन ही सप्ताह में आसानी से भारत और यूरोप के वीच का फैसला तय कर लेते हैं। किन्तु संत फ्रांसिस के जमाने में न आजकल की सीधी राह थी, न यातायात की सुविधाएं। यूरोप से भारत आने में सप्ताह ही नहीं, महीने लग जाते थे। उस समय समुद्री यात्रा पर निकलना मृत्यु का आह्वान करना था।

फिर भी नए देशों की खोज में, धन कमाने की लालसा लेकर घर छोड़नेवाले यात्रियों की कमी न थी। भीड़ के कारण जहाजों में जगह नहीं मिलती थी। जितने पोत नए देशों की ओर निकलते, उनमें यात्री इस तरह ठसाठस भरे रहते कि हिलने-डुलने का भी स्थान न मिलता। सौभाग्य से रईसों और धनिकों को लेटने भर की जगह मिल जाती थी, करवटें बदलने के लिए सबेरे तक ठहरना पड़ता। गरीब और सर्वसाधारण लोगों की बात दूसरी थी। वे वेचारे दिन भर सूर्य की गरमी में डेक पर तपते और उसी जगह शीत में ठिठुर कर रात काट लेते। वर्षा में भी उनको कोई आश्रय नहीं मिलता। शारीरिक आवश्यकताएं भी मुश्किल से पूरी हो पातीं। पेय जल का अभाव तो उन्हें और भी परेशान कर देता। भोजन के विषय में कोई क्या कहे? यदि शरीर को प्राण से जुड़ाए रखने के लिए नमकीन मछली और विस्कुट के कुछ टुकड़े मिल जाते तो उनका अहोभाग्य था। अफ्रीका के पश्चिमी तट से होकर विषुवत् रेखा पार

प्रस्थान का शुभ दिन निकट आता जा रहा था। और फ्रांसिस का हृदय प्रेरितिक उत्साह से लबालब भरता जा रहा था, उसमें सेवा की उमंग थी और प्रेम से दिग्विजय की आकांक्षा। राजा जौन के वादे और दृढ़ संकल्प देखकर संत फ्रांसिस का आशा-वृक्ष लहलहा उठता था। सेवा ही उनका अरमान थी, आत्म-विस्मृति उनका स्वप्न और प्रेम उनका अचूक मंत्र। उनकी आत्मा की तत्कालीन झांकी हम इनीगो के नाम लिखे पत्रों में पाते हैं। दो दशक पूर्व का स्वाभिमानी युवक अब दीनता का मूर्त्ति बन गया था। दूसरों को अपने व्यक्तित्व के अधीन करने की चाह अब नहीं थी। आज्ञाकारिता द्वारा दूसरों के अधीन रहना ही उनकी एकमात्र कामना थी। उन्होंने पत्र लिखा उस मित्र भाव से प्रभावित होकर, जो उन दोनों को ख्रीस्त येसु में संयुक्त किए था, "मैं आप से करबद्ध विनय करता हूं कि कार्य संचालन के विषय आप मुझे अपनी राय और सलाह दें कि मैं अधिक कुशलतापूर्वक ईश्वर की सेवा कर सकूँ।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि इनीगो की सलाहें उनको शिरोधार्य थीं, हर बात में वे उनसे परामर्श पाने की आशा करते थे, उनके लिए इनीगो येसुसमाज के संस्थापक थे, उनके पिता और व्यवस्थापक थे। रोम से प्रस्थान करने के पहले उन्होंने अपना मत उन्हीं के पक्ष में दिया था। उनकी इच्छा थी कि वे ही समाज के अध्यक्ष चुने जायं। अतः उनका पत्र एक आवेशपूर्ण प्रशंसक या क्षुद्र चाटुकार की खुशामद नहीं था, एक सीधे-सादे हृदय की पवित्र भावना का प्रतिबिम्ब था।

जहाज खुलते समय पुराने मित्रों में से केवल सिमोन रोद्रिगेज संत फ्रांसिस के साथ थे। यह अंतिम मिलन था। इस अवसर पर फ्रांसिस ने स्मारक रूप में एक पूर्व घटित घटना का रहस्य खोला, जो अब तक उनके सागर सम गंभीर हृदय में छिपा था। रोम में रहते समय उन्होंने एक भयंकर स्वप्न देखा था कि एक कुलटा उनको ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट करने का कुप्रयास कर रही है। धर्मनिष्ठ फ्रांसिस ने ऐसे वीरतापूर्वक उसका प्रतिरोध किया कि उनके मुंह से रक्तधार बहने लगी। इस कठोर युद्ध का फल बहुत अच्छा हुआ, उन्हें शुद्धता का वर प्राप्त हो गया, वे शरीर के सभी प्रलोभनों से सदा के लिए मुक्त हो गए। उदारता में ईश्वर की बराबरी कौन कर सकता है।

सन् १५४१ की अप्रैल सात तारीख आई। यह फ्रांसिस की पैंतीसवीं

वर्षगांठ थी। यात्रा की सारी तैयारियां पूरी हो चुकी थी। वेड़ा वंध चुका था, रसद लादी जा चुकी थी, सब यात्री जहाज पर चढ़ चुके थे। मन्सिल्यास और पौल कामरीनो के साथ फ्रांसिस "संतियागो" जहाज पर चढ़े। घंटी बजी, पालें चढ़ीं, लंगर उठे, हवा के झोंकों से पालें भर गईं, संतियागो जहाज मंथर गति से हिलोरों को रौंदता, अतलांतिक समुद्र के वक्ष को चीरता, लहरों से अटखेलियां करता रवाना हो गया अथाह जल राशि में, अपनी लंबी, संकटपूर्ण, अनिश्चित यात्रा के लिए।

प्रेम के पथ पर

आज कल के वाष्प चालित जहाजों, विमानों तथा रेलगाड़ियों पर यात्रा करनेवालों के लिए सात समुद्र पार करनेवाले सोलहवीं सदी के यात्रियों के साहस का अनुमान लगाना कठिन है। आजकल के जहाज तीन ही सप्ताह में आसानी से भारत और यूरोप के बीच का फैसला तय कर लेते हैं। किन्तु संत फ्रांसिस के जमाने में न आजकल की सीधी राह थी, न यातायात की सुविधाएं। यूरोप से भारत आने में सप्ताह ही नहीं, महीने लग जाते थे। उस समय समुद्री यात्रा पर निकलना मृत्यु का आह्वान करना था।

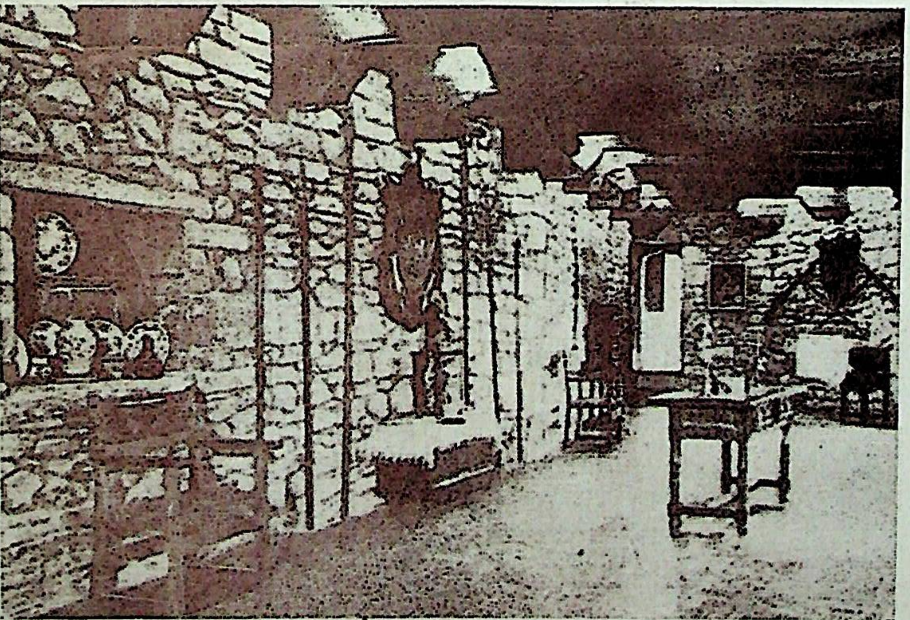
फिर भी नए देशों की खोज में, धन कमाने की लालसा लेकर घर छोड़नेवाले यात्रियों की कमी न थी। भीड़ के कारण जहाजों में जगह नहीं मिलती थी। जितने पोत नए देशों की ओर निकलते, उनमें यात्री इस तरह ठसाठस भरे रहते कि हिलने-डुलने का भी स्थान न मिलता। सौभाग्य से रईसों और धनिकों को लेटने भर की जगह मिल जाती थी, करवटें बदलने के लिए सवेरे तक ठहरना पड़ता। गरीब और सर्वसाधारण लोगों की बात दूसरी थी। वे बेचारे दिन भर सूर्य की गरमी में डेक पर तपते और उसी जगह शीत में ठिठुर कर रात काट लेते। वर्षा में भी उनको कोई आश्रय नहीं मिलता। शारीरिक आवश्यकताएं भी मुश्किल से पूरी हो पातीं। पेय जल का अभाव तो उन्हें और भी परेशान कर देता। भोजन के विषय में कोई क्या कहे? यदि शरीर को प्राण से जुड़ाए रखने के लिए नमकीन मछली और बिस्कुट के कुछ टुकड़े मिल जाते तो उनका अहोभाग्य था। अफ्रीका के पश्चिमी तट से होकर विषुवत् रेखा- पार

करते-करते यात्रियों के शरीर और कपड़ों से दुर्गंध निकलने लगती। और यात्रा खतम होते-होते पानी इतना कम हो जाता कि हौजके पेंदेमें जमी काई कीटाणुओं का अड्डा बन जाती। तो भी प्यासे यात्री उसी में से एक दो कटोरा पानी पीने के लिए हौज पर टूट पड़ते। उन्हें मैला पानी पीने के नतीजों का खयाल विलकुल नहीं रहता। इन सब दुर्व्यवस्थाओं के कारण उस अनंत जलराशि में तैरता जहाज चलता-फिरता अस्पताल का रूप धारण कर लेता। ऐसे निर्जन स्थान में ठोस स्थल से दूर, उन बेचारों की परिचर्या ही क्या हो सकती थी। वहुत तो अथाह समुद्र के तरल आंचल के सुपुर्द कर दिए जाते।

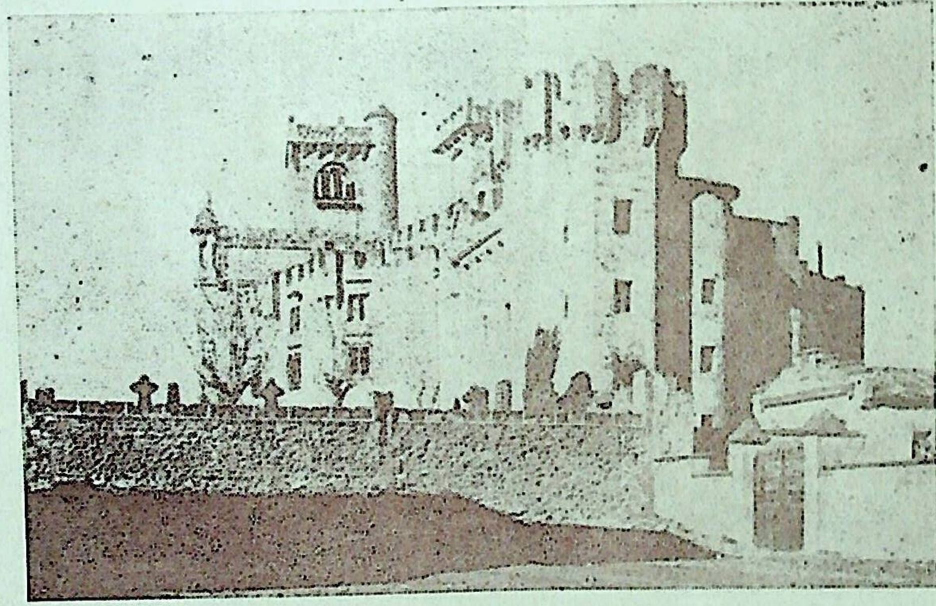
संत फ्रांसिस का जहाज अपने अन्य पांच साथी जहाजों में प्रमुख था। संतियागो शस्त्र से लैस जहाज था जिस पर भारत के भावी पुर्त्तगाली गवर्नर मार्टिन अफोंसो दसुजा पद भार ग्रहण करने गोआ जा रहे थे। इस पर सात सौ से अधिक यात्री थे। इनमें से कुछ धन के लोभ में निकलते व्यापारी थे, कुछ सैनिक वर्ग के थे, पुर्त्तगाली सत्ता के नाम पर अपनी जान की बाजी लगा देनेवाले, जिनके विना पुर्त्तगाली जहाज बड़ी कठिनाई से अपनी यात्रा शुरू कर सकता था। उन यात्रियों में कुछ तीसरी श्रेणी के लोग भी थे, जिनकी गणना अव निर्दय, नृशंस लोगों में की जाती हैं, जिनके धनोपार्जन का एकमात्र साधन था निर्मम मानव व्यापार। जहाज पर के यात्री पुर्त्तगाल के अभागे अपराधी वर्ग के थे, जिन्हें अपना काला मुंह छिपाने के लिए मातृभूमि में जगह न थी। वे स्वदेश से खदेड़े जा रहे थे, "काला पानी" के लिए। जीवन-यापन के लिए पुर्त्तगाली सरकार ने मोज़ांबीक और फारस की खाड़ी में बसे, ओरमुज शहर में इनका प्रवंध कर रक्खा था।

उन पुर्त्तगाली यात्रियों की एक और विशेषता थी। पुर्त्तगाली स्त्रियों का अभाव। पुर्त्तगाली कानून के अनुसार गौरवर्ण स्त्रियों को देश के वाहर जाने पर कठोर नियंत्रण था। अतः जव पुर्त्तगाल के मर्द विदेश में जीवन यापन की सामग्री जुटाने में रात दिन एक करते, तो उनकी स्त्रियां विरह की रातें काटा करतीं। उन प्रवासी पुर्त्तगालियों के आचरण पर इस अनैतिक कानून का वहुत बुरा प्रभाव पड़ता। इसे दूर करने में फ्रांसिस को एड़ी चोटी का पसीना एक करना पड़ेगा।

गवर्नर मार्टिन अफोंसो दसुजा को संत के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। वे सदा



जेवियर गढ़ की बैठक (पृष्ठ ४४)



नव्वार के नभ में सिर उठाए जेवियर का गढ़ (पृष्ठ ४५)

उनकी सुविधा का ख़याल रखते। उन्हीं के आदेश के अनुसार संत को संतियागो पर एक अलग कोठरी मिली थी और उनका भोजन भी अन्य रईसों के समान वाइसराय के रसोईघर में बनता था। किन्तु इन सुविधाओं से सन्त फ्रांसिस को कोई सरोकार नहीं था। वे भारत जा रहे थे, भारत के राज्यपाल की संगति में, उनके जैसा भारत पर शासन करने नहीं, प्रेमदान करने। प्रेमदान का वह कार्य लिसवन में ही आरंभ हो गया था और ज्यों-ज्यों भारत निकट आता गया, उस कार्य में अधिक दत्तचित्त होते गए। उनका कार्यक्रम तैयार था, त्याग, सेवा और प्रेम, संत के लिए संतियागो पर उस प्रेम के योग्य पात्र थे, वे उनकी सेवा के इच्छुक और उनके त्याग की कसौटी भी थे। वहां मखमल पहननेवाले अमीर थे, रोटियों के लिए तरसनेवाले गरीब थे और बीमारियों के क्रूर पंजे में फंसे मरीज भी थे। संत फ्रांसिस अपने गरीब बंधुओं के लिए अमीर मित्रों से भीख मांगते, अपने हाथों रोगग्रस्तों का दवा-उपचार करते। वे उनकी आध्यात्मिक देखभाल करते, उनके पापस्वीकार सुनते और अंतिम संस्कार द्वारा ढाढस दिला कर मृत्यु के लिए उन्हें तैयार करते। प्रति दिन वे जहाज भर के लोगों को धर्मशिक्षा देते और प्रत्येक रविवार को धर्मोपदेश करते। इन्हीं कामों में उनका सारा समय बीत जाता। फिर उषा आती, और संत फ्रांसिस अपना मधुर मुस्कान लेकर पुनः अपने दैनिक कार्य में संलग्न हो जाते। संतियागो आगे की ओर सरकता जाता, लेकिन संत फ्रांसिस की दिनचर्या वही बनी रहती।

पश्चिमी अफ्रीका के गिनी तट के नजदीक आते-आते पुर्त्तगाली बेड़ा उन भयंकर "शान्तियों" में फंस गया जिनमें कुशल नाविक भी असमर्थ और असहाय हो जाते हैं। प्रत्येक जहाज को इस भीषण कष्ट का सामना करना पड़ता था। हवा के अभाव से जहाज न आगे जा सकता था, न पीछे ही मुड़ सकता था, एक स्थान पर विषुवत् रेखा के ठीक नीचे जलता-झुलसता स्थिर रहता। संतियागो को भी इन्हीं "शान्तियों" से गुजरना पड़ा।

ऐसी परिस्थिति में धैर्यवानों का भी धैर्य छूट जाता, शरीर तो सूर्य के ताप से झुलसता ही, उनके अंतर में भी एक ज्वाला धधक उठती, जिसकी लपट उनके आचार-विचार, बातचीत में भी कटुता तथा शुष्कता ला देती। ऐसे कठिन समय में फ्रांसिस उन बेचारों का सहारा बनते। अपनी बातों और आचरण से

उनकी सहायता करते। उनके सेवा-कार्यों से प्रभावित होकर सब यात्री उन्हें "सन्त पादरी" कहने लगे। अन्त में उत्तमाशा अंतरीप से होता हुआ संतियागो मडागास्कर की बगल काटता, मोजांबीक पहुंचा। मोजांबीक, पुर्त्तगाली अपराधियों का उपनिवेश था।

मोजांबीक में

मोजांबीक के तट से जहाज के लगते ही फ्रांसिस ने सबसे पहले रोगियों के लिए आवश्यक सामग्री जुटाने पर ध्यान दिया। इनकी आर्थिक सहायता का भार उन्होंने पौल कमरीनो और मनसिल्यास के हाथ सौंपा। स्वयं उनकी आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति में दत्तचित्त हो गए। उन्हें संत पिता से विशेष अधिकार प्राप्त थे। अधिकार पत्र की एक धारा के अनुसार वे संपूर्ण पूर्व में पूर्ण दंडमोचन प्रदान कर सकते थे।

इस महान अधिकार के उपयोग का पहला अवसर उन्हें मोजांबीक में मिला। जब रोगियों को इस विशिष्ट अधिकार का पता चला तो उनके आनंद का ठिकाना न रहा। ऐसा अपूर्व आश्वासन पा बहुतेरे निर्भय होकर मृत्यु का आलिंगन करते थे। मृत्यु इस जीवन का सबसे कठोर नियम है, इससे कोई भी नहीं बच सका है। मृत्यु है उनके लिए, जिनका जीवन दूषित होता है, जिन्हें ईश्वर को पाने का निश्चय नहीं रहता। किंतु मरते समय जिन्हें प्रभु येसु के दिए पवित्र संबल प्राप्त होते हैं, उनकी अंतिम यात्रा में किसी प्रकार का डर नहीं रह जाता।

अफ्रीका तट पर पुर्त्तगालियों ने एक अस्पताल बनवाया था। अस्पताल के अधिकारियों के रहने का प्रबंध इस मकान से कुछ हट कर किया गया था। इसी अस्पताल में संत फ्रांसिस ने जहाज के रोगियों को भर्ती कराया। निकट ही एक झोपड़ी में उन्होंने अपने दो साथियों के साथ डेरा डाला। गवर्नर, पल्ली पुरोहित तथा अन्य अधिकारियों ने उन्हें अपने साथ रहने का आग्रह किया, किन्तु संत ने उनकी एक न सुनी। पुर्त्तगालियों के महलों से उन्हें वह झोपड़ी अधिक पसंद आई। वहाँ से वे हर क्षण उन असहाय मरीजों की मदद कर सकते थे।

सितंबर महीने में संतियागो मोजांबीक पहुंचा था। तब तक हवा का रुख बदल चुका था। अब भारत के लिए अनुकूल वायु आगामी वर्ष के अगस्त महीने

के पहले शुरू नहीं होगी। शरद काटने के लिए समूचे बेड़े को अफ्रिका के ही तट पर रुक जाना पड़ा। उस जाड़े में फ्रांसिस के अथक परिश्रम करने पर भी चालीस आदमी काल के गाल में चले गए। अन्त में फ्रांसिस स्वयं रोग के शिकार हुए। मिट्‌टी की काया परिस्थितियों के साथ संघर्ष से अवश्य घिस जाती है। लगातार मिहनत, कम भोजन और नाम मात्र को आराम की वजह से उनका जीर्ण शरीर बुखार से जल उठा। फिर भी फ्रांसिस दूसरों की सेवा-शुश्रूषा करते ही रहे। भाग्यवश यात्रियों में डाक्टर भी थे, श्री सरेवा और श्री जोआंव। डाक्टर जोआंव ने फ्रांसिस को खाट पर आराम करने को कहा, लेकिन संत को बुखार से भी अधिक एक दूसरी चिन्ता सता रही थी। उन्होंने डाक्टर से रात भर के लिए छोड़ देने का आग्रह किया। एक नाविक की हालत चिन्ताजनक थी, वह कई दिनों से बेहोश पड़ा हुआ था। उसकी आत्मा किस दशा में होगी, यही सोच फ्रांसिस को परेशान कर रहा था। दूसरे दिन भोर को जब डाक्टर महाशय फ्रांसिस की झोपड़ी में पधारे तो उन्हें अपनी ही आंखों पर विश्वास न हुआ। लकड़ी की पटरियों से बनी और नारियल की रस्सी से बुनी खाट पर एक पुरानी चादर और एक तकिया पड़ा था जिस पर वह रोगी नाविक लेटा हुआ था। बगल में ही संत एक तख्ते पर लेटे उससे बातें कर रहे थे। खाट पर रखते ही नाविक की चेतना लौट आई थी। उसने पापस्वीकार कर पवित्र संबल ग्रहण किया था और उसी दिन शाम को इस दुखमय संसार को छोड़ अपने प्रभु से मिलने चला गया।

इस प्रकार के वीरतापूर्ण सेवाकार्य में फ्रांसिस का बल क्षीण होता गया। अब उनकी पारी आई। खाट से उठना भी मुश्किल हो गया। ज्वर से उनका सारा शरीर तवे की तरह तप रहा था। उन्हें चेतना भी छोड़ चली थी, यदा कदा उन्हें होश हो आता था। ऐसी हालत देख डा० सरेवा उन्हें जबरदस्ती अपने डेरे में उठा ले गए। नौ बार रुधिर पात कराया गया, तब भी तीन दिनों तक वे चेतनाहीन मृतप्राय पड़े रहे। उस मूर्छित अवस्था में वे कुछ न कुछ बड़बड़ाते रहते। पर उनकी बातें समझ में नहीं आती थीं। लेकिन पारलौकिक विषय पर बातचीत आरंभ करते ही उनकी चेतना लौट आती और जीभ खुल जाती थी। डाक्टरों की उपचर्या से वे धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ करने लगे और पूरी तरह स्वस्थ होने के पहले ही वे फिर अपने पुराने सेवाकार्य में संलग्न हो गए।

प्रसन्नचित्तता ईश भक्तों की एक विशेषता है। जो अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहते हैं, उनकी आत्मा में ऐसी शान्ति विराजती है, जो वाह्य कठिनाइयों की आंधी में अपना संतुलन नहीं खोती। विपत्तियों में उन्हें अपने प्रेम-प्रदर्शन का नया साधन मिलता है। आपदाओं की आग में उनकी भक्ति स्वर्ण सी चमक उठती है। स्वभावतः उनके भक्तों के मुखमंडल से आंतरिक संतुष्टि और हर्ष की आभा छिटकती रहती है। ऐसे ही भक्तों में एक फ्रांसिस भी थे।

रोगियों की सेवा करते-करते उनका शरीर थक जाता, वे उनके कपड़े धोते, उन्हें भोजन कराते, उनके मलमूत्र साफ करते। इसी में सारा दिन कट जाता। उन खिन्नमुखों के लिए वे प्रसन्नता के दूत थे। और क्यों नहीं, उनकी पारदर्शी आंखें अस्थिपंजर के ढांचे में मानवता की करुणाजनक, हृदयविदारक रूप ही नहीं देखतीं, किन्तु उन कराहते कंकालों में साक्षात् अपने प्रभु की सेवा करते, जिन्होंने कहा था, "जो कुछ तुमने मेरे इन नन्हे भाइयों के लिए किया है वह मेरे लिए किया है।" खीस्त के इन्हीं नन्हे भाइयों की सेवा करते तथा उनको धर्मोपदेश देते संत फ्रांसिस के ६ महीने मोजांबीक में बीत गए।

नाव पर यात्रा

भारत के भावी राज्यपाल द सुजा गोआ पहुंचने के लिए अधीर हो रहे थे। समूचे बेड़े के साथ उस लंबी यात्रा के अंतिम फासले को वर्ष के प्रथम मासों में तय करना असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य था। लेकिन राज्यपाल को यह विलंब असह्य हो उठा। उनकी अभिलाषा थी कि पूर्वगामी राज्यपाल को किसी अनुचित कार्य में पकड़ पाऊं तो पुर्त्तगाली राजा के सामने मेरी योग्यता की धाक और भी जम जाए। इस हेतु पुर्त्तगाली बेड़े को मोजांबीक में ही छोड़ वे एक छोटी नाव पर भारत के लिए रवाना हो जाना चाहते थे। "कुलाम" पर चढ़ते समय वे नाविक शिरोमणि वास्को द गामा के तृतीय पुत्र एवं गोआ के तत्कालीन गवर्नर एस्तेवान द गामा के भाई, अल्वारो द अताइदे द गामा को कैद कर अपने साथ लेते गए। अल्वारो को कैद की दुर्दशा महीनों उठानी पड़ी जिसका कुपरिमाण अफोंसो द सुजा के मित्र होने के नाते, संत फ्रांसिस को दस वर्ष बाद भोगना पड़ा। कुलाम जैसी नाव पर अरब सागर को पार करना दुस्साहस मात्र

था। किसी भी समय तुर्क जल दस्युओं का उन पर आक्रमण हो सकता था, या वह छोटी नाव लहर के थपेड़े खाकर विशाल सागर के गर्भ में विलीन हो सकती थी। उस यात्रा की भयानकता को समझ द सुजा ने फ्रांसिस को अपने साथ ले चलना अच्छा समझा। यदि मृत्यु से अकाल ही साक्षात्कार हो गया, तो कम से कम पुरोहित की संगति में पवित्र गिरजा के संस्कारों से सम्पन्न इस संसार से विदा होने का आश्वासन तो मिलेगा।

पहले मुसलमान से भेंट

१५४२ की फरवरी में संत फ्रांसिस अपने दो साथियों को संतियागो पर ही छोड़ राज्यपाल के साथ कुलाम पर भारत के लिए रवाना हो गए। हवा की प्रतिकूलता के कारण अफ्रीकी तट से सटकर ही नाव चल रही थी। पहला मुकाम केनिया का मालिन्दी नामक बंदरगाह हुआ। मालिन्दी नगर में मुसलमानों की जनसंख्या अधिक थी, लेकिन यहाँ भी पुर्त्तगालियों का आधिपत्य था। संत फ्रांसिस की भेंट मुहम्मद साहब के अनुयायियों से जीवन में पहली बार हो रही थी। जहाज से उतर कर फ्रांसिस जब एक मृतक की अन्त्येष्टि के लिए शहर में घुसे तो उनकी आंखें एक विशाल क्रूस पर पड़ी। पुर्त्तगालियों द्वारा बनाए इस पत्थर के क्रूस को देख संत का हृदय आनंद विभोर हो उठा। दयासिन्धु भगवान येसु की अमर निशानी उस मुसलमानी देश में सबों को अपने प्रेम की अमर कहानी सुनाने को हाथ पसार कर बुला रही थी। बात की बात में संत के चारों ओर मुसलमानों का मजमा इकट्ठा हो गया। ख्रीस्तीय अन्त्येष्टि की विधि को देख एक मुसलमान साहस बटोर कर संत के पास आया। ख्रीस्तीयों के जाग्रत विश्वास पर उसके आश्चर्य का ठिकाना न था कि एक ख्रीस्तभक्त ये हैं जो अपने धर्मगुरु एवं ईश्वर की आज्ञा ऐसे उत्साह से पालन करते हैं और एक उसके सहधर्मी हैं जिनकी धार्मिकता बिलकुल शिथिल हो चुकी है। मालिन्दी शहर में सत्रह मसजिदें थीं, पर तीन को छोड़ सबकी सब खाली ही रहती थीं। इस आगंतुक की स्पष्टवादिता देख संत दंग रह गए। उन्होंने उसे ख्रीस्तीय शिक्षा की मुख्य मुख्य बातें बतलाईं किन्तु श्रोता पर इसका कम प्रभाव पड़ा। उसके कुछ समय बाद एक मुल्ला से उनकी भेंट हुई। ये जनाब भी अपनी बिरादरी में मजहब की कमी देख हिम्मत हार

चुके थे। अवरुद्ध स्वर में उन्होंने संत से कहा, "यदि खुदा दो वर्ष के अन्दर अपने लोगों को दर्शन देने नहीं आते हैं, तो हम सब इस्लाम का त्याग कर देंगे।"

सोकोत्रा में

मालिन्दी से चलकर कुलाम अदन के मुहाने पर स्थित सोकोत्रा द्वीप पर लगा। अधिकार के लिए पुर्त्तगालियों में और अरबों में यहां बहुत दिनों से रस्साकशी चल रही थी। अन्त में पुर्त्तगालियों ने वहां एक दुर्ग खड़ा कर दिया लेकिन वह अधिक दिन टिक न सका और दुर्ग के पतन के साथ वहां से पुर्त्तगालियों के पैर उखड़ गए। संत फ्रांसिस के आगमन के समय सोकोत्रा अरबवालों के अधीन था। इन शासकों के बर्बर पंजों में सोकोत्रा की नेस्तोरी जनता कराह रही थी। यहां के नेस्तारी मतावलम्बी मर्दों को अधिकतर प्रेरितों के नाम दिए गए थे और स्त्रियों में अधिकतर मरियम का नाम प्रचलित था। संत फ्रांसिस को यह पता न था कि ये यथार्थ में रोमी ख्रीस्तीय नहीं हैं। इसी भ्रम के कारण उन्होंने उनके बच्चों को बपतिस्मा भी दिया। भूल से संत फ्रांसिस मुसलमान बच्चों को भी बपतिस्मा देने बढ़े। वे अबोध बच्चे डर के मारे अपनी माताओं के पास भागे जो अपने भयभीत पुत्रों को देख चिल्लाती बाहर निकलीं। यह तमाशा देख ख्रीस्तीयों ने संत से उन्हें संस्कार न देने का अनुरोध किया। उनके विचार में ऐसे लोग उस महान संस्कार के लिए तैयार नहीं थे। संत के पत्रों से पता चलता है कि सोकोत्रा में इन विभेदकों के गिरजाघर भी थे जहां अखंड दीप जलते रहते थे। इन गिरजाघरों में क्रूसकाय भी मिले। प्रत्येक गाँव में एक प्रधान नियुक्त था जो पौरोहितिक कार्य सम्पन्न करता था। लोग दिन में चार बार ठकरों की आवाज सुनकर गिरजाघरों में प्रार्थना के लिए जमा होते। उनकी प्रार्थना की भाषा कलदी थी जो सोकोत्रा का कोई भी निवासी नहीं समझ पाता था।

इन अरक्षित ख्रीस्तीयों की दशा देख संत को बड़ा दुख हुआ। सोकोत्रा निवासी उन्हें रोक रखना चाहते थे और संत भी वहां रुक जाते लेकिन राज़्यपाल इससे सहमत न हुए। उनसे विदा लेते समय संत फ्रांसिस उनके लिए दूसरे पुरोहित भेजने की प्रतिज्ञा करते गए। संत ने जी जान से इस प्रतिज्ञा को पूरा करने की कोशिश की, किन्तु न गोआ और न पुर्त्तगाल से ही कोई वहां जा सका। इसके दो कारण थे : एक तो प्रचारकों की कमी, दूसरा पुर्त्तगाली अधिकारियों का असहयोग, जो आगे चलकर संत फ्रांसिस के लिए घोर क्लेशों का कारण होगा।

चौथा परिच्छेद

भारत भूमि

प्रथम दर्शन

कुलाम के मोजांबीक छोड़े दो महीने से अधिक हो गए थे। अरब सागर पर डगमगाती यह खिलौना-सी नाव पूरब की ओर धीरे-धीरे सरकती जा रही थी। राज्यपाल द सुजा भारत पहुंचने के लिए जितने व्यग्र न थे, उससे कहीं अधिक संत थे। लेकिन दोनों के कारण भिन्न थे। उनकी आंखें बराबर पूरब की ओर लगी रहतीं, निशीथ के अंधकार में जब कुछ सूझता नहीं, तब वे बन्द होतीं और उषा के उजाले में फिर बड़ी उत्सुकता से दूर, बहुत दूर किसी भूभाग की खोज में व्यस्त हो जातीं।

ढाई महीने की प्रतीक्षा के बाद उन्हें दूर क्षितिज में कुछ काला-सा धब्बा दीख पड़ा। ज्यों-ज्यों कुलाम बढ़ता गया, त्यों-त्यों धब्बा भी स्पष्ट होता गया। जैसे-जैसे धब्बा बढ़ता गया, वैसे-वैसे शाही शासक और प्रेम प्रचारक के हृदय की धड़कन भी बढ़ती जा रही थी। अन्त में भूभाग स्पष्ट हुआ, कुछ हरियाली नजर आई। यह पेड़ों की हरियाली थी, तट पर लगे नारियल के वृक्षों की, जिनकी दो कतारें भूखंड को चीरती हुई भीतर चली गई थीं। कुछ उन्नत सीधे खड़े थे मानों आक्रमणकारियों को रोकने के लिए प्रहरी अपनी-अपनी जगह डटे हों और कुछ झुककर सागर की लहरों का बार बार स्पर्श करते थे, मानों यात्रियों के चरण स्पर्श करने का प्रयास कर रहे हों। बीच-बीच में आम के घने पेड़ भी दीख पड़ते; महीनों जल ही जल देखकर थकी आंखें शस्य श्यामल सुषमा से शान्त करके पुर्त्तगाल के राज्यपाल ने कहा, "यही भारत है।"

ख्रीस्त के प्रेरित ने अपनी आंखें मींची और उस सुषमामयी भूमि को ध्यान से देखा जिसके तट पर बालू के कोटि-कोटि रजत कण बिखरे थे। फ्रांसिस ख्रीस्त के प्रेमदान से इस अपरिचित प्राचीन भूमि को सुरक्षित करने तथा उसे

पवित्र गिरजा के स्निग्ध आंचल में बटोरने आ रहे थे। कैसा विस्तृत कार्यक्षेत्र था यह, कैसी स्मृद्धिशाली थी इस देश की परम्परा, कैसा विचित्र था यह नया संसार देखते-देखते कुलाम भूखंड से टकराया। गोआ इसका नाम था, जिसे पश्चिमी घाटी से निकली मान्दोवी और जुआरी नदियां एक दूसरे का हाथ पकड़े बाकी भूभाग से अलग करके इसे एक द्वीप का रूप दे रही थीं। इसी भूखंड पर मान्दोवी नदी के तट पर गोआ नगर बसा है। इसी बन्दरगाह में कुलाम छठी मई १५४२ को आकर लगी।

संत फ्रांसिस का कुलाम भारत तट पर लगनेवाली पहली पुर्त्तगाली नाव नहीं थी। जब स्पेन अपना साम्राज्य पश्चिम की ओर फैला रहा था, उसके पड़ोसी देश पुर्त्तगाल में आत्म-विस्तार की लालसा जगी थी। मसालों की महक दूर पुर्त्तगाल तक पहुँच गई थी। वहाँ के निर्भीक नाविक काली मिर्च की खोज में खीस्तीय शिक्षा की मशाल हाथ में लिए चल पड़े थे। दुर्भाग्यवश काली मिर्च ने खीस्तीय शिक्षा की मशाल कुछ धीमी कर दी। १४९७ की आठ जुलाई को वास्को द गामा तीन जहाजों और करीब १७० यात्रियों के साथ भारत की खोज में निकला था। दस मास और दो सप्ताहों की कठिन यात्रा के बाद २१ वीं मई १४९८ को पहली बार भारत भूमि पर उसके पैर पड़े। पुर्त्तगाली साम्राज्य के सूर्योदय की प्रथम लालिमा कालिकट के बन्दरगाह में ही दिखाई पड़ी। इस अरुणोदय के बाद साम्राज्य भास्कर को मध्याह्न तक पहुंचते देर न लगी। लेकिन जिस प्रकार चंद घंटों में सूर्य अपनी चरमसीमा को प्राप्त हो जाता है और चन्द ही घंटों में वह अस्ताचल को भी चला जाता है, उसी प्रकार पुर्त्तगाली साम्राज्य का भी सूर्य उगा और अस्त हो गया। इस व्यापारिक साम्राज्य को सुदृढ़ करने के लिए प्रति वर्ष पुर्त्तगाल से सैनिक भेजे जाते थे। दो-दो वर्ष पर नए राज्यपाल नियुक्त होते थे। भारतस्थित पुर्त्तगाली दुर्गों की रक्षा का भार इन्हीं सैनिकों के कंधों पर था। इन्हीं की रक्षा में मसालों से लदे जहाज भारत से पुर्त्तगाल पहुंच जाते थे। पुर्त्तगाल ने गोआ को अपनी राजधानी लिसबन का प्रतिरूप बनाने में कोई बात उठा नहीं रक्खी थी। उसकी कृपा से मान्दोवी नदी के तट पर लगा उद्यान सुषमा और सौंदर्य में दिनानुदिन बढ़ता गया।

तत्कालीन गोआ

उस सदी की चौथी दशक तक गोआ की आवादी दो लाख से अधिक हो गई थी। गोआ देश-विदेश के व्यापारियों का केन्द्र वन गया था। पुर्त्तगाली अफसरों तथा सैनिकों की चमचमाती पोशाकों से नगर चकाचौंध रहता था। वायसराय का महल, महाधर्माध्यक्ष की कोठी और सरकारी कर्मचारियों के आवास में सब जगह पुर्त्तगाली चहल-पहल थी, सव पर पुर्त्तगाली रंग चढ़ा हुआ था। पुर्त्तगाल के वाहर भी पुर्त्तगालियों ने गोआ को पुर्त्तगाल का ही एक हिस्सा बना लिया था। पुर्त्तगाली रईसों के खोखले वैभवप्रदर्शन, उनके खेल तमाशे, उनके आचार-विचार, उनके वेश-भूषा सब पर पुर्त्तगाल की ही छाप थी। ऐश्वर्य के अभिमान से अकड़ते मर्दों के लिए तो आनन्दोत्सव के अनेकों आयोजन थे, किन्तु उनकी वगेमों को वाहर निकलने की मनाही थी।

गोआ जैसे पुर्त्तगाली नगर में ऐश्वर्य का जो सारहीन प्रदर्शन होता था उसका वर्णन उस काल के लेखकों की कितावों में पढ़कर आजकल हम लोगों की हंसी रोकते नहीं रुकती। सड़कों पर चलते पुर्त्तगाली रईसों के आगे-पीछे दास लगे रहते, छत्री थामे, हथियारों से लैस, अपने मालिकों के वस्त्र हाथ में पकड़े, उनकी आज्ञा वजाने को आठों याम प्रस्तुत। रईसी का यह हास्यास्पद खिलवाड़ केवल सड़कों और चौराहों पर ही नहीं होता था, गिरजाघर भी इनसे अछूते नहीं रहे। सौभाग्यवश यह दैनिक घटना न थी, सप्ताह में एक बार रविवार को या किसी त्योहार के दिन। उस दिन जब वे पालकियों पर सवार, सोने चान्दी के वस्त्रों तथा आभूषणों से लदे गिरजाघरों की ओर चलते, तो जवाहरातों तथा मोतियों से सुसज्जित उनकी वीवियां क्यों उनसे पीछे रहतीं। नौकरों तथा दासों का तांता लगा जाता। वे अपने मालिकों के घुटने टेकने के लिए मखमल के तकिए, कीमती कालीन और रत्नजटित प्रार्थना पुस्तक लिए उनकी सेवा में आंखें विछाए रहते। वीवियों के प्रार्थनालय पहुंचने पर उनको अन्दर तक पहुंचाने के लिए दो सेवक द्वार पर हाजिर रहते कि कहीं उनके नाजुक पैरों को चोट न आ जाए या उनके शृंगार किसी प्रकार भंग न हो जाएं।

ऐसे ही तुच्छ विलास और असार चमक-दमक में गोआ खोया हुआ था,

जब संत फ्रांसिस वहां पहुंचे। उस कलुषित वायु में उनके लिए सांस लेना अवश्य कठिन हुआ होगा। लेकिन दुर्गंध से भाग कर तो कोई उसे दूर नहीं कर सकता। वे तुरंत सुधार के कार्य में लग गए।

धार्मिक तथा राजनैतिक दशा काफी अस्त-व्यस्त थी। ठीक उसी समय, परम प्रभु येसु के प्रेम प्रचारक, भक्त शिरोमणि उनका दिव्य संदेश लेकर भक्तों की इस पुण्य भूमि में पधारे, भारतीय भक्तों की खोज सफल करने और भारत के सुपुत्रों को सच्ची भक्ति और सच्चे प्रेम की सुगम, सुरक्षित राह दिखाने के लिए। संत फ्रांसिस भारतीय भक्ति की पद्धति उलटने नहीं किन्तु उसे परिशुद्ध तथा परिपूर्ण करने आए थे। तुलसीदासजी से सोलह सदी पूर्व आराध्यदेव ईसा अपने युग के भक्तों के लिए अपने को सहज-सुलभ बनाने के अभिप्राय से मानवीय शरीर धारण कर इस संसार में पधारे थे और उन्होंने अपने ईश्वरत्व को संसार के सामने प्रमाणित किया था। खेद की बात है कि भारतीय भक्तों से खीस्त के संदेशवाहक संत फ्रांसिस की भेंट न हो सकी। संभव है कि उस भेंट से प्रभावित हो भारतीय भक्त ईसा को 'भक्तन के भक्त' स्वीकार करते और आज खीस्त की गिरजा के इतिहास में उनके नाम स्वर्णाक्षरों में लिखे मिलते। आज खीस्त के प्रेम का प्रचार-कार्य शंकित आंखों से नहीं देखा जाता, न खीस्तीय विदेशी सत्ता के पोषक और सहयोगी ही कहे जाते।

प्रथम प्रेरित थोमस

ईसा के प्रथम सदी से ही भारत में खीस्तमत का आरंभ उनके पट्टु शिष्यों, महान प्रेरित सन्त थोमस तथा सन्त बर्थलोमी के द्वारा हुआ। अपने प्रभु के आज्ञानुसार थोमस हजारों कठिनाइयों का सामना करके भारत पहुंचे थे। इन्होंने अपने हाथों से केरल के कई कुलीन परिवारों को खीस्तीस दीक्षा दी थी। दुख की बात है कि संत थोमस की उमंग और उत्साह से उनके भारतीय अनुयायी अनुप्राणित नहीं हुए। भारतीय खीस्तीयों का वह समुदाय तो फलता-फूलता गया, लेकिन केरल के अन्तर्गत ही सीमित रहा। अन्य लोगों को खीस्तीय धर्म में दीक्षित करने का श्रेय संत थोमस खीस्तीयों को न मिल सका। यह सौभाग्य सोलहवीं सदी में विदेशियों के लिए सुरक्षित था। पुर्त्तगालियों के भारत आने

पर खीस्त मत के प्रचार का नया आरंभ हुआ। यह कार्य भी सम्पन्न न हो पाता यदि इसे पुर्त्तगाली राजा की छत्रच्छाया नहीं प्राप्त होती। उन्हीं की प्रेरितिक भावना के फलस्वरूप गोआ नगर के आसपास के लोगों ने खीस्त की प्रेमशिक्षा स्वीकार की थी। इन लोगों को पुर्त्तगाली राजा के आज्ञानुसार कुछ आर्थिक सहायता भी मिला करती थी।

केरल से गोआ कोई चार-पांच सौ मील उत्तर पड़ता है। उससे कुछ दक्षिण कन्याकुमारी अन्तरीप के समुद्री समाज से परित्यक्त परिया जाति के लोग थे, पददलित, शोषित, तिरस्कृत। पुर्त्तगाल के राजा की उदारता से ये भी खीस्तीय शिक्षा स्वीकार कर चुके थे, इन्हें भी राजा की सुरक्षा प्राप्त थी। लेकिन इन बेचारों के दुःख का अन्त नहीं हुआ था। हिन्दू समाज, जिसे इनके प्रति पहले भी कोई सहानुभूति नहीं थी, अब इन्हें शंका की दृष्टि से देखने लगा था। और पुर्त्तगाली अफसरों का हृदय पुर्त्तगाल के राजा से बहुत ही भिन्न था। फलस्वरूप परिया लोगों को दोनों ओर से तमाचे खाने पड़ रहे थे। इनकी आध्यात्मिक देखरेख का भी कोई प्रबंध न था। यहां खीस्तीय पुरोहितों की बड़ी कमी थी। उनकी धार्मिक शिक्षा भी अधूरी थी, खीस्त मत के प्रति अल्प ज्ञान के अलावा वे कुछ नहीं जानते थे। उनको नाम मात्र का खीस्तीय कहा जाए तो उनके प्रति कोई अन्याय नहीं। गोआ नगर के पुर्त्तगाली खीस्तीयों का वर्णन तो हम ऊपर पढ़ ही चुके हैं। वे खीस्तीय तो थे, किन्तु अपने आचरण में खीस्त के सिद्धांत नहीं मानते थे।

कुलाम से उतर कर संत फ्रांसिस गोआ के धर्माध्यक्ष के महल की ओर चले। १५३४ में संत पिता ने गोआ को गिरजा का प्रचार क्षेत्र ठहरा दिया था और उसके चार वर्ष बाद गोआ के प्रथम धर्माध्यक्ष जुआन द आलबुकर्क कार्यभार ग्रहण करने भारत पहुंचे। पूरब भर में ये एकमात्र धर्माध्यक्ष थे, इनका इलाका मोजांबीक से मलाया तक फैला हुआ था। धर्माध्यक्ष से मिलकर सन्त फ्रांसिस ने सबसे पहले उनके चरणों में अपनी सेवा अर्पित की और तब अपनी नियुक्ति के प्रमाणपत्र दिखला कर, उनके आदेश के बिना, अपने विशिष्ट अधिकार का उपयोग कदापि न करने की शपथ ली। ऐसी दीनता तथा कर्त्तव्यपरायणता देख धर्माध्यक्ष का हृदय गद्गद् हो उठा। उन्होंने संत के प्रेरितिक कार्य पर अपना

आशीर्वाद दिया और कार्य आरंभ करने को प्रोत्साहित किया। यह दो अपरिचितों का मिलन था और चिरस्थायी गहरी मित्रता का प्रभात।

गोआ में कार्य

अति माननीय धर्माध्यक्ष से मिलकर हमारे संत स्थानीय फ्रांसिस समाजी बंधुओं से भेंट करने गए। गोआ के संत फ्रांसिस मठ में उस समय उनके तीस सदस्य थे।

शिष्टाचार के ये प्रारंभिक बातें पूरी कर संत ने अपना काम गोआ में ही शुरू किया। मोजांबीक की तरह यहां भी उन्होंने रोगियों की सेवा को अपने कार्यक्रम में प्रमुख स्थान दिया। वे दिन को उनकी सेवा-टहल में लगे रहते और रात को उन्हीं के पास अपनी चटाई बिछाकर लेट रहते। उनकी क्षीण से क्षीण कराह सुनते ही वे जाग उठते और अपने प्यार भरे शब्दों से उनकी पीड़ा हरने की कोशिश करते। यदि उनकी दशा शंकाजनक होती तो अंतिम संस्कार द्वारा उन्हें मृत्यु के लिए तैयार करते। सुवह होते ही वे उनके लिए मिस्सा चढ़ाते।

वे दोपहर की चिलचिलाती धूप में गोआ के तीन कैदखानों का फेरा लगाते। वे कैदखाने क्या थे, पशुशाला से भी वदतर। छोटी संकीर्ण कोठरियों में वंदी ठूंस-ठूंस कर रक्खे जाते। झाड़-वुहार की कोई क्या कहे, वहाँ शुद्ध वायु का भी जाना मुश्किल था। सवके सव रोग के अड्डे थे। ऐसी अस्वस्थ जगहों में भी आते जाते संत नहीं घवराते। वे उन वेचारों को अपने किए पर प्रायश्चित्त करने को उत्साहित करते। संत की मधु-सी बातें सुनकर वे अभागे अपना पापमय जीवन ग्रंथ उनके सामने खोल कर रख देते। संत फ्रांसिस उनका पाप स्वीकार सुनते और ख्रीस्तप्रदत्त अधिकार द्वारा उन पर पापक्षमा के शब्द उच्चारते।

गोआ की जनता को भी धर्मशिक्षा की वड़ी आवश्यकता थी। यहाँ नव-शिक्षित ख्रीस्तीयों की भरमार थी। पुर्त्तगालियों की भारतीय पत्नियों और उनके वच्चों तथा गुलामों को वपतिस्मा तो मिल गया था, लेकिन ख्रीस्तीय शिक्षा का ज्ञान उन्हें नहीं के वरावर था। फ्रांसिस समाजी तथा धर्म प्रान्तीय पुरोहित सब इस कमी को महसूस करते थे, लेकिन इसे दूर करने में वे लाचार थे। पुर्त्तगालियों में धर्म का वाह्य आडंवर मात्र था, उनमें न सच्चा धार्मिक

उत्साह था, न खीस्तीय सिद्धांतों का यथेष्ट ज्ञान ही। उनकी नैतिक दशा तो और भी हृदय को हिला देनेवाली थी। संत फ्रांसिस तुरंत इस कार्य में भिड़ गए वे हाथ में घंटी लेते और गोआ की सड़कों तथा गलियों में चिल्ला-चिल्लाकर लोगों को जमा करते। पवित्र माला नामक गिरजाघर में वे उन्हें उपदेश करते, अपनी टूटी-फूटी पुर्त्तगाली में खीस्त के सिद्धान्तों को दोहों में बैठाकर उन्हें कंठस्थ कराते और गा-गाकर सरल भाषा में उनका अर्थ समझाते। इस सुगम रीति से लोगों में दिलचस्पी भी पैदा होती और उन्हें दश आज्ञाओं तथा धर्म के अन्य सिद्धान्तों का अच्छा ज्ञान भी हो जाता। कुछ ही दिनों में गोआ की गलियां धार्मिक गानों से गूँजने लगीं।

कुष्टालय में

नगर के बाहर एक कुष्टालय था जहाँ अभागे कोढ़ी अपने अंगों को अपने ही आंखों सड़-सड़ गिरते देखते और जीवन से हताश हो मौत का क्षण-क्षण इंतजार करते। संत फ्रांसिस यहां भी पहुँचे। प्रत्येक रविवार को वे इनके साथ कुछ समय बिताते। सुबह में इनके लिए मिस्सा का बलिदान चढ़ाते। इन्हें परम-प्रसाद देते और प्रभु की दिव्य प्रेम ज्योति से उनका धूमिल आकाश प्रकाशमान करते। वे उन्हें हे पिता और प्रणाम मरियम जैसी सुन्दर-सुगम प्रार्थनाएं सिखाते, जिन्हें पढ़कर समाजच्युत अभागे ईश्वर के पितृभाव पर मनन करते। "हे पिता हमारे, जो स्वर्ग में है. . . .तेरी इच्छा जैसे स्वर्ग में, वैसे पृथ्वी पर भी पूरी हो।" ऐसे शब्दों के बार-बार जाप कर किस दुखी हृदय में जीवन की यातनाएं धैर्य से झेलने का बल नहीं आ जाता। और यदि अपनी वेदना से वे अधीर हो उठते, तो स्वर्गीय पिता से क्षमा मांगते "हमारे अपराध हमें क्षमा कर, जैसे हम भी अपने अपराधियों को क्षमा करते हैं।" संत फ्रांसिस ईश्वर के त्रिगुणों की याद दिलाकर उन्हें माता मरियम के सर्वोच्च पद और वात्सल्य का दिग्दर्शन कराते: 'प्रणाम मरियम, प्रभु तेरे साथ हैं, धन्य तेरे गर्भ का फल; हे सन्त मरियम, प्रार्थना कर हम पापियों के लिए' केवल इस दुखमय जीवन में नहीं, लेकिन विशेष करके उस महा क्षण में "मरने के समय"। इन सुन्दर प्रार्थनाओं को उन बेचारों के संग कह कर संत फ्रांसिस उनके दुःख का भार कुछ हल्का करते।

धीरे-धीरे मानव कुल की अभागी किन्तु कृतज्ञ संतान उन्हें अपना हितैषी और मित्र मानने लगी।

नगर में करुणासंघ नामक एक संस्था थी। असहायों को सहायता देना इस संघ का धर्म था। इस संघ के सदस्यों को भी संत की उदारता और उत्साह का प्रचुर प्रमाण मिला। किन्तु इन सब से बढ़ कर "सन्त पौल विद्यापीठ" पर इनकी विशेष कृपा दृष्टि रहती थी। इस गुरुकुल की स्थापना का श्रेय शाही उपदेशक दिएगो और अन्य दो सुहृद अयाजक गिहुएक वाज़ और कोस्मे आनेज़ को था। ईश्वर और व्यावहारिक वुद्धि की प्रेरणा से उन्होंने इस गुरुकुल की नींव संत फ्रांसिस के भारत आने के कुछ ही समय पूर्व डाली थी। शाही कृपादृष्टि से इन सज्जनों की देख-रेख में इस संस्था को पनपते देर न लगी। विद्यार्थियों की संख्या साठ तक पहुंच चुकी थी। इन छात्रों की एक ही लालसा थी, पुरोहित बनकर अपने देश की सेवा करना। पुर्त्तगाल के राजा के अनुदान से एक विशाल छात्रावास भी खड़ा हो गया था। इसमें संत की दिलचस्पी और कार्यदक्षता देख अधिकारियों ने इसे उनके सुपुर्द कर देना चाहा, पर भार वहन करना एकाकी संत फ्रांसिस की शक्ति के बाहर था। विवश होकर उन्हें इनकार कर देना पड़ा। दूसरी बात यह थी कि गोआ में उन्हें अधिक दिन रहना भी तो नहीं था। ऐसी उत्तरदायित्वपूर्ण संस्था का संचालन अपने कंधों पर लेकर वे गोआ से कहीं नहीं जा सकते थे। नए चरागाहों के लिए उनका दिल तड़प रहा था। किन्तु आश्वासन के लिए उन्होंने अपने दो साथियों में से एक को अपने बदले में देने का वादा किया।

शोषितों की सेवा

सितंबर का अन्त होते-होते जब पावस की अंतिम बूंदें दक्षिण भारत की पथरीली, प्यासी भूमि को तर कर रही थी, संत फ्रांसिस, गवर्नर द सुजा का आदेश पा अपने चिर इप्सित कार्यक्षेत्र की ओर चले। पश्चिमी घाटी के उस पार भारत के दक्षिण-पूर्वी कोने में द्रविड़ मछुओं की एक जाति रहती थी। इनमें से लगभग बीस हजार ने १५३५ और १५३७ के बीच बपतिस्मा ग्रहण किया था।

इन परिया लोगों की कहानी अति करुणाजनक है। ये अपने को मध्ययुगी

पांडूय खानदान के वंशज मानते थे। पर विधि की विडंबना से जीविका चलाने, तथा अपने मालिकों की लोलुपता से बचने के लिए उन्हें समुद्र की सतह की शरण लेनी पड़ती थी। मनार की खाड़ी में सीपियों का शिकार कर इन्हें अपने परिश्रम के फल, बिना मुनाफा के ही धनलोलुप पुर्त्तगालियों और मुसलमान व्यापारियों के हाथ बेच देना पड़ता था। इनके परिश्रम से दूसरे धनकुबेर बनते जाते और ये स्वयं दरिद्रता और बीमारी के कठोर पंजों में दिन-दिन फंसते जाते थे। तब पुर्त्तगालियों की तोपों पर इनकी नजर पड़ी और इनके अन्तर में एक बार फिर पान्डूय राज्य प्राप्त करने की आकांक्षा प्रबल हो उठी। इनके हताश जीवन में फिर आशा का संचार हुआ। यह स्थिति देख, धर्म और व्यापार का सेहरा पहन कर निकले पुर्त्तगालियों ने इनके बीच धर्मप्रचार करना शुरू किया।

यह आश्रय पाकर इन लोगों ने ख्रीस्तीय दीक्षा लेना स्वीकार कर लिया। इस कार्य के लिए कुछ फ्रांसिस समाजी और धर्मप्रान्तीय पुरोहित मीन-तट पर भेजे गए। लोगों को तुरंत बपतिस्मा तो दे दिया गया, लेकिन उनकी धार्मिक शिक्षा की कोई स्थायी व्यवस्था न हो सकी। फलतः उन्हें बपतिस्मा के बाह्य विधि का अनुभव मात्र हुआ, उसके अंतरंग चमत्कार तथा नए अधिकारों के साथ नई जिम्मेवारियों का ज्ञान नहीं हो सका।

१५३८ में जब उन पर मुसलमानों का फिर आक्रमण हुआ तो उन्हें ख्रीस्त-धर्म को त्यागते देर न लगी। उन दिनों मार्टिन अफोंसो द सुजा मलाबार के तट-वर्ती प्रान्त के पुर्त्तगाली कप्तान थे। उनके सैनिकों ने बेडलाई में मुसलमानों का मुकाबला किया। मुसलमानों को मुंह की खानी पड़ी। तब से परिया लोगों पर द सुजा का पिता जैसे प्यार बना रहा। पुर्त्तगाल में संत फ्रांसिस से अफोंसो ने उन्हीं मछुओं की चर्चा की थी और अब इनके शिक्षार्थ वे सन्त को भेज रहे थे। वे उन्हें अत्याचारियों के कठोर पंजों से मुक्त कर अंधविश्वास और अज्ञान के निर्मम पाश से छुड़ाना चाहते थे।

संत फ्रांसिस अपने भावी जीवन से कदापि अनभिज्ञ न थे। किसी अनजान देश में या अनजान जाति के लोगों के बीच जानेवाले का हृदय लोहे का होना चाहिए। सन्त फ्रांसिस का हृदय लोहे-सा मजबूत था और साथ ही मोम-सा कोमल भी। उनके हृदय में वीर सैनिक की ताकत और माता की ममता थी।

"आप लोगों से इस संसार में मिलने की अब आशा नहीं। इस यात्रा की कठिनाइयां, और ऐसे भूखंड से होकर यात्रा करना, जहां गर्मी तबाही लाती है. . .मेरी यह धारणा है कि जो प्रभु येसु ख्रीस्तका क्रूस ढोना जानते हैं, उन्हें इस कठिनाई में भी शान्ति ही मिलेगी, लेकिन जो क्रूस को छोड़ कर भागेगा, उसे मृत्यु ही हाथ लगेगी।" अपनी यात्रा के विषय में उन्होंने अपने रोमी बंधुओं के नाम ये शब्द २०वीं सितंबर को लिखे थे।

अपने पत्रों में फ्रांसिस ने राज्यपाल द सुजा की मुक्त कंठ से प्रशंसा की और संत पिता से उनके लिए कुछ प्राधिकार भी दिलाने का अपने बंधुओं से आग्रह किया। भारत को पुरोहितों की बड़ी आवश्यकता थी। अतः उन्होंने अधिकाधिक प्रचारकों तथा पुरोहितों को भेजने का अनुरोध किया। पुरोहितों के बिना न ख्रीस्तीय धर्म का प्रचार हो सकता था, न उसकी रक्षा ही। अपार जनसमूह को ख्रीस्तीय प्रेमपूर्ण शुभ संदेश तक सुनने का अवसर कभी नहीं मिला था, तो भला उन्हें ख्रीस्त के प्रेमपूर्ण शिक्षा का ज्ञान कैसे हो सकता था। और वे ख्रीस्त धर्म को स्वीकार कर अपने दिल की तृष्णा कैसे मिटा सकते थे। इस कार्य को भारतीय पुरोहित ही कुशलतापूर्वक कर सकते थे, पर वे कहां थे? उनके अध्ययन और प्रशिक्षण के लिए संत पौल कालेज की स्थापना तो हो चुकी थी, पर समय चक्र की गति हमारी आवश्यकता पर निर्भर नहीं करती। जो थोड़े बहुत पुरोहित थे, वे पुर्त्तगालियों के लिए ही पर्याप्त न थे।

पांचवां परिच्छेद

मछुओं का देश

सागर-तट की ओर

सितंवर के अन्त तक संत फ्रांसिस तैयार हो गए। चलने के पहले वे राज्यपाल से मिले और वृद्ध धर्माध्यक्ष अलवुकर्क के चरण छूकर अपने प्रेरितिक कार्य पर आशिष माँगी। सामान की उन्हें झंझट न थी, पर चिन्ता थी अपने दो साथियों की, जो अक्टूबर तक कहीं मोजांबीक से भारत पहुँचनेवाले थे। इटालियन पौल कामरीनो और पुर्त्तगाली मानसिल्यास। उन्होंने राज्यपाल से उन्हें अपने पास भेज देने का निवेदन किया और सन्त पौल गुरुकुल के तीन तामिलभाषी विद्यार्थियों को द्विभाषिये के लिए अपने साथ लेकर चल पड़े। इन तीन भारतीय प्रचारकों में दो उपयाजक थे और एक अब तक केवल लघुयाजक की श्रेणियों तक ही पहुंच सके थे।

गोआ से चल कर सन्त का जहाज कहां-कहां लगा, निश्चित रूप से कहना कठिन हैं। गोआ के बाद कोचिन ही पुर्त्तगालियों का सबसे शक्तिशाली अड्डा था। हम लोग केवल अनुमान सें कह सकते हैं कि कोचिन के फ्रांसिस समाजियों से सन्त अवश्य मिले होंगे। मालाबार तट के किनारे-किनारे जहाज गया होगा। समुद्रतट पर लहलहाते नारियल के पेड़ों का प्राकृतिक वर्णन हम संत के पत्रों को खोज कर भी नहीं पा सकते। मालाबार की अनुपम प्राकृतिक सुषमा उन्हें लुभा सकी या नहीं, यह कहना कठिन हैं। लेकिन यह अत्युक्ति न होगी कि उनकी आँखें उस हरियाली के उस पार पूर्वी घाटी के ऊसर वालुकामय मैदानों में रहनेवाले काले द्राविड़ों की अमूल्य आत्माओं पर टंगी थीं, उनकी सेवा तथा सहायता के लिए उनका हृदय तड़प रहा था। कोचिन के वाद कोइलोन होता हुआ, जहाज मंथर गति से मलावार का राज्य पार करता हुआ, हिन्द महासागर की लहरों से खेलता आगे वढ़ता गया।

५

कुछ दिनों के बाद भारत का अंतिम छोर दृष्टिगोचर हुआ, कुमारी अन्तरीप, जहां हजारों हिन्दू यात्री वर्ष में अनेक बार तीर्थ करने जाया करते हैं। इसकी नोक पर से जहाज उत्तर की ओर मुड़ा। यही उन परिया मछुओं का प्रदेश था। उनके तीस गांव उस बंजर भूमि में अस्त-व्यस्त फैले हुए थे, पतझड़ के समय ठूंठ पेड़ पर बिखरी हुई पीली पत्तियों के समान। इन तीस गांवों में मनपाड़ सबसे मुख्य था। सम्भवतः संत फ्रांसिस का जहाज यहीं रुका। आज भी यहाँ समुद्र-तट पर एक गिरजाघर मिलता है जो मनपाड़ के मछुओं का बनाया हुआ है। उनका विश्वास है कि सन्त फ्रांसिस यहीं एकान्त में प्रार्थना के लिए जाया करते थे।

सन्त फ्रांसिस के लिए यह प्रदेश बिलकुल नया था: नए लोग, नई संस्कृति, नई भाषा, नई जाति और नई रीतियां। उन तीस हजार लोगों के लिए सन्त भी उतने ही नए थे, जितने ये गरीब मछुए उनके लिए। न वे सन्त की भाषा समझ सकते थे, न सन्त उनके तामिल शब्दों के अर्थ लगा पाते थे। भाग्यवश उनके लिए गोआ गुरुकुल के तीन तामिल छात्र थे, उन्हीं के सहारे वे अपना काम करने लगे।

इन परिया ख्रीस्तीयों के मत-परिवर्त्तन का वर्णन ऊपर आ चुका है और ख्रीस्तमत के न्यून ज्ञान का भी जिक्र हो चुका है। उन्हें साधारण प्रार्थनाएं भी नहीं मालूम थीं। उनके मत-परिवर्तन से अब तक आठ वर्ष गुजर चुके थे। इस अरसे में उनके परिवारों की वृद्धि भी हुई थी, किन्तु उनके बच्चों को बपतिस्मा देनेवाला कोई न था। जहाज से उतरते ही सन्त फ्रांसिस ने उन गांवों का दौरा शुरू कर दिया।

गांव में प्रवेश करते ही वे बच्चों को बपतिस्मा देते। इन नन्हों से उनको बड़ा प्रेम था। बच्चे भी उन्हें दिल से चाहने लगे। वे उन्हें प्रति क्षण घेरे रहते, यहां तक कि उन्हें अपनी पौरोहितिक प्रार्थनाओं के लिए भी अकेला नहीं छोड़ते। ये अबोध बालक उन्हें परेशान करते और प्रार्थना सिखाइए की रट लगाए रहते।

दक्षिण भारत के भावी ख्रीस्तीयों के इन जन्मदाताओं की मांग संत फ्रांसिस कैसे टाल सकते थे। इन नन्हों की बुद्धि भी बड़ी विलक्षण थी। बात की बात में ये लम्बी प्रार्थनाएं कंठस्थ कर जाते। आज उनकी संतान भारत के दक्षिण पूर्वी किनारे पर मौजूद है: सच्चे ख्रीस्तीय भक्त, जिन पर भारत और गिरजा दोनों

को गर्व है। वे बच्चे संत से प्रार्थना सीखने के लिए उन्हें तंग तो करते थे, लेकिन उनकी मदद भी करते थे। धर्मप्रचार के कार्य में संत को उनसे बड़ी सहायता मिलती थी।

सन्त ने मीन-तट के सभी मुख्य गांवों का भ्रमण किया। पनपाड़, आलंत-लाई, पेरिया, तलाई, तिरनचेंडुर, वीरपांड्यपट्टनम, तालम्ली, पुन्नइकायो, कायलपट्टनम और कोम्बटूर, सभी गांव इनके चरणों से पवित्र हुए। प्रत्येक गांव में उनका एक सा कार्यक्रम रहता था। उनके पहुँचते ही लोगों का जमघट लग जाता। पहले वे बच्चों को बपतिस्मा देते, प्रार्थना सिखाते और अपने रटे हुए तामिल उपदेशों को हाव-भाव के साथ लोगों को सुनाते। इन गांवों में कोम्बटूर और कायलपट्टनम ही दो गाँव थे, जहाँ एक भी परिया खीस्तीय उन्हें न मिला। फिर भी सन्त ने इन गांवों में भी खीस्त की अमृतवाणी अपनी टूटी-फूटी तामिल में सुनाई।

चमत्कार

इन्हीं गांवों में से एक में, संभवतः कोम्बटूर में संत फ्रांसिस ने चमत्कार के द्वारा अपनी शिक्षा की पारलौकिकता का प्रमाण दिया। एक असहाय अवला प्रसवपीड़ा में अपने जीवन के अंतिम क्षण गिन रही थी। वैसी हालत में उसने तीन लंवे, दर्दनाक दिन काटे थे। तत्कालीन रीति और अन्धविश्वास के अनुसार उसके ग्रामीण संवंधियों ने औषधियों से थक कर जादू-टोने का सहारा लिया। देवी देवताओं की मनौतियां मानी गईं और तंत्र-मंत्र पर रोगी का विश्वास जगाया गया। किन्तु सब प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए।

उस निराश स्त्री की दशा में कुछ भी सुधार न हुआ। उसी समय सन्त फ्रांसिस उस गांव से होकर जा रहे थे। लोगों ने आकर उनसे उस स्त्री की दशा का वर्णन किया। अनजान जगह और अपरिचित चेहरों का ध्यान न कर वे अपने एक याजकवर्गीय साथी के साथ रोगी के घर गए। इन आगंतुकों को देखते ही लोग अकचका गए, लेकिन किसी को उनका रास्ता रोकने का साहस नहीं हुआ। रुग्न स्त्री की खाट के पास जाकर उन्होंने ऊंची आवाज में प्रेरितों का धर्म-सार तामिल में जपना शुरू किया। रोगी पर ईश्वरीय कृपा उतरी, उसने खीस्त

पर विश्वास किया, और स्वस्थ हो जाने पर खीस्तमत स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की। तब संत फ्रांसिस ने पवित्र सुसमाचार के कुछ अंश उसको पढ़कर सुनाए और उसे बपतिस्मा दिया।

उसी समय नवजात शिशु की किलकारी सुनाई पड़ी, लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इस अलौकिक घटना को देख उस स्त्री के पति ने भी अपने अन्य पुत्रों तथा पुत्रियों के साथ बपतिस्मा ग्रहण किया। कुछ ही देर के बाद परिवार के अन्य सदस्यों ने भी उनका अनुसरण किया।

इस सफलता से उत्साहित होकर संत फ्रांसिस ने गांव के मुखिया से भी खीस्तधर्म स्वीकार करने को कहा। लेकिन राजा के डर से वे ऐसा करने को तत्पर नहीं थे। उस समय वहीं राजा का एक तहसीलदार भी आया था। लोक-लाज के कारण उसने तो खीस्तमत स्वयं स्वीकार नहीं किया, लेकिन गांव भर के लोगों को संस्कार ग्रहण करने की अनुमति दे दी। तब मुखियों से लेकर उस गांव के प्रत्येक निवासी को संत फ्रांसिस ने बपतिस्मा द्वारा परिशुद्ध किया।

सन्त फ्रांसिस की इस प्रकार बपतिस्मा देने की नीति तथा विधि पर कितनों को अचंभा हुआ है और बहुतों ने अपना असंतोष भी प्रकट किया है, क्योंकि बपतिस्मा की तैयारी घंटों का काम नहीं है। इसमें महीनों लग जाते हैं। केवल बपतिस्मा पाकर कोई खीस्तमत के सिद्धांतों से अवगत नहीं हो जाता। सन्त फ्रांसिस पर यह आक्षेप किया गया है कि वे बपतिस्मा के पहिले लोगों को खीस्तमत की यथेष्ट शिक्षा नहीं देते। और यह आक्षेप ठीक भी था। लेकिन हमें यह भी याद रखना चाहिए कि बततिस्मा देने मात्र से ही उनका काम समाप्त नहीं हो जाता था, न वह केवल आरंभ था।

सन्त फ्रांसिस बपतिस्मा अवश्य जल्दीबाजी में देते थे, किन्तु अपने नव-खीस्तीयों की शिक्षा का काम सदा जारी रखते थे। वे स्वयं उन्हें शिक्षा दिया करते थे और अपने सहकारियों को यह शिक्षा-पद्धति बनाए रखने की सलाह तथा आदेश देकर ही संतुष्ट नहीं हो जाते, वे सतर्क रहते थे कि उनके आदेश का पालन किया जाता है। बपतिस्मा के पूर्व विश्वास की आवश्यकता होती है। संत फ्रांसिस इस आवश्यकता की पूर्त्ति किए बिना अपने काम में आगे कदापि नहीं बढ़ते थे।

उस गांव से चलकर अक्टूबर में सन्त फ्रांसिस तुतिकोरिन पहुंचे। तुतिकोरिन संत के तीन अयाजक साथियों की जन्मभूमि थी। उनके आने की खबर पाते ही तुतिकोरिन के निवासी बड़े समारोह के साथ उनका स्वागत करने निकले।

मुक्ता की खोज

भारत के दक्षिण पूर्वी समुद्र के तटवर्ती प्रदेश को विदेशियों ने मीन-तट का नाम दिया था। इस प्रदेश के मल्लाह समुद्र में गोते लगा कर सीपियां निकाला करते थे, अतः इसे यह नाम प्राप्त हुआ था। आजकल यह प्रदेश तिनवेल्ली जिले में पड़ता है। सन्त फ्रांसिस के जमाने में इस प्रदेश का प्रमुख नगर तुतिकोरिन था। आज भी यह भारत के प्रसिद्ध बंदरगाहों में है और दक्षिण भारत के बंदरगाहों में मद्रास और कोचिन के बाद इसी का स्थान आता है। सोलहवीं सदी में तुतिकोरिन एक द्वीपपुंज था; इसके कुल तीन द्वीप थे। इसकी प्राकृतिक बनावट के कारण यह व्यापारिक और राजनैतिक दृष्टिकोणों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। पुर्तगालियों के मसालों से लदे जहाज पूरब से आकर यहीं ठहरते थे। यहां पुर्तगालियों का एक दुर्ग भी था, जिसकी रक्षा के लिए कप्तान के अधीन कुछ सैनिक रहा करते थे। उसी तुतिकोरिन में सन्त फ्रांसिस और उनके याजकवर्गीय साथियों ने पदार्पण किया।

तामिल कोई आसान भाषा नहीं है और विशेष करके एक विदेशी के लिए। संत फ्रांसिस के लिए तो यह और भी कठिन जान पड़ती थी। फिर भी इन प्रारंभिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त किए बिना प्रचार-कार्य असंभव था। इस युद्ध के लिए उन्होंने कमर कस ली। किन्तु उनका युद्धक्षेत्र किताबों के पन्नों तक ही सीमित नहीं रहा। अध्ययन के साथ-साथ वे प्रेरितिक कार्य भी करते रहे। प्रति दिन वे तामिल में अनुदित प्रार्थनाओं को कंठस्थ करते और लोगों को उपदेश रूप में सुनाते। इतना करने पर भी संत फ्रांसिस को इस क्लिष्ट भाषा का काफी ज्ञान नहीं हुआ। इसके दो कारण थे: एक तो तामिल भाषा यों ही संसार की कठिन भाषाओं में है और दूसरा कि संत के भाषा ज्ञान की शक्ति बड़ी सीमित थी। अपनी मातृभाषा को छोड़ शायद ही किसी भाषा का उन्हें पूरा ज्ञान था। तब भी इनके प्रचारकार्य में कोई विशेष बाधा नहीं हुई।

तुतिकोरिन में सन्त का कार्यक्रम बिलकुल सरल था, किंतु इसे पूरा करने में उन्हें भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा। भाग्यवश वहां कुछ ऐसे तामिल भी थे जो पुर्त्तगाली भाषा थोड़ा-बहुत बोल-समझ लेते थे। उन्हीं की सहायता से संत फ्रांसिस ने खीस्तीय प्रार्थनाओं का अनुवाद करना शुरू किया : क्रूस का चिह्न, धर्मसार, दस आज्ञाएँ, हे पिता हमारे, प्रणाम मरियम, प्रणाम रानी और पाप-स्वीकारोक्ति।

वे इन अनूदित प्रार्थनाओं को रट लेते थे और जैसे गोआ की सड़कों पर, वैसे ही यहां भी हाथ में घंटी ले बच्चों और बूढ़ों को जमा करते और उन्हें रटी हुई ये प्रार्थनाएं सिखाते। ऐसा दिन में दो बार होता था। बालकों के सहारे धर्मशिक्षा का यह काम घरों और गांवों में भी पहुँच जाता। बालक उनके प्यारे थे और वे बालकों के प्यारे : बालक उनके लिए सब कुछ करने को तैयार थे। रविवार को वह स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े, सबों को इकट्ठा करते। विश्वास की विनती तथा धर्मसार पर अधिक जोर देते, प्रत्येक पद के बाद अपने श्रोता से प्रश्न करते : "आप लोग इस पर विश्वास करते हैं या नहीं ? जो लोग उन सच्चाइयों पर विश्वास करते थे, वे इसके उत्तर में अपने सीने पर हाथ रखते। इसके बाद वे बच्चों को बपतिस्मा देते। इसमें अधिक समय नहीं लगा। लेकिन वयस्कों को संस्कार देने के पहले वे उनसे स्वीकारोक्ति और विश्वास की विनती करने को अवश्य कहते।

तुतिकोरिन में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी। अतः हिन्दू रीति-रिवाजों का यहां बोलबाला था। अन्धविश्वास और मूर्तिपूजा का साम्राज्य था। ऐसी अंधता देख संत फ्रांसिस का हृदय कराह उठा। भगवान की आराधना मनुष्य का सबसे उत्तम कार्य है, इससे वह ईश्वर को अपना मालिक मानता और अपने इस विचार को कार्य रूप में प्रकट करने के लिए ईश्वर के सामने सिर झुकाता है। यह केवल ईश्वर के लिए सुरक्षित है। उन्हें छोड़ किसी दूसरे व्यक्ति, प्राणी अथवा वस्तु के प्रति ऐसा सम्मान दिखाना सर्वशक्तिमान, एकम-द्वितीयम् ईश्वर का अपमान करना है। हाथ की बनाई वस्तुएँ मनुष्य के इस सर्वोत्कृष्ट उपासना के योग्य कदापि नहीं हो सकती, और न ईश्वर द्वारा कोई भी सृष्ट प्राणी या वस्तु इसका पात्र बनने का दंभ भर सकती हैं।

अतः जिस मनुष्य को ईश्वर का थोड़ा-सा भी ज्ञान है, उसके लिए ईश्वर का ऐसा अपमान असह्य हो जाता है। ऐसे ही लोगों में सन्त फ्रांसिस भी थे। हाथ की गढ़ी मूर्त्तियां उपासना के योग्य कदापि नहीं हो सकतीं। अतः उनका अन्त हो जाए तो लोगों का ऐसा जघन्य पाप से छुटकारा मिल जाए। अतः उनका नाश ही अभिष्ट है। जब जब उन्हें सुनने में आता कि पास के किसी गांव में ख्रीस्तीय लोग मूर्त्तिपूजा करते हैं तो बालकों को साथ लेकर वे वहां पहुंच जाते और उन कठपुतलों को नष्ट कर देते।

ऐसे अवसरों का हम संत फ्रांसिस का रूप कुछ रौद्र अवश्य देखते हैं। किन्तु उनका करुण रूप हमें उनके रौद्र रूप से कहीं अधिक दिखाई देता है। मूर्त्तियों को वे अवश्य नष्ट करते, लेकिन मूर्त्तिपूजकों को हृदय से प्यार करते थे।

रोगियों की सेवा

ग्रीष्म कटिबंध के देशों में बीमारियों की कमी नहीं होती। मीन-तट की भी यही दशा थी। रोगियों के प्रति संत के हृदय में जो सेवा-भाव था उससे लोग भली भांति परिचित थे और उनकी सहायता के कायल थे। उनके आने की खबर पाते ही वे बड़ी तादाद में उनसे अनुरोध करते कि आप हमारे स्वजनों के पास चल कर प्रार्थना करें। बहुतों ने सुना था कि उनके प्रार्थना करने मात्र से स्वास्थ्य लाभ होता है। उन घटनाओं को सुनकर उनमें भी आशा और विश्वास का संचार होता। लेकिन इतने लोगों की मांग पूरी करना स्वयं सन्त फ्रांसिस के लिए कठिन था। वे उन्हें निराश भी करना नहीं चाहते थे। ऐसी हालत में नन्हे, निर्दोष बच्चे उनके बड़े काम आते। वे बीमारों के पास से आए लोगों के साथ उन्हें लगा देते। वे बाल प्रचारक बड़े उत्साह के साथ रोगियों के घर जाते, उनके कुटुम्बियों को जमा कर, सीखी प्रार्थनाएँ सिखलाते और इस प्रकार रोगी तथा आसपास से एकत्र लोगों का विश्वास उत्तेजित करते। ईश्वर की कृपा, इन बालकों के विश्वास और सन्त की प्रार्थनाओं से बहुत से रोगी चंगे हो जाते।

मीन-तट पर संत फ्रांसिस का कार्यक्षेत्र कन्याकुमारी से लेकर वेडलाई गांव तक, लगभग १४० मील की परिधि में फैला था। बरसात के पानी, जेठ की धधकती धूप में भी उन्हें जंगलों और तपती रेतों से होकर बहुधा इन गांवों

का दौरा करना पड़ता था। भोजन और विश्राम मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक बातें हैं। लेकिन इन दौरों में संत को इनका संपूर्ण त्याग नहीं, तो इनमें अधिक से अधिक कटौती करनी पड़ती थी। दो-चार ग्रास भोजन पर वे दो दिनों लगातार मिहनत करते रह जाते और थकावट से चूर हो जाने पर भी, दो-तीन घंटों से अधिक नहीं सोते। ऐसे जीवन के लिए असाधारण मनोबल की जरूरत होती है। जब उनका सारा दिन दूसरों की सेवा और शिक्षा में समाप्त हो जाता, तो उन्हें ईश्वर से संलाप के लिए रात को जागना पड़ता। इस मानवेतर परिश्रम के लिए ईश्वर की सहायता अत्यन्त आवश्यक होती है। इसके बिना दत्तचित्त होकर निस्स्वार्थ भाव से अपने काम में लगा रहना संभव नहीं।

एक ब्राह्मण से भेंट

ऐसे ही एक दौरे में तिरुचेंदूर मन्दिर के एक ब्राह्मण से संत फ्रांसिस की मुलाकात हुई। पहली बात संत भारत के धर्मरक्षी वर्ण से मिल रहे थे। खेद की बात है कि संत के हृदय पर उस पुजारी के आचरण का कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। वह और उसके दूसरे जाति बंधु जानते थे, कि संत फ्रांसिस खीस्तीय मत के प्रचारक हैं। आगंतुक के इस काम से उनके जीविकोपार्जन में बड़ी बाधा पहुँच रही थी, यजमानों की संख्या में ह्रास हो रहा था। इसके फलस्वरूप उनकी आमदनी भी कम हो रही थी। अतः वे धर्म और देवताओं का भय दिखलाकर जनसाधारण को खीस्त की प्रेमभरी शिक्षा स्वीकार करने से रोकने लगे। इस हस्तक्षेप में उन्हें अपने परंपरागत धर्म के प्रति जितना प्रेम नहीं था, उतना अपने पेट की चिंता थी। धार्मिक भावना मनुष्य की जन्मजात धरोहर है, इसका स्थान मुख्यतः हृदय में है, वाह्याडंबर में नहीं। मनुष्य ईश्वर को अपना सृष्टिकर्त्ता और प्रभु मान कर उनकी अनंत विभूति के सम्मुख पूजा में नतमस्तक होता है। उसकी यह दीनता भय से नहीं, प्रेम से प्रेरित होती है। अतः भय दिखाकर किसी को धर्म के बंधन में नहीं बांधा जा सकता। ऐसा करना मनुष्य की उच्चतम भावना पर कुठाराघात करना है।

तिरुचेंदूर के पुजारियों के काले कारनामों का पता फ्रांसिस को पहले से ही था। अबोध जनता को इन आततायियों के आतंक से मुक्त करने के लिए उन्होंने

उन हृदयहीन पुजारियों के आडंबर और धोखेधड़ी का भंडाफोड़ करना शुरू कर दिया। अपनी यह दुहरी हानि देखकर ब्राह्मणों ने एक दूसरी चाल चली। वे जानते थे कि लोगों में संत फ्रांसिस की धाक जमी हुई है। ऐसे लोकप्रिय साधु को अपनी ओर मिलाए रखने में ही उन्होंने अपना कल्याण समझा। इस हेतु उन्होंने संत के पास उपहार भेजना शुरू किया। किन्तु धर्मनिष्ठ संत फ्रांसिस के सामने उनके हथकंडे वेकार गए। अपने को सब तरह से हारते देख पुजारियों को सन्त फ्रांसिस के सामने स्वीकार करना पड़ा कि जीविकोपार्जन के लिए हमारा यही एक रास्ता है। लेकिन संत के ऊपर इस विनम्रता का कोई असर न पड़ा। उन्होंने सीधे-सादे, अपढ़ गंवारों को उन आडंबरी पुजारियों के छल-प्रपंच से मुक्त करने की अपनी रीति नहीं वदली। ईश्वर के नाम पर अपनी झोली भरना कपट नहीं तो और क्या है? अवोध यजमान इनके शाप-वचनों तथा धमकियों से डरकर देवताओं की सेवा में मोटी-मोटी रकम चुकाने को वाध्य किए जायं, यह न्यायपरायण फ्रांसिस के लिए असह्य था।

संत फ्रांसिस का व्यवहार इन ब्राह्मणों के प्रति रूखा और विरोधात्मक अवश्य था, किन्तु उनके हृदय में इनके लिए प्रेम भी सच्चा था। वे उन्हें मुक्ति का सुगम पथ दिखाने को सदा तत्पर रहते थे। एक दिन उन्होंने पुजारियों से पूछा, "मुक्ति का मार्ग क्या है?" उनसे कुछ कहते वन न पड़ा। अन्त में वहुत काना-फूसी के वाद एक वयोवृद्ध ने उत्तर दिया, "गोहत्या से बचो और ब्राह्मणों को दान दो।" यह सुनकर संत ने धर्मसार के पदों तथा दस आज्ञाओं को उच्च स्वर में सुनाया। उसके वाद नरक और स्वर्ग पर उपदेश भी दिया। पुजारियों को उनकी बातें वहुत पसंद आईं। वे मंत्रमुग्ध हो उनका उपदेश सुनते रहे। उन लोगों ने आत्मा की अमरता, ईश्वर के रूप-रंग आदि के विषय में प्रश्न किए। लेकिन जब संत ने उन्हें खीस्तीय मत अपना कर मुक्ति के सुगम पथ पर चलने की सलाह दी, तो उनके प्रारंभिक उत्साह पर पाला पड़ गया। वे स्वयं ऐसा कार्य कैसे कर सकते थे, जिसे करने से दूसरों को रोकते थे।

सवर्ण हिन्दुओं के सम्पर्क में आते ही संत फ्रांसिस में हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने की लालसा प्रवल हो उठी। परन्तु तिरुचेंदूर के अर्द्धशिक्षित

पुजारी उनकी जिज्ञासा शान्त करने में असमर्थ रहे। संयोग से निकट ही एक संन्यासी का निवास स्थान था। पहली भेंट में संत फ्रांसिस को निराश होना पड़ा। योगाभ्यास गुप्त शिक्षा है, जिसका ज्ञान किसी अनजान विद्यार्थी को नहीं दिया जाता, विदेशी की तो बात ही और थी। योग आरंभ करने के पूर्व योगार्थी को शपथ लेनी पड़ती है। लेकिन मित्रता के सामने कठिन से कठिन वंधन भी ढीले पड़ जाते हैं, गुप्त विद्या की दो एक बातें संन्यासी ने संत को बताईं और वदले में खीस्त धर्म की गुप्त शिक्षा जानने की अभिलाषा प्रकट की। संत राजी हो गए, लेकिन एक शर्त पर कि वे उन शिक्षाओं को गुप्त न रखकर लोगों में उनका खुला प्रचार करें। संन्यासी ने खीस्तीय शिक्षाओं को बड़ी सावधानी से लिपिवद्ध किया और सन्त से आग्रह किया कि आप खीस्त की दीक्षा देते रहें। संन्यासी स्वयं पूर्ववत् पूजा-पाठ करके शिक्षा दान देना और संन्यासी की भांति जीवन यापन करते रहना चाहते थे, जिससे लोगों को उनकी आंतरिक परिवर्तन का कोई पता न चले, नहीं तो उन्हें भी द्वेष तथा घृणा का भाजन बनना पड़ता। संत को यह अमान्य था। इन शर्तों पर कोई व्यक्ति पवित्र गिरजा का सदस्य नहीं वन सकता, न गिरजा का कोई सदस्य दूसरे धर्म-कर्म में विधिवत् भाग ले सकता है। वेचारे संन्यासी को वपतिस्मा से वंचित ही रह जाना पड़ा।

सहयोगियों की कमी

संत फ्रांसिस को मीन-तट पर रहते एक वर्ष वीत गया। इस वीच उन्हें किसी गौरांग के दर्शन नहीं हुए। उनका कोमल हृदय यूरोप की ओर उड़ चला, अपने वंधुओं के पास। बिछुड़े बंधुओं की याद उन्हें सता रही थी। सहकारियों का अभाव देखकर उनकी वेदना और भी तीव्र हो गई। यदि उनके और भी साथी रहते, तो हजारों हजार खीस्तमत के धवल वरदान प्राप्त कर सकते। इतने लोगों के वीच वे अकेले क्या कर सकते? एक दीप से कहां तक ज्योति फैल सकेगी। वपतिस्मा देते-देते उनके हाथ ऐसे थक जाते कि उनमें पक्षाघात की-सी पीड़ा होने लगती। उस समय का वर्णन करते हुए उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा है, "उपदेशकों के अभाव से यहां भीड़ के भीड़ खीस्तीय दीक्षा नहीं पा

सकते। कितनी बार मुझे उत्कृष्ट इच्छा हुई कि मैं यूरोप के विश्वविद्यालयों में, विशेष कर सरबौन में जाकर पागल की भांति चिल्ला-चिल्ला कर उन विद्वानों से कहूँ, आप अपनी विद्या का उचित उपयोग करें, आपकी लापरवाही के कार न जाने कितने स्वर्ग न जाकर नरक कुंड में गिरते जा रहे हैं। "

इधर सहयोगियों की कमी उन्हें जला रही थी, उधर ब्राह्मणों का विरो और उनकी आध्यात्मिक निर्बलता ईंधन का काम कर रही थी। अथक परिश्रम की लपट में पड़कर वे क्षार-क्षार हो रहे थे। तब भी उनकी आत्मा तरंगविहीन सागर के समान शान्त थी। हर्ष और आनंद के अतिरेक से उनकी आत्मा अनायास चिल्ला उठती, "हे नाथ, इस जीवन में इतनी शान्ति मुझे न दें। अपनी निस्सीम भलाई और दया के कारण आप मुझे इस तरह सुखी करते हैं, आप मुझे अपनी पवित्र महिमा में ले चलें, क्योंकि आपके आंतरिक सुख का अनुभव कर आपको देखे विना जीवन मेरे लिए वेदना ही वेदना है।"

अन्त में सहकारियों का हृदय विदारक अभाव देख संत ने उनकी खोज में जाने का निश्चय किया। अब तक फ्रांसिस को मानसिल्यास और पौल कामरीनो की कोई खबर न मिली थी। अतः अपने प्यारे नव ख्रीस्तीयों को सहायक प्रचारकों की देखरेख में छोड़कर उन्होंने अपने कदम गोआ की ओर बढ़ाए, जन-धन लेकर उनके सहायतार्थ तुरंत लौटने की आशा में। यह था, १५४३ का अक्टूबर।

गोआ लौटना

वे मनपाड़ से जलमार्ग द्वारा क्विलोन पहुंचे और वहां से पुर्तगाली गोआ। मनपाड़ से चलते चलाते उन्होंने अपने साथ कुछ होनहार परिया युवक भी ले लिए थे। इन पर उनकी बड़ी-बड़ी आशाएँ केन्द्रित थीं। इन्हें सन्त ने संत पौल कालेज में स्थान दिया। इन्हीं परिया युवकों ने संत फ्रांसिस द्वारा किए गए एक दूसरे चमत्कार का उल्लेख किया है। यह घटना भी कोम्बटूर में हुई थी। एक बालक कुएं में गिरकर मर गया था। लोग उसे संत फ्रांसिस के पास लाए। लोगों का विश्वास तथा दुःख देखकर संत ने पवित्र सुसमाचार का एक उद्धरण उस मरे बालक पर पढ़ा। लड़का तुरंत उठकर खड़ा हो गया। सन्त के प्रस्थान के एक ही वर्ष बाद संत पौल कालेज की बड़ी तरक्की हुई थी। इसकी इमारत लगभग

खड़ी हो गई थी और शिक्षक तथा विद्यार्थी इसके कुछ भाग में रहने भी लगे थे। शिक्षकों की संख्या में भी वृद्धि हुई थी। क्यों नहीं, जिस मनसिल्यास और पौल कामरीनो के लिए संत फ्रांसिस मीन-तट पर एक वर्ष से व्यग्र हो रहे थे, वे संत पौल के शिक्षक पद पर सुशोभित थे। अब तक उस जगह से उनको हटाना आसान नहीं था। वहुत चेष्टा के बाद धर्माध्यक्ष अलवुकर्क ने उनमें से केवल एक मनसिल्यास को छोड़ा। मनसिल्यास भी अब तक पुरोहित अभिशिक्त नहीं हुए थे। लेकिन धर्माध्यक्ष की उदारता, संत फ्रांसिस के हठ और समय के तकाजे के कारण प्रशिक्षण की त्रुटियों के रहते हुए भी मनसिल्यास ख्रीस्त के पुरोहित अभिशिक्त किए गए। संत फ्रांसिस को दो धर्मप्रांतीय पुरोहित भी हाथ लगे, स्पेनी जुआन द लिसानो और भारतीय फ्रांसिस कोइल्यो। इन दो पुरोहितों का उत्साह देखकर जौन आर्तिआगो नामक एक पुर्त्तगाली ने भी उनकी टोली में भर्ती होना चाहा। मीन-तट के धर्मप्रचार में ऐसी दिलचस्पी देख फ्रांसिस का हृदय आनन्द और आशा से झूम उठा।

गोआ में संत फ्रांसिस को येसुसमाज की मंजूरी की खबर मिली, तीन वर्षों की वासी; किन्तु संत फ्रांसिस के लिए अव भी बिलकुल तरोताजी, मनोहारी और सुखदायी। यह परिस्थितियों पर प्रार्थना की विजय थी, प्रार्थना से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, असंभव भी संभव हो सकता हैं।

तत्कालीन राजनीति

संत फ्रांसिस के जीवन के इस मोड़ पर दक्षिण भारत के तत्कालीन राजनैतिक विभागों पर दृष्टिपात करना अनुचित न होगा। मीन-तट वर्तमान तिनिवेल्ली जिले में पड़ता है। इसका उत्तरार्द्ध प्राचीन पांड्यवंशीय वेट्टुम पेरुमाल के अधीन था। वेट्टुम पेरुमाल के राज्य से उत्तर विजयनगर का राज्य पड़ता था। विजय नगर की शक्ति क्षीण तो अवश्य हो गई थी, फिर भी चिराग बिलकुल वुझा न था। तुतिकोरिन के दक्षिण और कन्याकुमारीसे उत्तर मीन-तट का दक्षिणार्द्ध उन्नीकेरल तिरुवेड़ी का राज्य पड़ता था। पश्चिमी तट पर उन्नीकेरल तिरुवेड़ी के भाई मार्तंड वर्मा, वर्त्तमान केरल राज्य के दक्षिण तट पर राज्य करते थें।

१५४४ की फरवरी में सन्त फ्रांसिस के मीन-तट लौटने के समय दक्षिण भारत की राजनीति कुछ अशान्त थी। धीरे-धीरे दक्षिण भारत के राजनैतिक आकाश पर काले भयावने बादल इकट्ठे होने लगे। कुछ ही समय में भीषण गर्जन और घनघोर वृष्टि से दक्षिण में त्राहि-त्राहि मचनेवाली थी। काली मेघ-माला देखकर रसिक मयूर नाच उठता है और विरही पपीहा चीत्कार करने लगता है। वही बात दक्षिण के इन राजाओं की भी हुई, जो एक दूसरे पर मार्जार दृष्टि लगाए वैठे थे, एक दूसरे की दुर्वलता से अनुचित लाभ उठाने के घात में। संत फ्रांसिस के गोआ से प्रस्थान करने तक आँधी नहीं उठी थी।

उन्होंने तुरंत अपना ध्यान नवखीस्तीयों की शिक्षा और अखीस्तियों की दीक्षा की ओर लगाया। प्रत्येक गांव में सहकारी प्रचारक का प्रवंध किया गया जो पुरोहितों की अनुपस्थिति में सर्वेसर्वा वनेंगे। सारा मीन प्रदेश तीन भागों में वांट दिया गया, तीन पुरोहितों के अधीन। पत्राचार द्वारा संत ने उनसे निकट संवंध वनाए रक्खा। अपने लिए उन्होंने मनपाड़ और कन्याकुमारी का भाग लिया। इस क्षेत्र के परिया लोग सीपियों का शिकार नहीं करते थे, इस कारण वे साल भर घर ही रहते थे। इनको किसी समय भी धर्मशिक्षा दी जा सकती थी। फरवरी के अंतिम दिन संत फ्रांसिस पुन्नेकायल में धर्मप्रचार कर रहे थे और पुर्त्तगाली आर्तियागो और तामिल मत्ती के साथ मानसिल्यास मनपाड़ में खीस्त की ज्योति विखेर रहें थे।

मीन-तट में प्रचारकार्य के सिलसिले में संत फ्रांसिस ने मनसिल्यास के नाम २६ छोटे वड़े पत्र भेजे। भाग्यवश मनसिल्यास ने ये पत्र वड़े यत्न से रखे और संत के मरने के वाद इन्हें कोचिन के येसुसमाजियों के सुपुर्द कर दिया। इन्हें पढ़कर संत फ्रांसिस के जीवनी लेखकों को उनकी अन्तर्भावना की झांकी मिलती है। ये पत्र उनके अदम्य आत्मबल और अपार शक्ति के गुप्त रहस्य की कुंजी हैं। इन पत्रों में हम कठोर शिक्षक और दयालु पिता, वीर योद्धा तथा पराजित सैनिक का भी रूप देखते हैं। ये पत्र हमारे संत के भातृप्रेम, वात्सल्य तथा मित्र भाव के परिचायक हैं।

संत फ्रांसिस ने अपना पहला पत्र पुन्नेकायल मनपाड़ में लिखा था। उसके करीब-करीव तीन ही सप्ताह के अन्दर मनसिल्यास पुन्नेकायल वापस चले गए

और सन्त स्वयं मनपाड़ आ पहुँचे। मनपाड़ में संत को पता चला कि पुन्नै-कायल के परिया ख्रीस्तीयों में ताड़ी पीने की लत बड़ी गहरी है। ये परिश्रमी मछुए शाम को काम से लौट कर दिन भर की कठिन थकावट ताड़ी से मिटाते थे। सन्त ने इस प्रथा को आमूल नष्ट करने का आदेश मानसिल्यास को दिया। परियों को भी उन्होंने धमकी दी : मानसिल्यास की आज्ञा न माननेवालों को तीन दिनों तक कारावास में कड़ी सजा भुगतनी पड़ेगी। सन्त फ्रांसिस भलीभांति जानते थे कि वर्षों की कुरीति एकाएक वन्द नहीं हो सकती। इसकी जड़ उखा-ड़ने के लिए मानव दुर्बलता से परिचित सन्त फ्रांसिस ने मानसिल्यास को लिखा, "मैं आपसे आग्रह करता हूँ कि आप अपने बंधुओं से वैसा ही वर्ताव करें जैसे कोई दयालु पिता अपने नटखट वच्चों से करता है।"

सन्त फ्रांसिस को नव ख्रीस्तीयों की चिन्ता सदा लगी रहती थी। वे उनकी शिक्षा पर विशेष ध्यान रखते थे। वे मनसिल्यास को बरावर धर्मशिक्षा के नए नए तरीके बताते। बच्चों को बपतिस्मा द्वारा आदि पाप से मुक्त करने के लिए वे सदा आदेश देते रहते। गिरजाघर में कैसे वोलना और उपदेश देना चाहिए, स्त्रियों को शनिवार और कार्यरत पुरुषों को रविवार को गिरजे में बुलाना, ऐसी वातें भी वे न भूलते। वे प्रार्थनाओं के तामिल अनुवाद के लिए नए और सुन्दर शब्दों का सुझाव देते। लेकिन यह प्रयत्न अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ, तामिल भाषा की जटिलता और उनके अल्प ज्ञान के कारण संत फ्रांसिस के सुझाव अधिकतर गलत ही रहते।

अप्रैल के अन्त तक वे लवाडिह का दौरा समाप्त करके पहली मई तक नार के ख्रीस्तीयों को देखने गए। वहां थकावट के कारण वे कुछ बीमार पड़ गए। नार से लौट कर वे उत्तर का दौरा करते हुए तुतिकोरिन से भी उत्तर निकल गए। इसी वीच ख्रीस्तीयों की देखभाल करने मनसिल्यास मनपाड़ पहुँचे। सन्त को तुतिकोरिन में अधिक विलंब हो गया। इस विलंब को समझने के लिए दक्षिण भारत की उलझी राजनैतिक गुत्थियों को कुछ सुलझाना पड़ेगा।

सोलहवीं सदी का दक्षिण भारत इतिहासज्ञों के लिए सदा पहेली बना रहा है। यहां के छोटे-छोटे राज्य और राजों के आपसी वैर और निरंतर युद्ध का कारण समझना सहज नहीं। इन राज्यों में विजयनगर का स्थान प्रमुख है।

विजयनगर

सन्त फ्रांसिस के समय में विजयनगर अपने गौरव का मध्याह्न पार कर चुका था। सदी के शुरू में कृष्णदेव राय ने समस्त दक्षिण भारत पर अपने पराक्रम और शौर्यबल से आधिपत्य कर लिया था। किन्तु सन् १५२९ के लगभग उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु के बाद विजयनगर के अधीनस्थ अनेकों जागीरदार अपनी सल्तनत अलग कायम करने का मौका ताकने लगे। विजयनगर का महान साम्राज्य धीरे-धीरे टुकड़े-टुकड़े होने लगा। १५४४ तक उसकी यही दशा रही।

तब विजयनगर के शाही तख्त पर सदाशिव राय आसीन हुए। किन्तु राज्य की बागडोर इस नाबालिक शासक के रक्षक रामराय के हाथों में था। रामराय ने विजयनगर की हिलती नींव को किसी भी मूल्य पर मजबूत करने की ठानी। इस प्रयत्न में दक्षिण भारत में आतंक का नंगा नाच शुरू हो गया। उधर पश्चिमी तट पर त्रिवांकुर का उत्तरी भाग रामवर्मा के अधीन था। इस राज्य की सीमा कोइलोन से लेकर वंग सागर में गिरनेवाली ताम्रपर्णी नदी के दक्षिणी किनारे तक फैली हुई थी। इसका पूर्वी भाग, जिसमें आधुनिक तिन्नेवेली जिला पड़ता है, पन्द्रहवीं सदी में रामवर्मा के पूर्वजों ने अपने बाहुबल से मदुरा के पान्ड्य वंश से जीता था। अपने इस राज्य को पान्ड्य नायक अब भी तृष्णा और क्रोधभरी आंखों से देख रहे थे। रामवर्मा के राज्य से दक्षिण उनके भाई मार्तंड वर्मा का छोटा सा राज्य समुद्र तट तक फैला था। देशी राजों की यह हालत थी, उधर पुर्त्तगालियों का आधिकार पूर्वी तट पर जमता जा रहा था।

पुर्त्तगाली राज्य जमाने की ताक में न थे, वे अपनी जेब गर्म करना चाहते थे। जिन-जिन शहरों में उनका व्यापार जम जाता, वहां वे एक कप्तान नियुक्त करते जाते। मीन-तट पर मोतियों का व्यापार खूब चल रहा था। वहां भी पुर्त्तगाली कप्तान नियुक्त किए गए थे। मीन-तट के मछुओं का यह दुर्भाग्य था कि १५४४ में तुतिकोरिन के कप्तान के पद पर धनलोलुप, आत्म-सम्मान रहित कोसमस पाइवा थे। पुर्त्तगालियों का नाम और भी मिट्टी में मिलानेवाले इस मानवकुलकलंक के कारण सन्त फ्रांसिस को जो संताप सहने पड़े, उनका उल्लेख आगे होगा।

दक्षिण भारत में पुर्त्तगालियों की ताक़त दिनानुदिन बढ़ते देख, सब देशी राजा अलग अलग एक दूसरे के विरुद्ध इन विदेशी वणिकों से मित्रता कर, उनकी तोपों की सुरक्षा पाने के प्रयत्न में लगे थे। कोइलोन के राजा उन्नीकेरल वर्मा, जिन्हें सन्त ने अपने पत्रों में "इन्निकित्रीवेरम" का नाम दिया है, संत फ्रांसिस के जरिए गोआ के गवर्नर से मित्रता करना चाहते थे। संत फ्रांसिस ने भी देखा कि यदि इस नरेश को पुर्त्तगाली आश्रय मिल गया, तो मीन-तटवाले ख्रीस्तीय कुछ काल के लिए शान्तिमय जीवन बिता सकेंगे और अन्य लुटेरों और अत्याचारी दलों से उन्हें छुटकारा मिल सकेगा। अतः वे भी इस संधि को गुप्त रूप से कार्यान्वित करने में संलग्न हो गए। मीन-तट के मछुओं को मदुरा के नायकों को सबसे अधिक डर था। यदि इन नायकों को किसी तरह पता चल जाता कि उन्नीकेरल के साथ पुर्त्तगालियों की संधि हो गई, तो उनकी क्रोधाग्नि उन असहाय मछुओं को भस्मसात् किए बिना नहीं रहेगी। इस कारण सन्त को बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाना था। संधि के पहले ही वे कायाटार के ख्रीस्तीयों को वेट्टम पेरुमाल के क्रूर पंजों से निकालकर, चुपके-चुपके सुरक्षित स्थान में ले जाना चाहते थे। पेरुमाल का आधिपत्य ताम्रंपर्णी नदी के उत्तरी किनारे तक ही था। उसी के इलाके में तुतिकोरिन और पलयकायल भी पड़ते थे। इन दोनों जगहों के ख्रीस्तीयों की जान और सम्पत्ति पर हमेशा खतरा रहता था। यदि किसी तरह वे इन बेचारों को ताम्रपर्णी के दक्षिण पुन्नैकायल लिवा ले जाते, तो उनकी चिन्ता का अन्त हो जाता।

उत्तर के गांवों का दौरा करते समय संत फ्रांसिस इसी प्रयत्न में लगे थे। लेकिन सफलता हाथ न आई। जाने और न जाने की ही बात लेकर तुतिकोरिन के ख्रीस्तीयों में मतभेद हो गया। इस फूट का असली कारण तुतिकोरिन का पुर्त्तगाली कप्तान कोसमस पाईवा था। घोड़ों का व्यापार पाईवा के ही हाथ में था। इन घोड़ों के बिना किसी भी राजा की सेना परकटे गीध के समान थी। युद्ध के समय पाईवा के पौ बारह रहते। वह सदा इसी फिक्र में लगा रहता कि देशी राजों में किसी प्रकार युद्ध चलता रहे कि मेरा अश्व-व्यापार आबाद रहे। इसी पुर्त्तगाली कप्तान के चलते उन बेचारे ख्रीस्तीयों को अनेक दुःख सहने पड़े। स्वयं पाईवा उन नायकों के अत्याचार की चपेट से न बच सका।

असहाय मछुए

तुतिकोरिन से चलकर मानसिल्यास के पास सन्त फ्रांसिस ने फिर पत्र लिखा। उस पत्र के साथ उन्होंने कप्तान के लिए भी एक पत्र भेजा। उस पत्र की बातों से हम अपरिचित हैं, फिर भी अनुमान आसानी से कर सकते हैं। यह पत्र लिखने के दो ही दिन बाद संत फ्रांसिस की आशंकाएं सच निकलीं। उन्हें कोम्बटूर में कन्याकुमारी पर आई आफत की खबर मिली। विजयनगर की सेना की लूट-मार से असहाय मछुए त्राहि-त्राहि कर रहे थे। उन्नीकेरल वर्मा के राज्य के ख्रीस्तीय मछुए भी इस आतंक से बच न पाए। यद्यपि विजयनगर और कोइ-लोन के राजा में मित्रता अवश्य थी।

उचित-अनुचित पर ध्यान न देने का एकमात्र कारण था पुर्त्तगालियों के प्रति विजयनगर की जन्मजात घृणा। ये परिया ख्रीस्तीय, जिन्होंने अत्याचार से वचने के लिए विदेशियों की शरण ली थी, सदाशिव राय की सेना की दृष्टि में दंड के योग्य थे। विजयनगर से आए इन वडक्कों से असहाय ख्रीस्तीयों को बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। उनके घर लूट लिए गए और बहुतेरे तलवार के घाट उतार दिए गए। अनेक वेड़ियों में जकड़े पशुओं की भांति न जाने कहां लापता हो गए। वडक्कों की इस अमानुषिकता का आंखदेखा वर्णन संत फ्रांसिस ने हृदय विदारक शब्दों में किया है। वे लिखते हैं, "उन परियों की दशा हृदयविदारक थी। कल्पना भी उसके सामने कुंठित हो जाती है। कहीं लोग भूख से तड़प रहे थे, कहीं वृद्ध—वृद्धा दूसरों के साथ चलने की व्यर्थ चेष्टा कर रहे थे। लाशें चारों ओर विखरी पड़ी थीं। पति अपनी पत्नी के लिए रो रहे थे और गर्भवती माताएं मार्ग में ही बच्चे प्रसव कर रही थीं। दारुण दुःख उन वेचारों के सिर पर पड़ा था, जिसे देखकर आंखों से आंसू बहने लगते थे। यदि आप भी वह दृश्य देख पाते, जो मुझे देखने को मिला, तो आपका भी हृदय टूक-टूक हो जाता।"

कन्याकुमारी का दुखद समाचार पाकर संत फ्रांसिस तुरंत मनपाड़ की ओर दौड़े। मनसिल्यास तब तक पुन्नेकायल लौट चुके थे। जून की सोलहवीं तारीख को संत फ्रांसिस अन्तरीप के लोगों के सहायतार्थ बीस तोणियों पर रशद लाद कर मनपाड़ चले। लेकिन उनका सारा परिश्रम व्यर्थ सिद्ध हुआ। हवा विरुद्ध

थी और सप्ताह भर के परिश्रम के बाद भी उनकी नावें टस से मस नहीं हुईं। जलमार्ग छोड़कर उन्होंने स्थलमार्ग पकड़ने की सोची। उन शोषितों के सहायतार्थ चंदे बटोरने के लिए उन्होंने पुन्नैकायल, तुतिकोरिन और कोम्बटूर के मुखियों के पास आदेश भेजा। उन्होंने उनसे अपने अभागे भाइयों की सहायता करने की प्रार्थना की।

जुलाई महीने भर वे स्वयं गांव-गांव घूम कर कन्याकुमारी के दुखियों के लिए भीख मांगते फिरे। इन दौरों में उन्होंने वडक्कों के आतंक और अमानुषिक व्यवहार की घोर भर्त्सना की: कन्याकुमारी के निराश्रयों को उन्होंने मनपाड़ में लाकर शरण दी और जब वडक्कों का जत्था तलवारें चमचमाता, घोड़ों को ललकारता, उत्तर की ओर बढ़ा, तो उनके इस पैंतरा की खबर उन्होंने मनसिल्यास को भेजी और भावी संकट के विषय में उनको सतर्क कर दिया। हरएक गांव में प्रहरी नियुक्त किए गए और लोगों को बारी-बारी से रात को पहरा देने की आज्ञा मिली। तुतिकोरिन के कप्तान पाईवा से सन्त ने कुछ नावें मांगीं किवडक्कों के आक्रमण होने पर खीस्तीय शान्त समुद्र की शरण में जा सकें। ऐसा ही आदेश संत ने मनसिल्यास और मुखियों को भी दिया।

कोईलोन के राजा इनिकित्रिबेरिन के नाम संत फ्रांसिस ने प्रार्थनापत्र भेजा कि वडक्कों पर अंकुश लगावें, लेकिन राजा के साथ वडक्कों की मैत्री थी। सन्त अभी इसी कार्य में लगे थे कि परियों पर एक दूसरा तूफान आ धमका। इस बार कायाटार के राजा ने उन पर आक्रमण किया। पेरुमाल को वडक्कों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी, न उसमें और वडक्कों में संधि होने की संभावना थी। शायद उसे भनक मिल गई थी कि संत फ्रांसिस रामवर्मा और पुर्त्तगाली गवर्नर के बीच संधि कराने की कोशिश में लगे हुए हैं। उसको रामवर्मा से शत्रुता थी; इसलिए उसने सन्त फ्रांसिस की सारी कोशिशें मिट्टी में मिला देने की ठान ली थी। अनबन तो थी पेरुमाल और रामवर्मा के बीच, लेकिन इस द्वेष का खट्टा फल चखना पड़ा असहाय खीस्तीयों को। गरीब को ही लोग चूसते हैं, उनको अपने ही लोग सताते हैं।

रामवर्मा वेट्टुम पेरुमाल से संधि करने के लिए लालायित थे। अतः

उन्होंने वडक्कों से राय लेकर, अपने और वडक्कों के नाम संधि के प्रस्ताव, राजदूत के हाथ पेरुमाल के पास भेजे।

दुष्ट पाईवा

यह राजदूत संत फ्रांसिस के पास से होकर जा रहा था। सन्त ने दूत का समुचित सम्मान किया। उसके साथ परिया खीस्तीयों का दुभाषिया भी जा रहा था। जल मार्ग से यह शिष्ट मंडली तुतिकोरिन की ओर बढ़ी। लेकिन दुर्भाग्यवश पाईवा की कुचाल से यह प्रयत्न भी विफल रह गया। पाईवा नहीं चाहता था कि इन शासकों की शत्रुता का किसी प्रकार अन्त हो; इससे उसके अश्व-व्यापार पर भारी धक्का पहुँचता। घृणित लोभ का परिणाम उसे स्वयं भुगतना पड़ा। वडक्कों का आतंक शान्त होते ही वेट्टुम पेरुमाल की अश्व सेना ने पाईवा के नगर पर धावा मारा। उसने पुर्त्तगालियों के घर और जहाज आग की लपटों में स्वाहा कर दिया, वे उनका नाम निशान मिटा देने पर तुल गए थे। जान वचाने को पुर्त्तगाली और उनके साथ भारतीय खीस्तीय तुतिकोरिन छोड़ कर निकटवर्ती द्वीपों पर भाग गए, जहां उन्हें प्रकृति के प्रकोप से वचने के लिए न पर्याप्त वस्त्र थे, न पेट की ज्वाला बुझाने के लिए अन्न ही।

इस दुर्घटना का समाचार सन्त फ्रांसिस को सितंबर की पांचवीं तारीख को मिली। उसी दिन उन्होंने मनसिल्यास को उनकी सहायता के लिए जाने का आदेश दिया। फ्रांसिस स्वयं अलन्तलाई में थे। आज्ञा पाते ही मनसिल्यास कोम्बटूर, पुन्नेकायल तथा तिरुचेंदूर में जितनी नावें मिलीं, सबको तुतिकोरिन के लोगों के सहायतार्थ भेजा। पाईवा अब भी स्वार्थपरता और घमंड में इतना अंधा था कि अपना हित स्वयं नहीं पहचान सका। सन्त फ्रांसिस के विरुद्ध उसकी कुत्सित भावनाएं भी प्रज्वलित थीं। संत ने उसकी ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया और उसने झटकार दिया।

रामवर्मा वेट्टुम पेरुमाल से संधि का प्रस्ताव कर रहा था। लेकिन वेट्टुम के अधीनस्थ पुला जाति अपना खोया राज्य प्राप्त करने की धुन में पुर्त्तगालियों से सहायता मांग रही थी। इस तिकड़म और छीना-झपटी में रामवर्मा को ही पुर्त्तगालियों की मित्रता का अमूल्य वर प्राप्त हुआ, लेकिन दक्षिणा के रूप में

मोटी रकम देनी पड़ी। वेट्टुम और रामवर्मा के बीच तनातनी हर क्षण बढ़ती ही जा रही थी। पुर्त्तगालियों को क्या फिक्र कि यह न्याय है अथवा अन्याय, उनकी अपनी जेब तो गर्म हो रही थी। धन जहां अधिक मिला, वहीं छत्र-छाया फैला दी। उन्हें शुभाशुभ का कुछ ध्यान नहीं था। दूसरों के मानापमान की बात ही दूर रही।

शान्ति प्रयास में सन्त फ्रांसिस रात दिन एक कर रहे थे। जब वे पेरुमाल के नृशंस सिपाहियों से ख्रीस्तीयों को बचाने की कोशिश में लगे थे, तो ये पुर्त्तगाली अपने सैन्य बल पर इठलाते, भारतीय शासक को किसी-न-किसी तरह उपद्रव करते रहने को उकसाते। धन पाने के लालच में वे जिसे पाते कैद कर लेते। शासक और शासित सबके सब उनके घोर अन्याय से तंग आते जा रहे थे।

उनकी गति-विधि देख सन्त का हृदय खिन्न हो उठा। उनका धैर्य अब टूटना ही चाहता था। रामवर्मा का निमंत्रण उनके पास बार-बार आ रहा था, लेकिन कौन सा मुंह लेकर वे उनके पास जाते। सितंबर की ग्यारह तारीख को उन्होंने मनसिल्यास के पास लिखा, 'अभी तुरंत महाराज के तीन आदमी मुझसे मिलने आए थे। उनकी शिकायत है कि कायालपत्तनम निवासी कोई पुर्त्तगाली इनिकित्रिबेरिन के भतीजे के एक नौकर को कैद कर पुन्नैकायल से ले गया हैं। यदि वह आदमी मुक्त नहीं हुआ तो मुझे इनिकित्रिबेरिन से मिलने की आशा छोड़नी पड़ेगी। अपने ही देश में अपहृत और अपमानित होने के कारण सारी जनता क्षुब्ध हो उठी हैं. . . .मुझे पता नहीं कि क्या करूं। शायद अच्छा होगा कि हम इन पुर्त्तगालियों के बीच अपना समय नष्ट न करें जो निर्भय होकर दूसरों पर मनमाना अत्याचार कर सकते हैं।

ऐसे दुखद दृश्य देखते-देखते संत फ्रांसिस का जी ऊब गया। उनकी अन्तर्वेदना चरम सीमा तक पहुंच गई। जो पुर्त्तगाली अति उदार ख्रीस्त के शिष्य होने का दावा करते थे, वे ही धन के लोभ में पड़ कर उन्हीं ख्रीस्त के भक्तों को ख्रीस्त की उदारता से लाभ उठाने देना नहीं चाहते थे। सन्त ने मनसिल्यास के कहा कि तुतिकोरिन में जाकर उस कैदी की रिहाई के लिए कप्तान से समझौता करें। "यदि महाराज के आदमी ने उस पुर्त्तगाली को किसी प्रकार हानि पहुंचाई है तो वह उसे न्यायालय में पेश करे।"

अपने पत्र में सन्त फ्रांसिस ने लिखा, "इस घटना के कारण मुझे जो संताप सहने पड़े हैं, उसका वर्णन मेरे शब्द नहीं कर सकते। ईश्वर अपनी कृपा दें कि हम धीरतापूर्वक उसकी मूर्खता सहते जाएं। मुझे तुरंत खबर कीजिए कि राजकुमार के नौकर का क्या हुआ। पुर्त्तगाली की करतूत की जो खबर मुझको मिली हैं वह सच्ची है या नहीं? क्या वह सचमुच उसे तुतिकोरिन ले गया है, और किस कारण? यदि यह सब सच निकला तो मैंने निश्चय कर लिया है कि इनिकित्रिवेरिन के यहां नहीं जाऊंगा।" सन्त फ्रांसिस के दुःख का प्याला लबालब भर चुका था। मीन-तट पर पुर्त्तगालियों के आतंक का नंगा नृत्य देखते-देखते उनकी आंखें थक चुकी थीं, वे कहीं और चला जाना चाहते थे, उस विषाक्त स्वार्थ से लदे वातावरण से दूर, जहां ईश्वर की सेवा अबाध गति से हो सकती, जहां धन का लोभ न था, न इससे जनित अत्याचार ही।

भावावेश में आकर सन्त ने अपने हृदय के विचार व्यक्त कर दिए। यह कहना कि उनका धीरज सदा एक समान बना रहता था, उनको मनुष्य लोक से बहुत ऊपर उठा देना होगा। वे मनुष्य थे और मनुष्य होने के नाते सिद्धि प्राप्त करने पर भी उनमें मानवीय दुर्बलताएं थीं जो कभी-कभी परिस्थिति के झटके पाकर उभर आती थीं। निस्संदेह उनका धीरज छूट रहा था, किन्तु यह क्षणिक कमजोरी थी जो कुछ ही समय में उनके संयम और आत्मबल से दूर हो गई। दूसरे ही क्षण उनके हृदय-सागर का तूफान शान्त हो गया, उनका धैर्य लौट आया और काली घनमाला की ओट से आशा का चान्द फिर मुस्कुराने लगा। काले बादलों से ही स्वाति की बूंदें टपकती हैं।

पुन्नेकायल के ख्रीस्तीयों को खाद्यान्न पहुंचाने में कुछ अड़चने पड़ गई थीं। इसमें महाराज के तहसीलदारों का हाथ था। लेकिन पेरियातलाई स्थित इनिकित्रिबेरिन के भतीजे के सहयोग से यह विघ्न भी दूर हो गया। राजकुमार ने अपनी उदारता का एक और प्रमाण दिया जो पेरियातलाई के ख्रीस्तीयों के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उसने मनपाड़ के चार ख्रीस्तीयों को गांव का मुखिया नियुक्त किया और वह भी उनसे बिना कुछ लिए।

मीन-तट की दशा धीरे-धीरे कुछ सुधरने लगी। वस्तुस्थिति की जांच करने के लिए सन्त फ्रांसिस स्वयं बीसवीं सितंबर के पूर्व जल मार्ग से तुतिकोरिन

पहुंचे। मनसिल्यास से मिलने के लिए उनका दिल तड़प रहा था, लेकिन परिस्थिति की गंभीरता तथा समय के अभाव से वे पुन्नेकायल नहीं उतर सके। वे तुतिकोरिन से लौट कर अक्टूबर में रामवर्मा से मिलने गए। इस महान मिलन का विषय अब तक अज्ञात के गर्भ में छिपा रह गया है। केवल इतना ही मालूम है कि महाराज ने विना मांगे ही संत फ्रांसिस को दो हजार पनम की रकम भेंट की कि भगवान की आराधना के लिए संत फ्रांसिस अपने इच्छानुसार जगह चुनकर एक गिरजाघर का निर्माण करें।

इस नरेश से कहीं अधिक उदारता इनके भाई ने दिखलाई। दक्षिण त्रिवांकुर में मछुओं की एक विशेष जाति खीस्तीय मत ग्रहण करना चाहती थी। इन मुकवों को दीक्षित करने के लिए मार्तंड वर्मा ने संत फ्रांसिस को निमंत्रित किया। मुकवा और परिया जातियों के समान एक दूसरी जाति भी भारत और लंका के मुहाने पर वसती थी। इन लोगों ने भी सन्त के पास दूत भेज कर अपनी हार्दिक अभिलाषा प्रकट की। शायद ये गरीव खीस्त की अनमोल शिक्षा से ही आकृष्ट नहीं हुए थे, पुर्त्तगाली जहाजों का साया पाने की आशा से भी उन्होंने संत फ्रांसिस को बुला भेजा था। कारण कुछ भी हो, खीस्त शिक्षा का अमूल्य बीज उनकी हृदयस्थली में गिरा और कालान्तर में उस कोमल पौधे को उन्होंने अपने खून से सींचा। वेडलाई और पाटिम में खीस्त धर्म का मनोरम उद्यान कुछ ही वर्षों में लहलहाने लगा।

लंका विजय

सिंहल का नाम भारत के इतिहास में अति प्राचीन काल से ही मिलता है। मगध नरेश अशोक ने सिंहल मे बौद्ध मत के प्रचार के लिए एक मंडली और बुद्ध वट की एक डाली भेजी थी। उत्तर भारत के साहित्य में भी सिंहल का नाम बार-बार आया है। कभी रावण जैसे राक्षस का वर्णन मिलता है तो कभी पद्मावती के पिता गंधर्वसेन के सुराज्य का उल्लेख। किन्तु सोलहवीं सदी के सिंहल और तुलसीदास, जायसी या अशोक के सिंहल में आकाश-पाताल का अन्तर है। उस सदी के आरंभ में, जब पुर्त्तगालियों के पैर अनायास सिंहल द्वीप पर पड़े, तब सिंहल पर सात राजाओं का आधिपत्य था। भारत तट से सटे

जाफना में तामिलों की बहुलता थी। दक्षिण में सिंहली कोटे थे। पूर्व की ओर पहाड़ों पर एक घोंसले के समान कांडी बसा था। वहां भी सिंहली शासन चल रहा था।

जाफना के राजा चेकरास शेखरण के इलाके में ही मनार द्वीप पड़ता था। इसी मनार द्वीप के पाटिम निवासियों ने अपने ही समान परिया जाति के लोगों के जरिए संत फ्रांसिस से लंका आने का अनुरोध किया था। उस समय बडक्कों के आक्रमण के कारण संत फ्रांसिस उनका आग्रह पूरा करने से लाचार थे। पुन्नेकायल के मनसिल्यास भी मनार जाने के लिए हठ कर रहे थे, लेकिन वैसी परिस्थिति में अपने नवख्रीस्तीयों से अलग होना उनको खतरे और शंका में ढकेल देना होता? अतः सन्त फ्रांसिस ने किसी दूसरे याजकीय पुरुष को मनार के मछुओं की दीक्षा के लिए भेजा। उन प्रचारकों के अथक परिश्रम और असीम धैर्य से लगभग एक हजार मछुओं ने ख्रीस्तमत ग्रहण किया। पूर्वजों के सनातन धर्म को त्याग कर इन्हें ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा अपनाते देख जाफना का हिन्दू राजा आग बबूला हो उठा। उसने ख्रीस्त धर्म को अपने राज्य से उखाड़ फेंकने का प्रण कर लिया। सेना लेकर वह मनार पहुंचा और ६ सौ निर्दोष ख्रीस्तीयों के रक्त से अपनी तृष्णा मिटाई। कुछ मछुए तो भाग कर भारत पहुंचे और जो नहीं भाग सके, वे सब के सब ख्रीस्त के लिए वीर गति को प्राप्त हुए।

मनार के ख्रीस्तीयों पर तो ऐसा बीत रहा था, उधर नेगापत्तम और ओवारी में पुर्त्तगालियों के उपद्रव बढ़ते जा रहे थे। ऐसी जटिल समस्या में फ्रांसिस के लिए पुर्त्तगाली राज्यपाल की सहायता मांगने के सिवा कोई रास्ता न था। इस कारण उन्होंने कोचिन जाने का निश्चय किया, इस बार स्थल मार्ग से, और पैदल। दो सौ मील की यह यात्रा उनकी सब यात्राओं से कठिन और भयंकर थी। दक्षिण घाटी की उन्नत पर्वतमालाएं और गहन वन तथा तेज पहाड़ी नदियां, जंगली जानवर और अपरिचित जनसमूह, जिनकी भाषा उनके लिए पहेली सी थी। उनके हितचिंतकों ने इस यात्रा से उन्हें रोकने की बहुत कोशिश की, लेकिन वे ध्रुव के समान अपने निर्णय पर अटल रहे।

संत फ्रांसिस को मार्तंड वर्मा का निमंत्रण याद था। दक्षिण त्रिवांकुर

के समुद्री प्रदेश में बसे मुकवों की पुकार उनके कानों तक पहुंच चुकी थी। उन्होंने अपने पग उनकी बस्तियों की ओर बढ़ाए। इन मत्स्य-व्यवसायियों की आर्थिक दशा परिया लोगों के समान ही शोचनीय थी। ये वर्णहीन असहाय मानव अपने सवर्ण भाइयों की आंखों में पशु से भी बदतर थे, उनकी छाया तक अपवित्र थी। फिर भी जो उनसे घृणा करते थे, वे ही उनसे बलात् श्रम कराने और उनकी रोटी मारने में जरा भी नहीं झिझकते।

इन गरीबों के लिए न नगर में घर था और न देहात में खेत। नगर के कुओं से पानी खींचना उनके लिए सार्वजनिक अपराध था और ग्रामदेवता का नाम लेना भी उनके लिए पाप था। हिन्दू समाज के इन्हीं अनाथ बच्चों की सहायता के लिए संत फ्रांसिस निमंत्रित किए गए थे। उन्होंने उत्साहपूर्वक खीस्तीय प्रेम की शिक्षा का प्रचार शुरू किया।

संत फ्रांसिस उन्हें इकट्ठा कर धर्म की मुख्य बातें बताते और उसके बाद पवित्र संस्कार के जल से उनकी आत्मा शुद्ध करते। कुछ ही समय में उन अपढ़ मुकवों को शिक्षित करना असंभव था। जब कभी वे किसी नए गांव में जाते, लोगों को इकट्ठा कर तामिल में क्रूस का चिह्न बनाते, स्वीकारोक्ति, धर्मसार, दस आज्ञाएं, हे पिता हमारे, प्रणाम मरियम और प्रणाम रानी आदि प्रार्थनाएं उच्च स्वर से पढ़ कर सुनाते। इसके बाद वे खीस्तीय धर्म के विश्वास-सार तथा आज्ञाओं पर व्याख्यात्मक उपदेश देते और सबों के साथ ईश्वर से पाप क्षमा मांगते। धर्मसार का प्रत्येक पद सुना कर वे उपस्थित लोगों से पूछते, "आप लोग विश्वास करते हैं?" और जमा हुए लोग अपने सीने पर हाथ रख कर जोर से कहते, "मैं विश्वास करता हूं।" तब वे उन्हें बपतिस्मा देते, पहले मर्दों को, तब स्त्रियों को।

इस तरह एक महीने के अन्दर उन्होंने दस हजार मुकवों को खीस्त की पवित्र गिरजा का अंग बनाया। अपने कार्य से उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि सब मनुष्य आपस में बराबर हैं, उच्च और नीच का भेद केवल सामाजिक ढकोसला है। सभी ईश्वर के पुत्र हैं, सबों के लिए खीस्त ने अपना मुक्तिदायक रक्त बहाया है।

त्रिवांकुर में

त्रिवांकुर में संत फ्रांसिस ने अपना प्रचार उत्तर से शुरू किया। वे गांव-गांव धर्मशिक्षा और बपतिस्मा देते दक्षिण की ओर बढ़े थे। इस राज्य के इतिहासज्ञों के मतानुसार, उन्होंने मुकवा इलाके में पैंतालिस गिरजाघरों का निर्माण किया। डालियों और पत्तों से बने वे देवालय समय पाकर सुन्दर गिरजाघरों में परिणत हो गए।

संत फ्रांसिस इसी इलाके में थे कि उन्हें मनार की दुखद खबर मिली। यह खबर सुन उन्हें हर्ष और विषाद दोनों हुआ। हर्ष इसीलिए कि वे नवजात ख्रीस्तीय इतने अल्पकाल में अपने धर्म में ऐसे स्थिर हो गए कि उन्होंने शहादत द्वारा अपने विश्वास की रक्षा की। और विषाद इसलिए कि वे एक आततायी राजा की निर्मम तलवार की घाट उतारे गए।

किन्तु शहीदों के खून से सिंच कर धर्म का चमन गुलजार होता है। अब संत फ्रांसिस को गोआ जाने से कुछ भी नहीं रोक सकता था, मुकवोंके लिए उनका अगाध प्रेम भी नहीं। एक गांव अब तक बाकी रह गया था, मनक्कुड़ी जो अगस्तीवरम तालुक में पड़ता था। वह गांव मनसिल्यास को सौंप कर फ्रांसिस गोआ के लिए रवाना हो गए। उन्होंने राज्यपाल से जाफना की करुण कहानी का सविस्तार वर्णन किया। पुर्त्तगाली शासक ने उनकी मदद का वचन दिया। यह आश्वासन पाकर संत पत्राचार के लिए कोचिन लौट आए। यूरोप जानेवाले जहाज खुलनेवाले थे, संत फ्रांसिस कैसे यह अवसर हाथ से निकलने देते।

संत फ्रांसिस के पत्र

राजा जौन के पास लिखे पत्र में उन्होंने धार्मिक अधिकारियों की प्रशंसा की। गोआ के धर्माध्यक्ष और उनके सहकारी, संत फ्रांसिस समाजी, सबके सब धर्मप्रचार के कार्य में अधिकाधिक सहायता कर रहे थे। लेकिन इसके विपरीत पुर्त्तगाली पदाधिकारी उसी प्रचारकार्य में रोड़े अटका रहे थे। संत के पत्र लेकर जहाज अभी यूरोप के लिए रवाना हुए थे कि २६वीं जनवरी १५४५ को बंदरगाह में मलक्का का एक जहाज आ लगा। उस जहाज पर से अन्तोनियो पाइवा नामक एक यात्री उतरे। इन्हीं सज्जन से संत फ्रांसिस को मलक्का,

मकासार, आदि द्वीपों की पहली जानकारी मिली। कोई अदृश्य हाथ उन्हें उधर जाने को संकेत कर रहा था। उनका हृदय इन देशों में भी धर्मप्रचार करने को तड़प उठा।

इसके दूसरे ही दिन लंका से आए जहाज पर कोटे के राजा भुवनेक बाहु का भतीजा कोचिन पहुंचा। इस राजकुमार को वपतिस्मा में जौन का नाम मिला था। वहुत से लोग भूवनेक के धर्म-परिवर्तन की भी आशा कर रहे थे लेकिन यह भ्रम मात्र था। इस नरेश को पुर्त्तगाली सहायता की लालसा थी, सत्य की भूख नहीं। उसने अपनी रखेली के लड़के को खीस्तमत ग्रहण करने के कारण मरवा कर, पिता का नाम सदा के लिए कलंकित कर दिया था। राजकुमार जौनके कथनानुसार उस शहीद की दाह-क्रियाके समय पारलौकिक घटना घटी थी, धरा कांप उठी थी और आकाश में एक विशाल क्रूसाकार ज्वाला चमक उठी थी। राजकुमार जौन स्वयं पुर्त्तगालियों की मदद से अपने चाचा की गद्दी छीनने के घात में था। यदि कोटे की राजगद्दी उसे मिल गई तो उसने सारे लंका को खीस्त के चरणों में लाने का वचन दिया था। लेकिन उसका प्रयास विफल रह गया। संत फ्रांसिस की मृत्यु के चार वर्ष बाद कोटे की राजगद्दी पर एक धर्मनिष्ठ राजा बैठे। ये भुवनेक के पोता थे।

उपर्युक्त घटनाओं की चर्चा हम संत फ्रांसिस के तीन पत्रों में पढ़ते हैं। पहला सिमोन रोद्रिगेज के नाम लिखा गया था, दूसरा संत इनीगो के नाम और तीसरा रोमी वंधुओं के नाम। संत इनीगो के नाम पत्र में उन्होंने और सहायक भेजने की अपील की थी, "जिनका शरीर स्वस्थ हो और चरित्र सवल।" ऐसे ही भारत की सेवा कर सकते हैं। भारत में विद्वानों की आवश्यकता नहीं। प्रचारकों को पंडितों से वाग्युद्ध नहीं करना था। उनके वैरी तो मौसम और भोजन हैं। जो उष्ण कटिवंध की गर्मी वर्दास्त कर सकते,वे भारत के लिए पर्याप्त हैं। उन्होंने अपने चिर मित्र सिमोन के नाम जो पत्र लिखा था, वह मानों उनके विशाल हृदय की प्रतिच्छाया है। रोमी वन्धुओं को उन्होंने धर्मप्रचार के तरीकों का आभास दिया।

गोआ के राज्यपाल ने मनार के खीस्तीयों की मदद करने का वादा तो किया, लेकिन उस वादे से कुछ हुआ नहीं। मनार के हत्यारे का बाल भी बांका

नहीं हुआ। पुर्त्तगाली शासक के आज्ञानुसार नेगापत्तम में पुर्त्तगाली जहाज एकत्रित होनेवाले थे और वहीं से पुर्त्तगाली बेड़ा जाफना के राजा चेकरास शेखरम पर आक्रमण करनेवाला था। पर इस बार भी संत फ्रांसिस को पुर्त्तगाली अधिकारियों की धनलोलुपता के कारण निराश होना पड़ा। नेगापत्तम में अभी पुर्त्तगाली जहाज जमा हो ही रहे थे कि धन से लदा, बर्मा से लौटता हुआ, एक पुर्त्तगाली जहाज अचानक जाफना के बन्दरगाह में लगा। यह पुर्त्तगालियों के लिए नई बला थी : धन से लदे जहाज का उद्धार किया जाए कि उत्पीड़ित ख्रीस्तीयों की रक्षा। इसी दुविधा में पुर्त्तगाली अधिकारी झूलने लगे। यदि नेगापत्तम से बेड़ा जाफना पर चढ़ाई करता, तो धन से लदा जहाज हाथ से निकल जाता। अन्त में पुर्त्तगाली कप्तान मेंदेस द वास्को सेलेस ने अपना निर्णय सुनाया, अभियान स्थगित करना ही समयानुकूल होगा।

जब संत फ्रांसिस के पत्र पुर्त्तगाल के अभिमानी बेड़े पर अरब सागर को पार करके यूरोप जा रहे थे,तब स्वयं फ्रांसिस निराशा के सागर में डूब-उतरा रहे थे। अनिश्चित भविष्य मानों विकराल सागर-तरंगों की भांति मुंह बाए उनको निगलने आ रहा था। उनके पत्रों से यूरोप में खलबली मच जाएगी, अनेक युवक हृदयों में धर्मप्रचार की उमंग लहरा उठेगी। लेकिन संत फ्रांसिस परिस्थितियों से पराजित होकर आशा का दीप जलाए रखने का व्यर्थ प्रयास कर रहे थे। दूर में मलक्का और मकासार उनका आह्वान कर रहे थे। उनके जैसे महान विजेता को यह ज्ञात न होता था कि वे भारत में प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ते रहें या ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा का शुभ संदेश सुनाने के लिए नए देशों और नए लोगों की खोज में निकलें। दुविधा के शिकंजे में उनकी आत्मा कसती जा रही थी। वे अपने तमाच्छादित हृदय आकाश को स्वर्गिक किरण से प्रकाशित करने के लिए २२ वीं मार्च दुखभोग के रविवार को नेगापत्तम से एक सौ मील उत्तर की ओर चल पड़े, भारत के प्रेरित संत थोमस की समाधि की ओर।

संत थोमस की समाधि से

महाप्रभु ईसा के बारह प्रेरितों में से एक, संत थोमस का भारत-आगमन बहुत दिनों तक पाश्चात्य इतिहासकारों के लिए विवादग्रस्त विषय रहा है।

इस विवाद का असली कारण कुछ भी हो, अब यह सर्वमान्य सत्य है कि जिन संत थोमस ने, पुनर्जीवित प्रभु को बिना आंखों देखे,उनके पुनरुत्थान पर विश्वास करने से इनकार कर दिया था, वही उन परम प्रभु के विशाल हृदय में विश्व के हर एक प्राणी के लिए उमड़ते प्यार के वशीभूत होकर, लाख कठिनाइयों की परवा न कर, उनका प्रेम-प्रदीप लेकर भारत पधारे थे, पूरब के आकाश को सच्ची ज्योति से देदीप्यमान करने के लिए। कार्य ही ऐतिहासिक तथ्य के साक्षी हैं।

केरल राज्य के संत थोमस खीस्तीयों में यह वंशानुगत परम्परा चली आई है कि प्रभुवर येसु की मृत्यु के लगभग वीस वर्षों वाद संत थोमस ने भारत की प्राचीन भूमि अपने चरणों से पवित्र की थी। भारत के कोंकण तट पर बसे कांगनूर से लेकर तिरुवान्द्रुम तक, खीस्तीय शिक्षा का अमर संदेश सुनाया और बहुत से ब्राह्मण परिवारों को बपतिस्मा देकर खीस्तभक्त बनाया था। भगवान की आराधना के लिए उन्होंने इस क्षेत्र में सात गिरजाघरों का निर्माण किया था। केरल में खीस्तमत की नींव दृढ़ कर वे भारत के पूर्वी तट की ओर चले। उन्होंने अन्यायी राजा का कोपभाजन बन कर वंग सागर के तट पर बसे मयलापुर ग्राम में अपने पावन रक्त से इस भारत-भूमि को सींचा था। आज भी उनकी समाधि मद्रास राज्य में सां थोमे के नाम से प्रसिद्ध है, जहां हजारों की तादाद में प्रति वर्ष खीस्तीय तथा अखीस्तीय यात्री तीर्थ करने जाते हैं।

इसी सां थोमे की शरण में संत फ्रांसिस चले अपनी आत्मा के निविड़ अंधकार में दिव्य किरण पाने की लालसा से। उनके साथ दिएगा मादेइरा नाम एक पुर्त्तगाली सज्जन भी अपने नौकर और एक लड़की के साथ, जो शायद उनकी सुपुत्री थी, उस छोटे जहाज में यात्रा कर रहे थे। पहली ही रात को बड़े जोर से आंधी उठी। विवश होकर नाविकों ने पाल गिरा दिए, जहाज एक ही स्थान पर ६ दिनों तक अटका रहा। ऐसे संकट-काल में संत फ्रांसिस ने अपने मुंह में अन्न का एक दाना भी नहीं डाला, मादेइरा इसके साक्षी हैं।

६ दिनों के वाद दुःखभोग सप्ताह के शनिवार को उन्होंने प्याज के शोरबे से अपना उपवास तोड़ा। आंधी थमने के बाद जहाज पुनः खुलने पर था कि संत फ्रांसिस ने कप्तान को नागपत्तम लौट जाने की राय दी। कुछ विचार-विमर्श

हुआ और बहुमत आगे बढ़ने के पक्ष में था। संत की सलाह टाल ली दी गई। जहाज अभी कुछ ही दूर गया था कि फिर आंधी उठी और विवश होकर से नेगापत्तम लौट जाना पड़ा।

नागपत्तम लौट कर संत फ्रांसिसने मनसिल्यास के नाम एक और पत्र लिखा। उस समय मनसिल्यास गोआ में थे। वर्षों की प्रतीक्षा के बाद उनका मनोरथ सिद्ध हुआ। गोआ के वृद्ध धर्माध्यक्ष ने अपने हाथ उनका पुरोहिताभिषेक किया। पत्र में संत ने फिर बच्चों को बपतिस्मा और धर्मशिक्षा देने की सलाह दुहराई थी। उन्होंने भारतीय पुरोहितों पर कड़ी निगरानी रखने को भी कहा, क्योंकि थोड़ी लापरवाही से बहुत हानि हो सकती हैं। उन्होंने नवपुरोहित को तुतिकोरिन के कप्तान पाइवा की आध्यात्मिक सहायता करने की ताक में रहने को कहा और अपने भावी अभियान की ओर भी संकेत किया।

संत ने एक बार और जल-मार्ग से सां थोमे जाने का प्रयत्न किया। किन्तु इस बार भी वे सफल न हो सके। अब उनके लिए एक ही रास्ता रह गया, उस अस्सी कोस के फैसले को पैदल तय करना। उन्होंने ठान लिया कि अब आंधी आए या वज्रपात हो, उनकी यात्रा किसी भी हालत में नहीं रुक सकती। एक अलौकिक शक्ति उन्हें उधर जाने को बाध्य कर रही थी और इसकी अवज्ञा वे नहीं कर सकते थे। भारत के द्वितीय प्रेरित प्रेरणा के लिए प्रथम प्रेरित की समाधि पर जा रहे थे। इसमें आश्चर्य या हिचकिचाहट की कौन-सी बात हैं!

सां थोमे का गिरजाघर

जब पुर्त्तगाली मद्रास आए तो सां थोमे का गिरजाघर जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था। सन् १५२३ में पुर्त्तगालियों ने टूटे भागों की मरम्मत कर पास ही में पुरोहितावास भी बना दिया। इस मकान और गिरजाघर के बीच एक छोटी-सी फुलवारी थी। गिरजाघर की दाईं ओर एक वेदिका थी, जिसकी दीवार में संत थोमस के पुण्यावशेष सुरक्षित थे:उनकी समाधि से प्राप्त कुछ हड्डियों और भाले की नोक। वहां पहुंचने पर संत फ्रांसिस की भेंट श्रद्धेय गास्पार कोइल्यो से हुई जो सां थोमे के पल्ली पुरोहित थे। इस साधु पुरोहित के साथ संत फ्रांसिस ने चार मास भारत-प्रेरित की समाधि पर बिताए।

प्रति दिन वे भजन के समय कोइल्या का साथ देते और रात को उद्यान से होकर अलग एक झोपड़े में, जो केवल मोम रखने के काम में आता था, प्रार्थना करने चले जाते। वे रात का अधिकांश भाग प्रार्थना और तप में वहीं बिता देते। एक बार श्रद्धेय कोइल्यो ने उन्हें रात को झोपड़े में जाने को मना किया, वह भूतों का अड्डा है। संत फ्रांसिस ने इस पर ध्यान नहीं दिया, लेकिन दूसरे दिन से वे अपने साथ एक मलयाली टहलुए को ले जाते थे। बाहर सीढ़ी पर टहलुआ सोता और भीतर संत फ्रांसिस ईश्वर से संलाप करते।एक बार उस टहलुए ने संत फ्रांसिस को करुणाजनक स्वर में विनय करते सुना,"स्वामिनी मरियम, क्या आप मेरी रक्षा नहीं करेंगी," साथ-साथ तमाचों की आवाज भी उसे सुनाई पड़ी। भोर को संत फ्रांसिस खाट से नहीं उठ सके। प्रभात भजन के समय उन्हें गिरजे में नहीं देख कर श्रद्धेय कोइल्यो ने उन्हें उलाहना देते हुए कहा, "मैंने ठीक कहा था न, आप वहां न जाएं।" संत ने इसका कोई उत्तर न दिया। मूक मुस्कुराहट की भाषा शब्दों से कम स्पष्ट नहीं होती।

सां थोमे में संत फ्रांसिस चार महीने रहे। तपस्या के ये चार महीने लोगों को शिक्षा देने में बीते। जो कुछ उन्होंने वहां किया, उसमें से केवल एक घटना हम लोगों तक पहुंच पाई है। इसका उल्लेख स्वयं सन्त ने मलक्का से भेजे उनके पत्र में किया है। यह जुआन दे इरो नामक एक व्यापारी की कहानी है। एइरो एक सफल वणिक था। संत फ्रांसिस की प्रतिभा की चर्चा सुन कर वे अपना व्यापक पापस्वीकार करने उनकी खोज में सां थोमे पहुंचे। संत फ्रांसिस के निर्देशन में उन्होंने आध्यात्मिक साधना भी की। इसके फलस्वरूप उन्होंने अपना जहाज और माल असबाब वेच कर संत के साथ मकासार जाने की इच्छा प्रकट की।

सां थोमे में सन्त फ्रांसिस के जीवन का एक नया अध्याय प्रारंभ हुआ। अनवरत प्रार्थना और कठोर संयम तथा तपस्या के बाद उन्हें वह अप्रत्याशित ज्योति मिली, जिसकी खोज में वह इतनी दूर आए थे। हाल ही में मलुक्का में कितनों ने ख्रीस्तीय मत ग्रहण किया था, यदि वहां कोई ख्रीस्त की शिक्षा का प्रचार करनेवाला होता तो और भी बहुत ख्रीस्तानुयायी बनते। लेकिन

सहायकों की कमी से वह महान कार्य रुका हुआ था। उसे पूरा करने के लिए शायद ईश्वर उन्हें तो नहीं बुला रहे हैं?

इस विचार से संत फ़्रांसिस तैयार हो गए। सां थोमे में मिली शक्ति से उनका संकल्प और दृढ़ हो गया था, इतना दृढ़ कि यदि पुर्त्तगाली जहाज उनको न मिले तो मुसलमानों के संग जाने में उनको जरा भी हिचकिचाहट न होगी। विश्वास का शस्त्र धारण कर और प्रेम का कवच पहन वे दुनिया के किसी भी कोने में जाने को प्रस्तुत थे। यात्रा का समय निर्धारित हो गया। अगस्त के अन्त में हवा के अनुकूल होते ही, वे अपनी पूर्वी यात्रा आरंभ कर देना चाहते थे। अगस्त आया आशा को समाप्त करने। दे एइरो के साथ संत फ्रांसिस श्रद्धेय कोइल्यो द्वारा दिए भारत प्रेरित के पुण्यावशेष लेकर पूरब की ओर चल पड़े। पूर्व उनको ललकार रहा था, वीर सेनानी का मन-मयूर उत्साह और उमंग से नाच उठा, सुदूर पूर्व से आती मेघों की गड़गड़ाहट से।

भारत से दूर

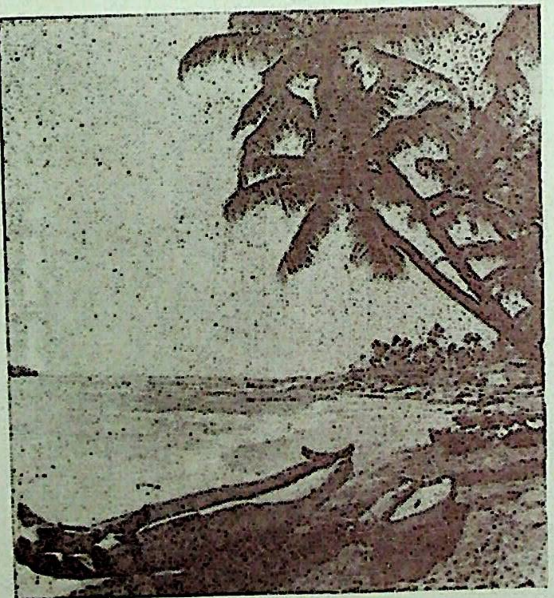
सोलहवीं सदी क्या, ईसवी सन् से भी पहले मलाया में बौद्ध भिक्षुओं और हिन्दू संन्यासियों का आगमन हुआ था। बौद्ध मठों और विहारोंके खंडहर आज भी मलाया में जहां-तहां मिलते हैं। भूगोल और ज्योतिष के आचार्य मिस्र देश का प्राचीन निवासी टालमी ने मलाया को स्वर्ण प्रायद्वीप नाम दिया है। तेरहवीं सदी में मुस्लिम व्यापारी पहली बार सुमात्रा में आए। व्यापार के साथ-साथ उनमें विदेशियों में धर्मप्रचार की भी धुन थी। इस्लामी तलवार के डर से पन्द्रहवीं सदी के अन्त तक आस पास के सभी द्वीपों ने कुरान को स्वीकार कर लिया था और पूर्वी आकाश में दूज का चान्द पुर्त्तगालियों के आने तक चमकता रहा। १५११ में पुर्त्तगाली सेनानी, गोआ विजेता अलवुकेर्क की तोपों और बंदूकों से मलक्का के इस्लामी शासकों की कमर टूट गई। अन्य पुर्त्तगाली बस्तियों की भाँति यहां भी एक दुर्ग बना और बन्दरगाह की रक्षा के लिए पुर्त्तगाली सैनिक प्रति वर्ष आने लगे। उनकी आध्यात्मिक देखभाल के लिए पुरोहित भी भेजे जाते थे। सन् १५४५ के सितंबर में मलक्का पहुंचने पर ही सन्त फ्रांसिस को पुर्त्तगालियों के शक्तिशाली आधिपत्य का पता चला।

मलाया प्रायःद्वीप के तट पर, मलक्का मुहाने पर ही इस नाम का नगर बसा हुआ था, सां थोमे से अट्ठारह सौ मील दक्षिण-पूरब और आधुनिक सिंगापुर से लगभग डेढ़ सौ मील उत्तर-पश्चिम की ओर। यद्यपि आजकल वर्तमान सिंगापुर के सामने उषा के तारा के समान इसकी प्रतिभा क्षीण हो गई है, अपने जमाने में यह अपना सानी नहीं रखता था। पुर्त्तगालियों ने यहाँ आकर इसके गौरव में चार चान्द लगा दिए। मलक्का मुहाने से होकर जाने-वाला कोई जहाज यहाँ रुके विना आगे नहीं बढ़ता था। यह पूरब और पश्चिम का संधिस्थल था, जहां हर प्रकार के लोग देखने में आते, हर तरह की बोलियां सुननी पड़तीं। कुरता-टोपी, पगड़ी-पाजामा, धोती-लूँगी रंग-बिरंगी पोशाकों को देखकर मालूम पड़ता कि इस व्यापारिक केन्द्र में साल भर होली ही मनाई जाती है।

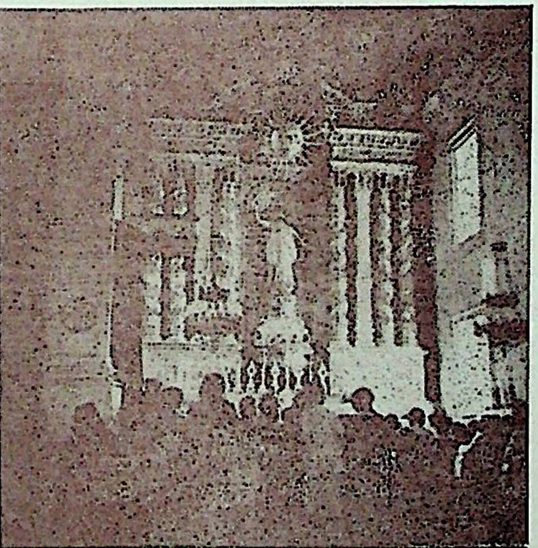
मलक्का की ओर

अन्तोनियो परेरा के परिचालन में चार सौ टन का कारोमंडल जहाज सां थोमे से संत फ्रांसिस और अन्य यात्रियों को लिए वंग सागर के वक्षस्थल को चीरता, तूफानों से लड़ता, छिछले जलसमूह पर फिसलता मलक्का की ओर बढ़ा। एक बार तो उसकी ऐसी दुर्गति हुई कि उसके यात्री जीवन से निराश हो गए। जहाज का पेन्दा समुद्र की सतह से रगड़ खाता जाता था और यात्रियों के प्राण मुंह को आते जाते थे। "यदि हम किसी चट्टान से टकरा जाते तो जहाज टुकड़े-टुकड़े हो जाता और यदि पानी कम हो जाता तो हम वहीं फंसे रह जाते।" ऐसे संकट में भी संत फ्रांसिस का विश्वास और ईश्वर के विधान पर भरोसा बढ़ता ही गया। हमारे ईश्वर उन खतरों में केवल हमारी परीक्षा लेना और यह सिखाना चाहते थे कि जब हम अपना भरोसा कृत्रिम वस्तुओं पर रखते हैं तो कैसे असमर्थ ज़ान पड़ते हैं। किन्तु जब हम झूठी आशा त्याग कर भरोसे के साथ संसार के सृष्टिकर्त्ता की ओर मुड़ते हैं, जो अपने प्रेम के लिए उठाए गए खतरों में हमें बल देते हैं, तो हम कैसे समर्थ बन जाते हैं।

संत फ्रांसिस का स्वागत करने के लिए मलक्का का बंदरगाह खचाखच भरा था। भारत में किए उनके चमत्कारों की खबर वहां पहले ही पहुंच चुकी थी।



दक्षिण भारत का समुद्र-तट (पृष्ठ ९२)



गोआ के उस गिरजाघर की प्रधान वेदी, जहां सन्त का अविकृत शव सुरक्षित है ।

बन्दरगाह में सभी वर्ग तथा अवस्था के लोगों का जमघट था। सब के सब स्वागत-समारोह में भाग लेने और "सिद्ध स्वामी" के दर्शन करने आए थे।

लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब जहाज से उतरते ही लोगों के बीच से होकर जाते समय संत अपने स्वागतार्थ आए बालकों के नाम ले-ले कर उनके माता-पिता का समाचार पूछने लगे। इन्हीं बालकों में एक पौल गोमेस युरोपीय लड़का था, जो संत फ्रांसिस को देखते ही उन पर लट्टू हो गया। बालकों के प्रति संत फ्रांसिस के हृदय में अगाध निश्छल प्रेम था, जिसकी दमक उनकी मुखाकृति पर सदा खेलती रहती थी। इस सहज, स्वाभाविक स्नेह से आकर्षित होकर बालक उन्हें सदा घेरे रहते। उनसे हिममिल कर रहने में उन्हें अपार आनंद मिलता था। गोमेस तो संत फ्रांसिस से इतना हिममिल गया था कि बड़े होने पर संत के पद-चिह्नों पर चलने के लिए येसुसमाज में भर्त्ती हो गया।

मलक्का में कार्य क्षेत्र बड़ा विस्तृत था, लेकिन वहां का नैतिक और धार्मिक वातावरण विषाक्त हो गया था। विषुवत् रेखा के इतना करीब रहने से वहां की जलवायु तो असह्य थी ही, किन्तु इससे भी बदतर थी उसकी नैतिक पतित अवस्था। वैभव की प्रचुरता और मलाया स्त्रियों के मोहक लावण्य से पुर्त्तगाली अपनी नैतिक सुध-बुध खो बैठे थे। रखेलियों की कमी नहीं थी, सब प्रकार के दुराचार की वहां प्रथा-सी हो गई थी। सचमुच मलक्का पाप का संडास बना हुआ था। नगर भर में केवल एक पुरोहित थे; पाप-पंक में बेतरह फंसे नगर को एक पुरोहित कैसे बाहर निकाल सकते थे। लेकिन उन चरित्रहीन पुर्त्तगालियों में भी ख्रीस्तीय उदारता के संकेत यत्र-तत्र मिलते थे। पाप के दलदल में फंसे पुर्त्तगाली भी "दया संघ" के सदस्य कहलाने में अपना गौरव समझते थे। इसी संघ के तत्वावधान में एक अस्पताल चल रहा था। रखेलियों के कलुषित पाश में फंसे होने पर भी पुर्त्तगाली ख्रीस्तमत प्रचार करने का प्रयत्न करते रहते थे। कीच में भी पड़ा कांच चमकता रहता है।

जैसे मोजांबीक में, वैसे मलक्का में भी संत फ्रांसिस के रहन-सहन का तरीका अत्यन्त सरल था। नगर के पुरोहित, दुर्ग के कप्तान और दिएगो परेरा नामक एक धनी व्यापारी के लाख आग्रह करने पर भी वे एइरा के साथ अस्पताल के ही निकट एक झोपड़ी में रहने लगे। वे ऐसी जगह में डेरा डालना चाहते थे,

जहां से हर क्षण सब की सहायता कर पाते। अपनी झोपड़ी में उनकी आध्यात्मिक शुश्रूषा भी आसानी से कर सकते थे। बहुत से रोगियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी, कितने तो मृत्यु से व्यर्थ लड़ रहे थे। ऐसे लोगों को अंतिम संस्कार के द्वारा महाप्रयाण के लिए तैयार करने से बढ़ कर कौन कार्य महान हो सकता है। उनकी उपस्थिति में प्रति दिन मिस्सा का पूज्य बलिदान चढ़ाते, प्रत्येक रविवार को वे स्वर्गारोहण नामक गिरजे में उपदेश करते। प्रति दिन बच्चों को बटोर कर धर्म की शिक्षा देते। शाम होते ही उनके साथ शहर की गलियों में घंटी बजा-बजा कर जनता को याद दिलाते कि शोधक-अग्नि की आत्माओं के लिए प्रार्थना करें।

तप और प्रार्थना

नैतिक सुधार और आध्यात्मिक प्रगति हमारे बूते की बात नहीं। यदि ईश्वर हमारी मदद न करें, तो अपने से कुछ नहीं कर सकते। संत फ्रांसिस इस तथ्य से पूर्ण परिचित थे और मलक्का की जनता इस नियम का कोई अपवाद न थी। उसका नैतिक स्तर उठाने के लिए ईश्वर की सहायता उतनी ही आवश्यक थी जितना मनुष्य के जीने के लिए हवा। अविरल प्रार्थना द्वारा संत फ्रांसिस ने स्वर्ग का द्वार खटखटाना शुरू किया। दिन भर वे मलक्का निवासियों की सेवा करते और रात भर उनके लिए प्रार्थना। रात को संत फ्रांसिस क्या करते हैं, इसका पता रोद्रिगेज द सेकेइरा नामक सज्जन लगाना चाहते थे। दे एइरा के साथ सेकेइरा संत फ्रांसिस की ही झोपड़ी में रहते थे। सन्त फ्रांसिस की कार्रवाइयों की छानबीन करने का कुतूहल उसमें जगी। रात को उठ कर वह संत फ्रांसिस की कोठरी में झांका करता था। हर समय उसे वही दृश्य दिखाई पड़ता, एक क्रूसकाय के सामने घुटने टेके, हाथ पसारे मनुष्य की धुंधली छाया। उनकी कोठरी में सामान भी नाम मात्र के थे. एक मेज, जिसकी बगल में एक शिलाखंड, जिस पर संत एक-दो घंटों के लिए अपनी थकान मिटाने के लिए लेट रहते और पौ फटने के पहले ही, वह कठोर बिछावन त्याग अपनी आह्निका-पठन के बाद मिस्सा का पूज्य बलिदान चढ़ाते और ईश्वर तथा मनुष्य की सेवा में नया दिन शुरू कर देते। ईश्वर भी ऐसे त्यागी भक्त को नहीं भूलते। मिस्सा

चढ़ाते समय अपनी कृपा की धार उंडेल देते। ऐसे अनुग्रह का प्रतिफल संत के शरीर पर भी पड़ता था। कितनी वार डाक्टर कोसमस सरेवा ने पवित्रीकरण के बाद उन्हें किसी आधार के विना जमीन से ऊपर खड़ा देखा था। उसी सज्जन की साक्षी से हमें मालूम है कि ईश्वर ने संत को लोगों के मतपरिवर्तन की विशेष-शक्ति दी थी।

नगर में एक बड़ा विद्वान् यहूदी रहता था। उसे ख्रीस्तमत से ऐसी घृणा थी कि यदि उसे पता लग जाता कि उसकी विरादरी का कोई आदमी ख्रीस्तमत की ओर किसी प्रकार आकर्षित हो रहा है तो वह अपने उस भाई की दुर्बलता दूर करने के लिये जी-जान से भिड़ जाता। किन्तु संत फ्रांसिस के सामने यह कठोर पत्थर भी मोम वन गया। खस्तमत के वैरी को जव ख्रीस्त के शुभ संदेश की मधुर ध्वनि मिली, तो उसकी घृणा सद्भावना और उसका कट्टरपन सहानुभूति में वदल गई। प्रेम के सामने शत्रुता पराजित हो गई। अव तक जो दूसरों को ख्रीस्तमत ग्रहण करने में अड़ंगा लगाया करता था, वह स्वयं ख्रीस्त का अनुयायी वन गया।

स्नेह और मैत्री

मलक्का-निवासियों को दुराचरण के दलदल से निकालने के लिए संत फ्रांसिस के पास दो ही साधन थे : स्नेह और मत्री। मीठी वोल और प्रेम-व्यवहार से वे लोगों की मित्रता और विश्वास के पात्र वन जाते थे और तब उन्हें पापपंक से निकालने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। अपनी सेवा से वे उनके नैराश्यपूर्ण हृदयों में आशा भर देते, उनके मनोरंजन और खेलों में सम्मिलित होते, यहां तक कि वे जूए के खेल में भी उनका साथ देते नहीं झिझकते। यदि ईश्वर को अप्रसन्न किए विना हम जूआ खेल सकें तो इसमें हानि ही क्या है? यदि वे देखते कि किसी परिवार की भलाई कर सकेंगे तो विना वुलाए भोजन के लिए पहुंच जाते। उनके लिए सवों का द्वार खुला रहता था। लोग उनको भोजन के लिए अपने साथ वैठा देख अपना अहोभाग्य मानते। भोजन के बाद वे वातचीत के सिलसिले में भोजन वनानेवाली के विषय में पूछते, उसे वुलाने को कहते और उसके आते ही उसके पाककौशल की प्रशंसा का पुल बांध देते। जब सभी प्रसन्न हो जाते, तो चलते-चलाते कहते कि पवित्र जीवन बिताने में भी

इसी प्रकार दिलचस्पी लेते रहें। वे ऐसी सहानुभूति से पुर्त्तगालियों के ही नहीं, उनकी रखेलियों के भी श्रद्धापात्र बन जाते। इस तरह उन्होंने अपनी प्रतिभा और प्रेमभाव से मलक्का के सैकड़ों उपकार किए, तो भर्त्सना या कटु आलोचना से कदापि संभव नहीं होते। दिनानुदिन उनका प्रभाव उस नगर में बढ़ता गया, राह चलते लोग आदरवश उनका हाथ चूमने को झुक पड़ते।

एक बार एक पुर्त्तगाली सज्जन के पुत्र को भूत लग गया था। लड़के की हिन्देशियाई माता ने ओझों के आदेशानुसार अपने भूतग्रस्त पुत्र की कलाई रस्सी से जकड़ डाली थी। फिर भी बच्चे की दशा में कोई भी सुधार नहीं हुआ। वह फर्श पर अधमरा पड़ा रहा। तब संत फ्रांसिस बुलाए गए। उनको देखते ही लड़का चिल्ला उठा। संत फ्रांसिस शान्त मुद्रा में उसके पास दो घंटों तक प्रार्थना करते रहे। अन्त में प्रार्थना के बल से वह भूत निकाला जा सका।

मलक्का में संत फ्रांसिस का कार्य सुचारु रूप से चल तो रहा था, लेकिन मलक्का से दूर पूरब मलुक्का द्वीपपुंज था। वहां पहुंचने के लिए सन्त फ्रांसिस का मन अधीर हो रहा था। आखिर वहीं जाने के लिए वे भारत से चले थे। किन्तु मलुक्का जाने में अभी देर थी। अतः मलक्का निवासियों की सेवा करते समय संत फ्रांसिस अपने मलुक्का अभियान की भी तैयारी करते रहे। सबसे पहले भाषा का सवाल उठा। मलाया भाषा ही एक ऐसी विदेशी भाषा थी जिसे मलुक्का निवासी समझ सकते थे। इसलिए सन्त फ्रांसिस इसका अध्ययन करने लगे। उन्होंने इसमें मुख्य-मुख्य प्रार्थनाओं का अनुवाद भी कर लिया और मलुक्का के इतिहास तथा वहां की धार्मिक स्थिति की भी जानकारी हासिल करने लगे। संत फ्रांसिस ने अपने यूरोपीय येसु समाजियों के पास मलुक्का के विषय में लिखा था, "वहां धर्म विस्तार के लिए बड़ी आशा है, क्योंकि वहां न मूर्तियों के लिये मंदिर है, न भ्रामक पुरोहित, जो लोगों को अंधविश्वास की बेड़ी तोड़ने में बाधा पहुंचावेंगे। वे सुबह को उगते सूर्य की आराधना करते हैं। यही उनका धर्म है। वे सदा एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि पूर्वी द्वीप-पुंज की यथार्थ धार्मिक स्थिति के विषय में संत फ्रांसिस को अब तक सही खबर नहीं मिल पाई थी।

अक्टूबर में गोआ से पुर्त्तगाली जहाज आया और उसी पर संत फ्रांसिस के

लिए पत्रों का पुलिन्दा भी। इन पत्रों में सन्त इनीगो का भी पत्र था जिसमें उन्होंने अपने समाज की उत्तरोत्तर उन्नति की चर्चा की थी। पीटर फावेर ने अपने पत्र में विभेदियों के पतन का उल्लासपूर्ण वर्णन किया था। गोआ के राज्यपाल मार्टिन आफोंसे दे सुजा की अवधि समाप्त हो चुकी थी। उसकी जगह जौन द कास्त्रो नियुक्त हुए थे। इस नए राज्यपाल के समय में ही तीन और येसुसमाजी भारत आ चुके थे।

क्यों नहीं मलुक्का चलें

संत फ्रांसिस ने मकासार का वर्णन पहले-पहल कोचिन में अन्तोनियो पाइवा के मुंह से सुना था। उसी क्षण से उनके हृदय में इस द्वीप-पुंज में ख्रीस्तीय प्रेम का प्रचार करने की गुदगुदी पैदा हो गई थी। उनके मलक्का पहुंचने के कुछ ही दिन पूर्व एक पुर्त्तगाली बेड़ा उन द्वीपों की ओर रवाना हो चुका था और उसके लौटने तक कोई दूसरा जहाज उधर नहीं जानेवाला था। हवा का रुख भी बदलता जा रहा था। इस कारण संत को अपनी योजना में कुछ संशोधन करना पड़ा। मकासार के आगे मलुक्का में भी कुछ नए ख्रीस्तीय थे। उन्हें भी तो पुरोहित की आवश्यकता थी। तो फिर क्यों नहीं वहीं चला जाय। और १५४६ के प्रथम दिन फ्रांसिस और द एइरा एक पुर्त्तगाली जहाज पर मलुक्का की ओर चल पड़े।

जब पुर्त्तगाली विजेता आलबुकर्क मलक्का में इस्लामी झंडा उखाड़ कर उसकी जगह पुर्त्तगाली पताका गाड़ रहा था, एकाएक उसके विलायती नथनों में पूर्वी हवा का झोंका लगा, मोहनी सुगंध से लदा, मन को चंचल कर देनेवाला। उस अभिमानी, दिलेर सेनानी की आज्ञा से उस सुगंधागार की खोज में तीन जहाज चल पड़े। उनमें से एक जहाज अनायास आम्बोइना द्वीप के किनारे जा लगा और वहां से होता तेरनाते पहुंचा। तेरनाते मसालों का मुल्क था। तब से प्रति वर्ष पुर्त्तगाली जहाज तेरनाते जाता और कीमती मसालों से लदा भारत होता हुआ यूरोप लौटता।

१५३५ में पुर्त्तगाली कप्तान त्रिस्तान द अताइदे ने तेरनाते के सुल्तान तबरीजा की सल्तनत उसके सौतेले भाई हारून को दे दी। तबरीजा को बेड़ियों से

जकड़ा गोआ भेज दिया। इस दुर्नीति से तरनाते के निवासियों में खलबली मच गई थी जो धीरे-धीरे क्रान्ति का रूप धारण करने लगी। पुर्त्तगाली वस्ती पर खतरे के वादल मंडराने लगे। उसी वर्ष उस द्वीप-पुंज के प्रथम प्रेरित श्रद्धेय सिमोन वाज़ मोरोताई निवासियों की चंचल प्रकृति के शिकार वन चुके थे। उनके साथी एक व्यापारी श्री फ्रांसिस आल्वारेज मुश्किल से अपनी जान वचा पाए थे। इन दो व्यक्तियों ने अथक परिश्रम द्वारा मोरो तथा मोरोताई में पांच छः हजार मुसलमानों को खीस्तीय धर्म की शिक्षा दी थी। ऐसी ही डांवाडोल परिस्थिति में अन्तोनियो गालवाओ १५३६ में तेरनाते के कप्तान वन कर पहुंचे। उनकी कार्यकुशलता और सुशासन से पूर्व के शान्त, नीले आकाश में फिर से शान्ति छा गई और खीस्त की प्रेम-शिक्षा का प्रचार पुनः होने लगा। तेरनाते के तीन मुसलमान सरदारों ने बपतिस्मा ग्रहण किया और विश्वासघाती मोरो निवासियों ने अपने कुकर्मों की क्षमा पाई।

१५४४ में पुर्त्तगालियों के सर्वाधिकार सुरक्षित मलुक्का सागर में एक स्पेनी वेड़ा आ पहुंचा। स्पेन के इस पैंतरे से पुर्त्तगाली वौखला उठे, स्पेन उनकी ऐसी अवज्ञा कर सकता है, इससे उनके अभिमान को ठेस लगी। तुरंत फर्नानद तावोरा उन स्पेनी लुटेरों को भगाने के लिए भेजे गए। उनके वेड़े पर एक पुरोहित भी थे। तव से तेरनाते की देखरेख तो होने लगी थी, लेकिन आम्वोइना के खीस्तीय विना चरवाहे की भेड़ की तरह रह गए थे। इन्हीं अनाथ आम्वोइना निवासियों के सेवार्थ संत फ्रांसिस मलक्का से प्रस्थान करने को उत्सुक थे। प्रस्थान के तुरंत पहले उन्हें चीन देश केविष य में एक वड़ी रोचक खवर मिली। वहां एक विशिष्ट समाज का पता लगा जिसके सदस्य विभिन्न प्रकार के त्योहार मनाया करते थे। वे न सूअर का मांस खाते थे, न अपने अन्य चीनी भाइयों से मिलते-जुलते थे। सन्त का कार्यक्षेत्र और भी विस्तृत जान पड़ा। इस अनूठे समाज का निश्चित पता लगाने का आदेश उस व्यापारी को दे, जिसने यह खवर उनको दी थी, सन्त फ्रांसिस जहाज पर चढ़े। यह १५४६ का नववर्ष था। द एइरा उनके साथ गया।

सन्त फ्रांसिस अब भारत से और भी दूर जा रहे थे। फिर भी उनके विशाल हृदय में भारत का प्यार वना ही था। भारत को उन्होंने अपना प्रथम प्यार

दिया था। चलते समय उन्होंने गोआ बंधुओं को पत्र लिखे। मीन-तट के ख्रीस्तीयों की सेवा में लगे मनसिल्यास को उतनी दूर से भी वे राय-सलाह देते रहे। उन बेचारे परियों के लिए भी संत के हृदय में विशेष स्थान था।

आम्बोइना और पड़ोसी द्वीप

नील समुद्र को चीरता और जावा की प्राकृतिक सुषमा को सरसरी नजर से देखता पुर्त्तगाली जहाज चलता रहा डेढ़ मास तक। तब भी कोई तट नजर न आया। नाविकों के हृदय शंका से उथल-पुथल होने लगे, कहीं मार्ग तो नहीं खो गए। उन्हें ऐसे अधीर देख संत ने भविष्यद्वाणी की। दूसरे दिन आम्बोइना का तट दीख पड़ा। यह फरवरी की दसवीं तारीख थी। आम्बोइना द्वीप की परिमिति करीब पचीस-तीस मील है। यहां ख्रीस्तीयों के सात गांव थे। जहाज से उतरते ही रसन्त ने उन गांवों का दौरा शुरू कर दिया। उन्होंने पहले घूम-घूम कर बच्चोंको बपतिस्मा दिया; तब आम्बोइना से उत्तर सेराम द्वीप की ओर चले। यह द्वीप आम्बोइना से कई गुणा बड़ा था। वे अथाह सागर में ही थे कि जोरों की आंधी उठी, नाव के डूबने की नौबत आ गई। सन्त ने अपना क्रूसकाय रस्सी से बांध कर पानी में लटकाया। दुर्भाग्यवश लहरों के चपेट में आकर क्रूसकाय सागर में लापता हो गया। आंधी शान्त होने पर नाव तट से जा लगी। इस घटना के चौबीस घंटों बाद संत फ्रांसिस, फोस्तो रोद्रिगेज के साथ समुद्र के किनारे-किनारे तामोलो नामक गांव की ओर जा रहे थे। अब तक उन्हें अपने खोए क्रूसकाय के लिए हृदय में दुःख हो रहा था। एकाएक उनकी नजर एक केकड़े पर पड़ी। वह सन्त फ्रांसिस का क्रूसकाय लिए उन्हीं की ओर आ रहा था। एक बुद्धिहीन जन्तु को यह करते देख, संत फ्रांसिस और रोद्रिगेज को आश्चर्य का ठिकाना न रहा। दोनों ने घुटनों के बल पृथ्वी पर गिर कर ईश्वर को इस चमत्कारपूर्ण उपकार के लिए धन्यवाद दिया।

धर्मप्रचार की दृष्टि से संत फ्रांसिस की सेराम की यात्रा निष्फल रही। चेष्टा करने पर भी तामालो गांव का एक भी निवासी ख्रीस्तीय न बना। आम्बोइना छोड़ने तक नुस्सालोइत गांव के केवल एक निवासी ने ख्रीस्तीय दीक्षा पाई थी। ख्रीस्त-शिक्षा के बीज ऊसर भूमि पर गिरे थे जहां उनके पनपने

के लिए न उदारता की नमी थी, न जड़ पकड़ने के लिए विश्वास और नम्रता की जल-धारा।

चालीसे के समय संत फ्रांसिस जब सेराम से वापस आए तो आम्बोइना के बन्दरगाह में पुर्त्तगालियों के साथ स्पेनियों को देख आश्चर्यचकित रह गए। एक सौ तीस स्पेनी सैनिक पुर्त्तगाली कप्तान फर्नान्देस द सुजा की कैद में थे। वे स्पेनी सैनिक मेक्सिको के फिलीपीन की खोज में निकले थे। लेकिन पुरानी कहावत इन पर लागू हुई : चौबे गए छब्बे बनने, दूबे बन के आए। फिलीपीन पहुंचते-पहुंचते उन्हें एक सौ पचास पुर्त्तगालियों से लोहा लेना पड़ गया। आंधी, भूखमरी और बीमारियों से विवश होकर उन्हें पुर्त्तगाली जहाजों के सामने शस्त्र समर्पण कर देना पड़ा, इस शर्त पर कि वे यूरोप तक पहुंचा दिए जाएं। भारत के रास्ते में वे आम्बोइना में शरद काट रहे थे। स्पेनी सैनिकों के साथ चार अगस्तीन समाजी और चार धर्मप्रान्तीय पुरोहित भी थे, जिन पर सैनिकों के आध्यात्मिक जीवन का भार था। लेकिन सैनिकों के आचरण से तो यही कहा जा सकता है कि उतने सैनिकों के लिए ये आठ पुरोहित कदापि पर्याप्त न थे। इन नवागंतुकों के सामने संत फ्रांसिस का काम और भी बढ़ गया। महामारी का प्रकोप ऐसा था कि जहाज अस्पताल बन गए थे। बहुत से सैनिक काल कवलित हो गए जिनमें स्पेनी सेनापति रूई लोपेज भी थे।

कैदियों के पाप स्वीकार सुनने, उन्हें धर्मोपदेश देने तथा दो सेनाओं की जन्म-जात शत्रुता दूर करने के बाद जो समय बचता, उसे सन्त फ्रांसिस रोगियों की सेवा में लगा देते। मरणासन्न रोगियों को अंतिम यात्रा के लिए संस्कार और संबल द्वारा तैयार करते। ढाई महीने तक वे उनकी सेवा में तन्मय रहे। तब मई १७ को एक बेड़ा मलक्का के लिए रवाना हुआ। यह सुनहरा अवसर था पत्र भेजने का। वहां भेजे सन्त के तीन पत्र अब तक मौजूद हैं। एक पत्र उन्होंने अपने यूरोपीय बन्धुओं के नाम भेजा, दूसरा पुर्त्तगाली राजा और तीसरा भारत के बंधुओं को।

आम्बोइना में इतने दिन बिताने से संत फ्रांसिस को आसपास के द्वीपों तथा वहां के निवासियों की बहुत कुछ जानकारी हो गई। वहां के ख्रीस्तीयों को धर्म का ज्ञान नाम मात्र को भी न था। निरक्षरता का विस्तृत साम्राज्य था।

उनसे अकेले इतने लोगों की देखरेख नहीं हो सकती थी। यदि बारह येसु-समाजी भी वहां प्रति वर्ष आते, उनको काम की कमी न होती। यह समझकर उन्होंने भारत से बेइरा और मनसिल्यास को आज्ञाबद्ध करके मलुक्का आने को लिख भेजा। बेइरा तो आए किन्तु मलुक्का की आतंकजनक खबरें सुन कर मनसिल्यास की हिम्मत टूट गई। फलस्वरूप संत ने भारत लौटने पर उन्हें समाज से निकाल दिया। मनसिल्यास की बर्खास्तगी का प्रश्न विवादग्रस्त है। चाहे कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि मनसिल्यास अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक येसुसमाज के प्रशंसकों में से रहे। संत फ्रांसिस के लिए उनके हृदय में अपार श्रद्धा थी और होठों पर गुणगान। संत फ्रांसिस की मृत्यु के चार वर्ष बाद अपने प्रियतम और शुभचिन्तक के विषय उन्होंने कहा, 'पवित्र आत्मा के बिना कोई भी मनुष्य ऐसा जीवन नहीं बिता सकता है जैसा उन्होंने (संत फ्रांसिस ने) बिताया है और न वे काम ही कर सकते हैं जो उन्होंने किए।

मोरो और उसके आसपास के द्वीपों में गैर मुसलमानों की संख्या अधिक थी। इनका स्वभाव इतना उच्छृंखल था कि उन पर विश्वास कदापि नहीं किया जा सकता था। सदा एक दूसरे से झगड़ते रहने ही में उन्हें आनंद मिलता था। भोजन में विष डाल देना इनके लिए साधारण सी बात थी। इनमें कितने तो नरभक्षी भी थे। ये युद्ध में गिरे सैनिकों को भी खा जाते, यहां तक की प्रीति भोज देते समय अपने पड़ोसी से उसके वृद्ध पिता को मांग लाते, और बदले में आवश्यकता पड़ने पर अपने पिता को मार कर दूसरों को खिला देने का वचन देते ऐसे भयंकर लोगों में जाने को संत फ्रांसिस तैयार थे। उनके मित्रों ने उनको रोकने की बड़ी चेष्टा की, लेकिन शुभचिन्तकों की सलाह और चेतावनी पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। अपने लिए बजहर[1] भी लेना इनकार कर दिया। बात ऐसी नहीं थी कि सन्त फ्रांसिस मोरो निवासियों के चरित्र से परिचित न थे या परिस्थिति से अनभिज्ञ थे। कठिनाइयों में उनको अलौकिक बल और साहस

---

१ 'बजहर' एक प्रकार का पत्थर था जो जानवरों के शरीर से निकाला जाता था लोगों में ऐसा विश्वास था कि इसे पीस कर पानी के साथ पीने से विष का प्रभाव नहीं पड़ता है।

मिलता रहता था, किसी अदृश्य शक्ति से, जिसका स्रोत था ईश्वर पर उनका अटल विश्वास और अडिग भरोसा और अपने भाइयों के लिए अपने प्राणों का वलि दे देने की तत्परता। यूरोपीय वंधुओं के पास उन्होंने इस शक्ति केन्द्र के विषय लिखा है, "अपने पड़ोसियों के आध्यात्मिक जीवन के लिए इस भौतिक जीवन का वलि कर देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। इसलिए ईश्वर अपने प्रभु पर भरोसा रख कर मैंने अपने को खतरों और मृत्यु के हाथ सौंप दिया है। वह चाहे किसी भी रूप में मुझे प्राप्त हो।"

इस समय लिखे पत्र में ऐसे विचित्र बकरे का उल्लेख मिलता है जो दूध देता था। इस विषय में कहां तक संत फ्रांसिस से भूल हुई, यह वताना अव असंभव है। शायद यहां इसका जिक्र करना भी बहुतों को असंगत जान पड़े। लेकिन इस अनोखे जानवर का जिक्र सन्त ने अपने पत्र में किया है जो अभी तक उनके पत्र संग्रह में हम पढ़ सकते हैं।

संत फ्रांसिस के हृदय में अपने वंधुओं के लिए जो प्यार भरा था उसका आभास हमें पहले ही मिल चुका है। लेकिन आम्बोइना में लिखे पत्र में वह प्यार पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हुआ है। वे उनसे बार-बार प्रार्थना की भीख मांगते हैं। अपने वंधुओं की प्रार्थनाओं पर उनका असीम विश्वास है। वंधुगण उनको इतने प्यारे हैं कि उनकी याद सदा ताजा रखने के लिए वे उनके हस्ताक्षर उनके पत्रों में से काट कर अपने व्रत की प्रति के साथ सदा अपने पास रखते हैं और डिवियों में बन्द करके गले में पहने रहते हैं।[१] यह उनकी आत्मीयता का द्योतक है।

पुर्त्तगाली राजा के पास लिखे पत्र में हम उनकी उस उदारता की प्रतिकृति देखते हैं जो दूसरों के लिए पैरवी करते नहीं थकती। वे स्वयं उदार प्रकृति के थे और सदा अपने उदाहरण और आग्रह द्वारा दूसरों को उदार बनने को उत्साहित करते थे।

तीन ही मास के अन्दर संत फ्रांसिस ने आम्बोइना में वारह सौ से अधिक लोगों को वपतिस्मा दिया, प्रति दिन तेरह या चौदह के हिसाब से। इसके

---

१ यह डिबिया मरने के दिन तक उनके गले में थी।

बावजूद वहां की तीन भाषाओं, अर्थात् पुर्त्तगाली, स्पेनी और मलय में प्रतिदिन धर्मशिक्षा और उपदेश दिया करते थे। किसी भी मनुष्य के लिए इतना काम करना सहज नहीं हो सकता। ईश्वर की कृपा और अपने मनोवल से वे अपने काम में संलग्न रहे; लेकिन प्रकृति के नियमों का उल्लंघन वहुत दिनों तक नहीं किया जा सकता। अन्त में सन्त फ्रांसिस को भी प्रकृति के सामने झुकना पड़ा। स्पेनियों के प्रस्थान के वाद कमजोरी ने इन्हें धर दवाया। हार कर इन्हें शैया की शरण लेनी पड़ी। खाट से उठने पर धर्म-प्रचार की इच्छा दुगुनी हो गई थी। वे अन्य द्वीपों में भी खीस्त का संदेश सुनाने को अधीर हो उठे। जून आधा समाप्त हो चुका था, अधीर यात्री सन्त फ्रांसिस आम्बोइना से चल पड़े, नए द्वीपों की खोज में।

छठा परिच्छेद

तेरनाते की ओर

इस वार वे द एइरा को अपने साथ नहीं ले गए, उसे आम्बोइना में ही छोड़ देना उन्होंने अच्छा समझा। दो नावें तैयार हुईं; आम्बोइना के लोग नाव को "कोराकोरा" कहते थे। एक पर सन्त सवार हुए और दूसरी पर जौन गालवाओ, एक पुर्त्तगाली व्यापारी। दोनों नावें एक साथ बन्दरगाह से चलीं, उत्तर की ओर मुख किए। पर दुर्भाग्यवश कुछ दूर चल कर गालवाओ और सन्त फ्रांसिस का साथ छूट गया, किसी को भी एक दूसरे का पता न रहा।

सन्त फ्रांसिस की नाव कभी पाल तो कभी पतवार के सहारे, ढोलों की चोट और माझियों के शोरगुल में, मलुक्का सागर के स्वच्छ, शीशे के समान पारदर्शी जलराशि को चीरती निकल चली। बारी-बारी से उस जलखंड में बिखरे द्वीप एक एक कर उसके सामने आते और फिर ओझल हो जाते, वातियन, मतयन, मुतिर और तिदोरे, मलुक्का के ये चार द्वीप। अंत में दो सप्ताहों के बाद तीन सौ मील की लंवी यात्रा जुलाई में अन्त हुई। सुदूर पूर्व में पुर्त्तगाली सत्ता का केन्द्र तेरनाते आया, प्राकृतिक सुषमा से अपने को सजाए, अपने गर्भ में असीम अग्नि राशि छिपाए। द्वीप के वक्षस्थल पर खड़े गहन वन समुद्र तट से सट कर यत्र-तत्र लगे थे। चारों ओर समुद्र के किनारे संकरा, वालुकामय तट था। इस पच्चीस वर्गमील वाले द्वीप के अधिकांश निवासी ताड़ के छज्जों से बनी झोपड़ियों में ही अपने दिन काटते थे। टूटी-फूटी झोपड़ियों के वीच सुल्तान हारून का राजमहल था, जैसे गीदड़ों के वीच शेर। उसकी वगल में ही पुर्त्तगालियों का दुर्ग था, शक्तिशाली समुद्री राष्ट्र का अभिमानी प्रतीक और उसके निकट ही था गिरजाघर ख्रीस्तीय प्रेमाशिक्षा की अमर निशानी, जिसकी देखरेख के लिए एक पुरोहित और दो याजकवर्गीय भक्त नियुक्त किए गए थे। धर्मशिक्षा के अभाव में इस द्वीप का नैतिक स्तर बहुत गिरी अवस्था में था। इसका वर्णन

करते श्रद्धेय ब्राडरिक ने लिखा है, "ऐसा प्रतीत होता था कि लौंग का तिक्त स्वाद उनके रक्त में भी प्रवेश कर गया है जिसके कारण वे यौन संबंधी पापों के ही शिकार नहीं थे, लेकिन द्वेष, घृणा, हृदय के कालेपन और अनुदारता के भी कठोर पंजों में जकड़े हुए थे।" तेरनाते संत फ्रांसिस जैसे दयालु और प्रेमी सुधारक की ही प्रतीक्षा में शायद इतने दिनों से बैठा था।

तेरनाते पहुंच कर सन्त ने अपनी पुरानी रीति के अनुसार अस्पताल में ही डेरा डाला। प्रायः प्रति दिन के मिस्सा के समय धर्मोपदेश करते और दिन-रात रोगियों की सेवा में लगे रहते। प्रति दिन दो घंटे अपने चिर प्रिय बच्चों को धर्मशिक्षा देते। भाग्यवश उन्हें नई भाषा नहीं सीखनी पड़ी। तेरनाते के निवासी मलय भाषा समझ लेते थे। इसी भाषा में सन्त ने मलक्का का इन्तजार करते समय मलक्का में एक प्रार्थना पुस्तक संग्रह करना शुरू किया था। इससे उन्हें अव वड़ी मदद मिली।

इस बार वच्चों को उन्होंने एक नए ढंग से प्रार्थना सिखाना शुरू किया, गानों में। इसमें इतनी सफलता मिली कि कुछ ही समय में उनके बनाए गाने घर-घर सुने जाने लगे। सड़कों पर चलते लड़के और लड़कियां उन्हें गुनगुनाते जाते। धर्मसार, हे पिता हमारे, प्रणाम मरियम, दस आज्ञाएं, दया के कार्य और सामान्य पापस्वीकार से वढ़ कर रोचक और लाभप्रद गानों का विषय और कहां मिल सकता। नैतिक और आर्थिक दृष्टिकोण से तेरनाते बहुत कुछ मलक्का के ही समान था। और जिस प्रकार मलक्का में सन्त फ्रांसिस का प्रभाव स्थापित होने में देर न लगी, उसी प्रकार तेरनाते में भी लोग उनके व्यक्तित्व की ओर आकृष्ट होने लगे। जनता उनकी सुनने को व्याकुल हो उठी, यहां तक कि सुल्तान भी उनके वश में हो गया, जैसे संपेरे की वांसुरी के वश में विषैला सांप। रखेलियों के प्रेमपाश में वंधा सुल्तान हारून भी उनकी ओर खिचने लगा।

पहले ही दिन पुर्त्तगालियों को उपदेश देते समय सन्त फ्रांसिस एकाएक रुक गए। कुछ देर ठहर कर उन्होंने कहा, "आइए, हम लोग जौन गालवाओ की दिवंगत आत्मा के लिए एक बार "हे पिता हमारे" पढ़ें। इस घटना के तीन दिन वाद जौन गालवाओ की नाव तेरनाते पहुंची और सन्त के कथन की सत्यता सिद्ध हो गई। इसके कुछ दिनों वाद सन्त फ्रांसिस मिस्सा का दिव्य बलिदान

अर्पित करते समय लोगों की ओर घूम कर बोले, "अभी-अभी आम्बोइना में जौन अराउजो इस संसार से चल बसे हैं। कल ही मैंने उनके लिए दिव्य बलिदान चढ़ाया था, आज यह मिस्सा उनकी आत्मा की शान्ति के लिए चढ़ाता हूं। मैं आप लोगों से आग्रह करता हूं, उनके लिए ईश्वर से प्रार्थना करें।"

दस-बारह दिनों के अन्दर ही आम्बोइना से एक आदमी आराउजो की मृत्यु का दुखद समाचार लेकर पहुंचा। अराउजो से सन्त फ्रांसिस को काफी घनिष्ठता थी। उन्हीं से मांग कर सन्त फ्रांसिस रोगियों में अंगूरी बांटा करते थे। एक दिन सन्त के आग्रह से तंग आकर आराउजो ने कह दिया था, "मैं अन्तिम बार यह अंगूरी दे रहा हूं।" इस पर संत नें कहा था, "क्या अराउजो सोचते हैं कि वे अपनी अंगूरी का आनंद लेने के लिए जीवित रहेंगे? उनका मृत्युकाल निकट है और इसी साल आम्बोइना में होगी।" जब सन्त फ्रांसिस तेरनाते आ रहे थे, तब अराउजो ने भी उनके साथ चलने की इच्छा प्रकट की थी, किन्तु सन्त के कोराकोरा में जगह नहीं थी।

जुलाई महीने में सन्त फ्रांसिस बहुत व्यस्त रहे। पर अगस्त और सितंबर में जब लोग लौंग बटोरने लगे तो उन्हें कुछ अवकाश मिला। और कैसा अवकाश! मलक्का में धर्मशिक्षा की जो पुस्तिका उन्होंने लिखना शुरू किया था, अब वे उसे नए ढंग से लिखना चाहते थे। यदि उसे पद्य का रूप दे दिया जाय तब तो सोने में सुगंध। कविता सबों को अच्छी लगती है, सभी जाति और देश, युग तथा काल के लोग कविता पसंद करते आए हैं। उसकी धारा में लोग अपना दुख-सुख बहा देते, उसके लय में आत्मविभोर हो उठते हैं। हम इसके सहारे जीवन के अमूल्य सत्यों को रोचक रूप में लोगों के सामने रख सकते हैं। इस हेतु संत फ्रांसिस ने अपनी पुस्तिका जुलाई और अगस्त महीनों में दोहों में लिखना शुरू किया। किन्तु दुर्भाग्यवश यह काम अधूरा ही रह गया। जो कुछ तैयार हो गया था उस पर सन्त इनीगो की आध्यात्मिक साधना की छाप स्पष्ट है। आरंभ में सृष्टि का वर्णन मिलता है, तब दूतों के पतन, आदम हेवा के पाप और उनके अदन वाटिका से निर्वासन का क्रमशः उल्लेख होता है। पुस्तिका यहीं तक तयार हुई थी कि तेरनाते से कूच करने का समय आ गया और पांच हजार शब्दों की पुस्तिका आज तक अधूरी पड़ी है। तेरनाते के खीस्तीयों

के लौंग बटोर कर घर लौटने तक सन्त फ्रांसिस ने मोरो जाने का निश्चय कर लिया था।

खतरनाक, अनजान मोरो

उनके शुभचिन्तकों और धर्मपुत्रों ने उन्हें रोकने की बहुत चेष्टा की। मोरो अनजान द्वीप, इतनी दूर, रास्ता इतना कठिन, जगह इतनी खतरनाक। लेकिन सन्त फ्रांसिस अपने निश्चय पर अटल रहे। उनको अपनी गोद में बैठाए कोराकोरा तेरनाते के बन्दरगाह से निकल पड़ा, मन्थर गति से पानी पर थिरकता-मचलता। रास्ते में ज्वालामुखी पहाड़ थे तो क्या; तेरनाते में वे हृदय कंपा सकते थे लेकिन हृदयसागर की अथाह गहराई में विराजती शान्ति को कदापि भंग नहीं कर सकते। उस अनजान द्वीप केनिवासी बड़े चंचल स्वभाव के थे, इसका यथेष्ट प्रमाण मिल चुका था। आखिर श्रद्धेय वाज के खूनी वे ही थे। वेचारे करते भी क्या, दो-दो जंजीरें उनको अधर्म की ओर खींचती रहीं, दुराचारी सुल्तान और उनका चंचल मनोभाव। यदि इस दूसरे से उनको मुक्त कर दिया जाय शिक्षा तथा दया के द्वारा, तो पहला आप ही आप क्षीण होता जाएगा।

ये खीस्तीय निवासी खीस्त के पापनाशक जल में नहा चुके थे, लेकिन खीस्त-शिक्षा की कसौटी पर ये कसे नहीं गए थे। यदि यह ज्ञान इन्हें मिल जाए तो क्या वे भी अपने धर्म में स्थिर नहीं रह सकते। ये ही भाव सन्त फ्रांसिस को दृढ़ प्रतिज्ञ बनाए हुए थे। इसी चट्टान पर उनके मित्रों की मिन्नतें तथा प्रार्थनाएं टकरा कर चूर-चूर हो गईं। और उनके हितैषी पीछे छूट गए। सीधे उत्तर की ओर कुछ जाकर पूर्व मुड़ने पर जिलोलो द्वीप मिलता था। वहां से पच्चीस मील उत्तर दो और द्वीप थे, राऊ और मोरोपांई। यहीं सन्त फ्रांसिस की यात्रा समाप्त हुई।

उस नए द्वीप-पुंज में फ्रांसिस के तीन महीने बड़ी व्यस्तता में बीते। वे अपरिचित खीस्तीयों की खोज में गांव-गांव घूमते-भटकते रहे। मोरो में आधिपत्य तो मुसलमानों का ही था, किन्तु इस्लाम गिरी अवस्था में था। बर्बर जातीय लोगों की प्रचुरता थी। इन्हीं लोगों में खीस्तीय बीज बोया गया था।

लेकिन चंचल प्रकृति और खीस्तीय सिद्धांतों के न्यूनतम ज्ञान के कारण इनके बीच किसी भी यात्री की जान का खतरा बना ही रहता था। मनुष्यों की जान को वे अपने मनोरंजन का साधनमात्र समझते थे। खाद्यान्न की कमी सदा रहती, गेहूं देखने को भी नहीं मिलता। मांस की तो बात ही दूर, चारों ओर से खारे समुद्र घिरे रहने के कारण पेय जल का भी अभाव था।

ज्वालामुखी पहाड़ लगातार जलती राख उगलते रहते, बात की बात में पृथ्वी कांप उठती। सन्त फ्रांसिस को भी इस हृदय कंपा देनेवाली घटना का अनुभव सितंबर की २९ तारीख को हुआ। उस समय वे मिस्सा का दिव्य वलिदान चढ़ा रहे थे। लेकिन इस वातावरण में भी सन्त को जो अलौकिक आनंद और अपूर्व शान्ति प्राप्त थी, उसे देख कर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं, जिसे राजर्षि दाविद ने व्यक्त किया है, "जब प्रभु मेरे जीवन के रक्षक हैं, मुझे किसका डर है। अपनी तत्कालीन आंतरिक स्थिति का वर्णन सन्त फ्रांसिस ने इस प्रकार किया है, "जहां तक मुझे याद है, मुझे नहीं मालूम कि ईश्वर ने मुझे कभी भी लगातार इतनी बड़ी मात्रा में दिव्य उल्लास दिया है। दुश्मनों से घिरे रहने पर भी, मुझे कठिनाइयों का इतना कम अनुभव पहले कभी नहीं हुआ था।" उनको पता भी नहीं चला कि तीन महीने कैसे बीत गए।

तीन ही महीनों में तेरनाते की राजनीति में बहुत उलटफेर हो गया था। तावारीजा के राज्य पर ग्यारह वर्ष शासन करने के बाद अपने दुराचरण के कारण हारून, तेरनाते के कप्तान फ्रिस्तास द्वारा बंदी बना कर १५४५ में गोआ भेज दिया गया। उधर गोआ में तावारीजा निर्दोष ठहराया जा चुका था। लेकिन खीस्त मत स्वीकार कर तेरनाते लौटते समय १५४५ की ३० जून को मलक्का में उसकी मृत्यु हो गई। उसके कुछ ही समय बाद हारून मलक्का पहुंचा, कप्तान द गार्सिया ने उसकी बेड़ियां खोल उसे गोआ भेज दिया, जहां वह दोषमुक्त कर दिया गया। सन्त फ्रांसिस के मोरो पहुंचने के कुछ ही समय पहले वह तेरनाते पहुंच चुका था। अब फ्रिएतास की बारी थी बेड़ियां पहनने की। उसकी जगह नए कप्तान बरनारदीन द सुज़ा हारून को लेकर तेरनाते आए और अपना नया पद ग्रहण कर चुके थे।

सन्त ने हारून को पापपंक से निकाल कर खीस्तमत में लाने की बड़ी चेष्टा

की। लेकिन सुल्तान से यह नहीं हो सका। खीस्तमत स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं थी, कठिनाई थी खीस्तमत के सिद्धांतों के अनुसार चलने में।

सुल्तान के लिए अपनी बीवियों से अलग होना अत्यन्त कठिन था, और एक दो की बात रहती तव तो, सौ से अधिक के प्यार को निर्दयतापूर्वक ठुकरा देना उस मिट्टी के पुतले के लिए कहां संभव था। इस्लाम पर से उसका विश्वास वहुत पहले हट चुका था, लेकिन खीस्तमत के कठिन सिद्धांतों को स्वीकार करने की उसमें ताकत नहीं थी। फिर भी संत फ्रांसिस के प्रति उसका प्रेम अटूट था। इस गहरी मित्रता के विषय में संत ने अपने पत्र में लिखा है, "राजा ने मेरे प्रति ऐसा मित्रभाव दिखाया कि राज्य के प्रमुख मुसलमान उससे नाराज हो गए। वह मेरी मित्रता चाहता था और कालान्तर में खीस्तमत स्वीकार करने का उसने मुझे आश्वासन दिया था।" लेकिन मनोवल विहीन हारून रखेलियों से इस जीवन में मुक्त नहीं हो सका।

१५४७ का चालीसा

जब सन्त फ्रांसिस तेरनाते पहुंचे तो चालीसा निकट आ रहा था। उन्होंने मित्रों के आग्रह और अपने नवशिक्षित खीस्तीयों के प्रेमवश तेरनाते में तीन मास और रुक जाने का विचार किया। १५४७ का चालीसा उनके लिए बड़ा महत्त्व-पूर्ण था। वे दिन में दो वार लोगों को उपदेश और वच्चों और देशीय स्त्रियों को धर्मशिक्षा देते। यहां भी संध्या को वे एक छोटा जुलूस लेकर नगर की गलियों से गुजरते और घंटी वजा कर लोगों से आग्रह करते कि शोधक अग्नि की आत्माओं और पाप की दशा में रहनेवाले वहां के नागरिकों के लिए प्रार्थना करें। नागरिकों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इस प्रकार के काम से नगर के याजकों में भी नया जोश आया। उन्होंने वचन दिया कि सन्त द्वारा शुरू की गई धर्मशिक्षा की रीति तथा लोगों से प्रार्थना कराने की विधि जारी रखेंगे।

सन्त के प्रस्थान का समय निकट आ रहा था। पुनरुत्थान पर्वोत्सव के वाद वे तेरनाते से विदा होनेवाले थे। यह अति दुखमय समय था और परस्पर प्रेम का वंधन इसे और भी दुखदायी वना रहा था। इस दुःख को कुछ हलका करने के अभिप्राय से सन्त ने आधी रात की निस्तब्धता में नगर छोड़ने का निश्चय

अर्पित करते समय लोगों की ओर घूम कर बोले, "अभी-अभी आम्बोइना में जौन अराउजो इस संसार से चल बसे हैं। कल ही मैंने उनके लिए दिव्य बलिदान चढ़ाया था, आज यह मिस्सा उनकी आत्मा की शान्ति के लिए चढ़ाता हूं। मैं आप लोगों से आग्रह करता हूं, उनके लिए ईश्वर से प्रार्थना करें।"

दस-बारह दिनों के अन्दर ही आम्बोइना से एक आदमी आराउजो की मृत्यु का दुखद समाचार लेकर पहुंचा। अराउजो से सन्त फ्रांसिस को काफी घनिष्ठता थी। उन्हीं से मांग कर सन्त फ्रांसिस रोगियों में अंगूरी बांटा करते थे। एक दिन सन्त के आग्रह से तंग आकर आराउजो ने कह दिया था, "मैं अन्तिम बार यह अंगूरी दे रहा हूं।" इस पर संत नें कहा था, "क्या अराउजो सोचते हैं कि वे अपनी अंगूरी का आनंद लेने के लिए जीवित रहेंगे? उनका मृत्युकाल निकट है और इसी साल आम्बोइना में होगी।" जब सन्त फ्रांसिस तेरनाते आ रहे थे, तब अराउजो ने भी उनके साथ चलने की इच्छा प्रकट की थी, किन्तु सन्त के कोराकोरा में जगह नहीं थी।

जुलाई महीने में सन्त फ्रांसिस बहुत व्यस्त रहे। पर अगस्त और सितंबर में जब लोग लौंग बटोरने लगे तो उन्हें कुछ अवकाश मिला। और कैसा अवकाश! मलक्का में धर्मशिक्षा की जो पुस्तिका उन्होंने लिखना शुरू किया था, अब वे उसे नए ढंग से लिखना चाहते थे। यदि उसे पद्य का रूप दे दिया जाय तब तो सोने में सुगंध। कविता सबों को अच्छी लगती है, सभी जाति और देश, युग तथा काल के लोग कविता पसंद करते आए हैं। उसकी धारा में लोग अपना दुख-सुख बहा देते, उसके लय में आत्मविभोर हो उठते हैं। हम इसके सहारे जीवन के अमूल्य सत्यों को रोचक रूप में लोगों के सामने रख सकते हैं। इस हेतु संत फ्रांसिस ने अपनी पुस्तिका जुलाई और अगस्त महीनों में दोहों में लिखना शुरू किया। किन्तु दुर्भाग्यवश यह काम अधूरा ही रह गया। जो कुछ तैयार हो गया था उस पर सन्त इनीगो की आध्यात्मिक साधना की छाप स्पष्ट है। आरंभ में सृष्टि का वर्णन मिलता है, तब दूतों के पतन, आदम हेवा के पाप और उनके अदन वाटिका से निर्वासन का क्रमशः उल्लेख होता है। पुस्तिका यहीं तक तयार हुई थी कि तेरनाते से कूच करने का समय आ गया और पांच हजार शब्दों की पुस्तिका आज तक अधूरी पड़ी है। तेरनाते के खीस्तीयों

के लौंग बटोर कर घर लौटने तक सन्त फ्रांसिस ने मोरो जाने का निश्चय कर लिया था।

खतरनाक, अनजान मोरो

उनके शुभचिन्तकों और धर्मपुत्रों ने उन्हें रोकने की बहुत चेष्टा की। मोरो अनजान द्वीप, इतनी दूर, रास्ता इतना कठिन, जगह इतनी खतरनाक। लेकिन सन्त फ्रांसिस अपने निश्चय पर अटल रहे। उनको अपनी गोद में बैठाए कोराकोरा तेरनाते के बन्दरगाह से निकल पड़ा, मन्थर गति से पानी पर थिरकता-मचलता। रास्ते में ज्वालामुखी पहाड़ थे तो क्या; तेरनाते में वे हृदय कंपा सकते थे लेकिन हृदयसागर की अथाह गहराई में विराजती शान्ति को कदापि भंग नहीं कर सकते। उस अनजान द्वीप केनिवासी बड़े चंचल स्वभाव के थे, इसका यथेष्ट प्रमाण मिल चुका था। आखिर श्रद्धेय बाज के खूनी वे ही थे। बेचारे करते भी क्या, दो-दो जंजीरें उनको अधर्म की ओर खींचती रहीं, दुराचारी सुल्तान और उनका चंचल मनोभाव। यदि इस दूसरे से उनको मुक्त कर दिया जाय शिक्षा तथा दया के द्वारा, तो पहला आप ही आप क्षीण होता जाएगा।

ये खीस्तीय निवासी खीस्त के पापनाशक जल में नहा चुके थे, लेकिन खीस्त-शिक्षा की कसौटी पर ये कसे नहीं गए थे। यदि यह ज्ञान इन्हें मिल जाए तो क्या वे भी अपने धर्म में स्थिर नहीं रह सकते। ये ही भाव सन्त फ्रांसिस को दृढ़ प्रतिज्ञ बनाए हुए थे। इसी चट्टान पर उनके मित्रों की मिन्नतें तथा प्रार्थनाएं टकरा कर चूर-चूर हो गईं। और उनके हितैषी पीछे छूट गए। सीधे उत्तर की ओर कुछ जाकर पूर्व मुड़ने पर जिलोलो द्वीप मिलता था। वहां से पच्चीस मील उत्तर दो और द्वीप थे, राऊ और मोरोपांई। यहीं सन्त फ्रांसिस की यात्रा समाप्त हुई।

उस नए द्वीप-पुंज में फ्रांसिस के तीन महीने बड़ी व्यस्तता में बीते। वे अपरिचित खीस्तीयों की खोज में गांव-गांव घूमते-भटकते रहे। मोरो में आधिपत्य तो मुसलमानों का ही था, किन्तु इस्लाम गिरी अवस्था में था। बर्बर जातीय लोगों की प्रचुरता थी। इन्हीं लोगों में खीस्तीय बीज बोया गया था।

लेकिन चंचल प्रकृति और खीस्तीय सिद्धांतों के न्यूनतम ज्ञान के कारण इनके वीच किसी भी यात्री की जान का खतरा वना ही रहता था। मनुष्यों की जान को वे अपने मनोरंजन का साधनमात्र समझते थे। खाद्यान्न की कमी सदा रहती, गेहूं देखने को भी नहीं मिलता। मांस की तो वात ही दूर, चारों ओर से खारे समुद्र घिरे रहने के कारण पेय जल का भी अभाव था।

ज्वालामुखी पहाड़ लगातार जलती राख उगलते रहते, वात की वात में पृथ्वी कांप उठती। सन्त फ्रांसिस को भी इस हृदय कंपा देनेवाली घटना का अनुभव सितंबर की २९ तारीख को हुआ। उस समय वे मिस्सा का दिव्य वलिदान चढ़ा रहे थे। लेकिन इस वातावरण में भी सन्त को जो अलौकिक आनंद और अपूर्व शान्ति प्राप्त थी, उसे देख कर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं, जिसे राजर्षि दाविद ने व्यक्त किया है, "जव प्रभु मेरे जीवन के रक्षक हैं, मुझे किसका डर है। अपनी तत्कालीन आंतरिक स्थिति का वर्णन सन्त फ्रांसिस ने इस प्रकार किया है, "जहां तक मुझे याद है, मुझे नहीं मालूम कि ईश्वर ने मुझे कभी भी लगातार इतनी वड़ी मात्रा में दिव्य उल्लास दिया है। दुश्मनों से घिरे रहने पर भी, मुझे कठिनाइयों का इतना कम अनुभव पहले कभी नहीं हुआ था।" उनको पता भी नहीं चला कि तीन महीने कैसे वीत गए।

तीन ही महीनों में तेरनाते की राजनीति में बहुत उलटफेर हो गया था। तावारीजा के राज्य पर ग्यारह वर्ष शासन करने के वाद अपने दुराचरण के कारण हारून, तेरनाते के कप्तान फ्रिस्तास द्वारा वंदी वना कर १५४५ में गोआ भेज दिया गया। उधर गोआ में तावारीजा निर्दोष ठहराया जा चुका था। लेकिन खीस्त मत स्वीकार कर तेरनाते लौटते समय १५४५ की ३० जून को मलक्का में उसकी मृत्यु हो गई। उसके कुछ ही समय वाद हारून मलक्का पहुंचा, कप्तान द गार्सिया ने उसकी वेड़ियां खोल उसे गोआ भेज दिया, जहां वह दोषमुक्त कर दिया गया। सन्त फ्रांसिस के मोरो पहुंचने के कुछ ही समय पहले वह तेरनाते पहुंच चुका था। अव फ्रिएतास की वारी थी वेड़ियां पहनने की। उसकी जगह नए कप्तान वरनारदीन द सुजा हारून को लेकर तेरनाते आए और अपना नया पद ग्रहण कर चुके थे।

सन्त ने हारून को पापपंक से निकाल कर खीस्तमत में लाने की वड़ी चेष्टा

की। लेकिन सुल्तान से यह नहीं हो सका। ख्रीस्तमत स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं थी, कठिनाई थी ख्रीस्तमत के सिद्धांतों के अनुसार चलने में।

सुल्तान के लिए अपनी बीवियों से अलग होना अत्यन्त कठिन था, और एक दो की बात रहती तब तो, सौ से अधिक के प्यार को निर्दयतापूर्वक ठुकरा देना उस मिट्टी के पुतले के लिए कहां संभव था। इस्लाम पर से उसका विश्वास बहुत पहले हट चुका था, लेकिन ख्रीस्तमत के कठिन सिद्धांतों को स्वीकार करने की उसमें ताकत नहीं थी। फिर भी संत फ्रांसिस के प्रति उसका प्रेम अटूट था। इस गहरी मित्रता के विषय में संत ने अपने पत्र में लिखा है, "राजा ने मेरे प्रति ऐसा मित्रभाव दिखाया कि राज्य के प्रमुख मुसलमान उससे नाराज हो गए। वह मेरी मित्रता चाहता था और कालान्तर में ख्रीस्तमत स्वीकार करने का उसने मुझे आश्वासन दिया था।" लेकिन मनोबल विहीन हारून रखेलियों से इस जीवन में मुक्त नहीं हो सका।

१५४७ का चालीसा

जब सन्त फ्रांसिस तेरनाते पहुंचे तो चालीसा निकट आ रहा था। उन्होंने मित्रों के आग्रह और अपने नवशिक्षित ख्रीस्तीयों के प्रेमवश तेरनाते में तीन मास और रुक जाने का विचार किया। १५४७ का चालीसा उनके लिए बड़ा महत्त्व-पूर्ण था। वे दिन में दो बार लोगों को उपदेश और बच्चों और देशीय स्त्रियों को धर्मशिक्षा देते। यहां भी संध्या को वे एक छोटा जुलूस लेकर नगर की गलियों से गुजरते और घंटी बजा कर लोगों से आग्रह करते कि शोधक अग्नि की आत्माओं और पाप की दशा में रहनेवाले वहां के नागरिकों के लिए प्रार्थना करें। नागरिकों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इस प्रकार के काम से नगर के याजकों में भी नया जोश आया। उन्होंने वचन दिया कि सन्त द्वारा शुरू की गई धर्मशिक्षा की रीति तथा लोगों से प्रार्थना कराने की विधि जारी रखेंगे।

सन्त के प्रस्थान का समय निकट आ रहा था। पुनरुत्थान पर्वोत्सव के बाद वे तेरनाते से विदा होनेवाले थे। यह अति दुखमय समय था और परस्पर प्रेम का बंधन इसे और भी दुखदायी बना रहा था। इस दुःख को कुछ हल्का करने के अभिप्राय से सन्त ने आधी रात की निस्तब्धता में नगर छोड़ने का निश्चय

किया। लेकिन उनके षड्यन्त्र की भनक लोगों को मिल गई और जब वे नाव पर चढ़ने लगे तो उनके और उनके मित्रों के आंसू के खारेपन से समुद्र भी लजा गया होगा।

आम्बोइना पहुंच कर सन्त ने पुनः धर्मशिक्षा और रोगियों की सेवा में हाथ डाला। वे दिन भर पापस्वीकार में उन अभागों की करुण कहानी सहानुभूति-पूर्वक सुनते। आम्बोइना बंदरगाह में लगे चार बड़े जहाजों के यात्रियों से उन्हें दिन भर का काम मिल जाता था। सन्ध्या को वे पुनः अपने प्यारे रोगियों की सेवा में हाजिर हो जाते । एक बार वे किसी रोगी की सेवा में लगे थे। बेचारे का अन्तिम क्षण निकट था। जब उसके प्राण पखेरु उड़ गए तो सन्त के होठ अनायास बड़बड़ा उठे, "धन्य है तू प्रभु, जो मुझे ठीक समय पर इस व्यक्ति की आत्मा के सहायतार्थ यहां लाया।" उन चार जहाजों पर बहुत से सैनिक थे, और उसी के अनुपात से झगड़ा-फसाद भी। सन्त का बहुत-सा समय उनके झगड़े के निपटारे तथा उनमें मेल कराने में लग जाता था।

तब आम्बोइना से भी कूच करने का समय आ गया। सन्त फ्रांसिस अपने साथ द एइरा और दस मलय बालकों को लेते चले। ये बालक सन्त की आशा थे। उन्हें गोआ के कालेज में ख्रीस्त-सिद्धांतों में परिपक्व कर मातृभूमि भेजना सन्त की अभिलाषा थी। आम्बोइना से मलक्का पहुंचने में दो मास लगे। रास्ते में जहाज पर सैनिकों के बीच शान्ति बनाए रखना आसान नहीं था। नीरोगों की आध्यात्मिक देखरेख करनी थी, रोगियों की सेवा उपचार और मृतकों को माता गिरजा की अन्त्येष्टि विधि के अनुसार जल समाधि। इन कामों में दो मास बीतते देर नहीं लगी।

तीन येसुसमाजी सहयोगी

मलक्का में तीन येसुसमाजी सन्त फ्रांसिस की प्रतीक्षा कर रहे थे : जौन बइरा, नुनुस रिबेरो और निकोलस नुनेस। इन वीर सेनानियों को सन्त ने मलक्का के लिए बुला भेजा था। निकोलस नुनेस संसार के वैभव को ठुकरा संत फ्रांसिस की पुकार सुन कर शाश्वत संपदा की खोज में निकले थे। विद्यार्थी जीवन की सफलता का जादू निकोलस पर नहीं चल सका। हृदय हाथ में लेकर

वे आए थे और उनका उपहार पचास वर्ष का अन्त होते-होते मोरो में स्वीकृत हो जाएगा। कालान्तर में रिबेरो शहीद के पद पर सम्मानित हुए और वेइरा को नौ वर्षों तक मृत्यु से युद्ध करना पड़ा। अन्त में उन्हें अपने प्राणों से भी मूल्यवान अपने मस्तिष्क का वलि देना पड़ा।

दो वर्ष के वाद सन्त फ्रांसिस अपने समाज बंधुओं से मिल रहे थे। यह मिलन भी कैसा क्षणभंगुर था। अगस्त महीने में चार वीरों ने पुनः रणभूमि के लिए प्रस्थान किया, कठिनाइयों से लड़ने, मृत्यु का आलिंगन करने, खीस्त की ज्ञान-मुक्ता की प्रभा फैलाने, उनकी प्रेम-शिक्षा का सौरभ विखेरने। संत फ्रांसिस के लिए यह सांत्वनापूर्ण मास अति शीघ्र समाप्त हो गया। वे पुनः मलक्का की आध्यात्मिक सेवा में संलग्न हो गए।

इन नए मिशनरियों के प्रस्थान के वाद अगस्त महीने केअन्त में मलक्का के नील गगन पर आशंका के वादल फिर मंडराने लगे। ऐसा जान पड़ता था कि निकटवर्ती सुल्तान पुर्त्तगाली सत्ता की जड़ उखाड़ कर ही दम लेंगे। सुमात्रा के उत्तरी छोर पर अचीन सल्तनत कायम थी। आसपास के सुल्तानों में अचीन का सुल्तान सवसे शक्तिशाली था। उसने पुर्त्तगालियों की वस्ती जला डालने का नारा वुलंद किया। १५४७के अगस्त में उसका वेड़ा रात के अंधियारे में मलक्का खाड़ी में घुसा, खून से लिखी चुनौती पुर्त्तगाली कप्तान सिमोन द मेल्लो के पास भेजी गई। उत्तर का इंतजार हो रहा था, लेकिन जवाब नहीं आया। पुर्त्तगालियों के पास बहुत थोड़े लड़ाकू जहाज बचे थे। इस पर अचीनी सैनिक लूट-पाट मचा कर वापस चले गए। किन्तु सारे मलक्का पर आतंक का कुहरा छाया रहा। अचीनियों का कोई विश्वास न था, वे किसी भी समय उपद्रव और आक्रमण कर सकते थे। लौटने की अपेक्षा शत्रु का पीछा करने में ही भविष्य के कष्टों से बचने की आशा थी। लेकिन चन्द नावें लेकर ऐसे दुश्मन का पीछा करना भी तो ऊखल में सिर देना था। इस संकल्प-विकल्प में सन्त फ्रांसिस ने राय दी। टूटे जहाजों में ही अचीनियों का पीछा करने में हमारा कल्याण है। अपनी व्यक्तिगत धारणा के वावजूद कप्तान ने सन्त की वात मान ली और दस जहाजों का बेड़ा लुटेरों की खोज में भेजा। दिन सप्ताह में बदल गए, लेकिन इस अभियान का कोई समाचार न आया।

अच्छा अवसर देख जोहोरे और नितांग के सुल्तान मुआर नदी के मुहाने से मलक्का पर एक साथ आक्रमण करने चले। पुर्त्तगालियों से जोहोरे के सुल्तान को पुरानी शत्रुता थी। वह मलक्का के उस सुल्तान का वंशज था जिससे आल्वुकेर्के ने ममर छीना था। दोनों सुल्तानों ने कूटनीति के सहारे मलक्का पर छाए आतंक को और भी गहन करने की सोची। अपने जासूसों द्वारा उन्होंने शहर में अफवाह फैला दी कि पुर्त्तगाली बेड़ा अचीनियों के कब्जे में पड़कर तहस-नहस हो चुका है। इस खबर ने आग में घी का काम किया। स्वयं कप्तान द मेल्लो हताश हो गए। अचीनियों का पीछा करनेवाले सैनिकों के परिवार निराश होकर ओझों की शरण जाने लगे।

दिसंबर की चौथी तारीख रविवार को उद्ग्रहण गिरजाघर में तिल रखने की जगह न थी। सन्त फ्रांसिस उपदेश दे रहे थे। उनके व्याख्यान का विषय था ईश्वर पर भरोसा। उपदेश खतम होते-होते उनकी आंखें अलौकिक ज्योति से चमक उठीं, जैसे कोई दूर का दृश्य देख रहे हों। अपने श्रोताओं के अल्पविश्वास की अवहेलना करते हुए उन्होंने ईश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के लिए एक वार "हे पिता हमारे और प्रणाम मरियम" पढ़ने को कहा। पुर्त्तगाली बेड़े को अचीनियों पर विजय प्राप्त हुई थी। उसी दिन संध्या को मरियम गिरि गिरजाघर में उन्होंने सवेरे की बातें दुहराई और विजय की पक्की खबर आने का दिन भी बता दिया। विजयी पुर्त्तगाली बेड़े पर से सर्वप्रथम उतरनेवाले अलफोंसो फरनान्दस नामक सैनिक के बयान से, सन्त फ्रांसिस के वचन की सत्यता स्पष्ट हो गई।

जापान की खबर

१५४७ के दिसंबर में सन्त फ्रांसिस को एक ऐसी खबर मिली जो एक नए प्रदेश की अर्गला खोलने की कुंजी थी। यह पीतवर्ण लोगों के देश जापान की खबर थी, भारत और मलाया से बिलकुल भिन्न। सन्त का पर्यटनशील हृदय इस नए देश का वर्णन सुनकर प्रसन्नता से मचल उठा।

सन्त फ्रांसिस मरियम गिरि गिरजाघर में किसी का विवाह-संस्कार सम्पन्न कर रहे थे। एकाएक जौर्ज आलवारेज नामक नाविक के साथ चिपटी नाक,

पतली आंख, पीत वर्णवाले एक पैंतीस वर्षीय युवक ने गिरजाघर में प्रवेश किया। दो वर्ष की लगातार चेष्टा के बाद आंजीरो सन्त फ्रांसिस से मिलने में सफल हुआ था। आंजीरो ही उस जापानी का नाम था। पहले ही मिलन में वह सन्त फ्रांसिस पर मुग्ध हो गया, जैसे मृग वांसुरी की तान पर। यह मिलन बड़ा महत्त्वपूर्ण था, संत फ्रांसिस के लिए, आंजीरो के लिए, उसकी मातृभूमि जापान के लिए और समस्त गिरजा के लिए।

आंजीरो का जीवन चेष्टाओं से भरा था। दो वर्ष पूर्व एक अदने से झगड़े में संयोगवश उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी की हत्या कर दी थी। यद्यपि उसने मृत्यु दंड के योग्य कार्य नहीं किया था, उसे मृत्यु का डर लगा रहता था। जान बचाने और अपनी आत्मा को ग्लानि से मुक्त करने के उसने एक बौद्ध मठ की शरण ली। वह स्वयं बौद्ध मतावलंवी था। लेकिन मठ में भी उसको शान्ति न मिली। जान तो कुछ दिनों तक वची रही, पर आत्मभर्त्सना दूर नहीं हुई। बौद्ध भिक्षुओं के पास इसकी दवा न थी। मनुष्य निर्बल होता है और सदा पाप में गिरता रहता है। पाप द्वारा वह अपने इष्टदेव से अलग हो जाता, कृपा खो देने के कारण वह शान्ति और सच्चे सुख के अविरल स्रोत, ईश्वरीय जीवन से दूर भटक जाता है। ईश्वरीय जीवन के आगमन से ही पाप क्षमा हो सकती है और मनुष्य सच्ची शाँन्ति अनुभव कर सकता है। आंजीरो को पाप-क्षमा की जरूरत थी। शांति की खोज में आंजीरो कागोशिमा बन्दरगाह पर लगे जौर्ज आल्वारेज के जहाज पर पहुंचा। शायद फिरंगियों के पास वह अचूक दवा मिल जाए। आल्वारेज ने अपने इस नए मित्र से सन्त फ्रांसिस की चर्चा की। लेकिन सन्त फ्रांसिस उस समय कागोशिमा से तीन हजार मील दूर पाप में गिरे लोगों को ईश्वर से क्षमा दिलाने में लगे थे। आंजीरो की तमाच्छन्न आत्मा में आशा की किरण चमक उठी। ऐसे धर्मात्मा से मिलने के लिए वह व्यग्र हो उठा। आल्वारेज का जहाज उस वर्ष के अन्त तक मलक्का पहुंचा।

विधि का विधान, उस समय सन्त मलक्का के लिए प्रस्थान कर चुके थे। आंजीरो को बड़ी निराशा हुई। लेकिन उसने खीस्तमत का अध्ययन शुरू कर दिया। काफी ज्ञान हासिल कर लेने पर भी मलक्का के विकर अलफ़ौंसो मार्टिनेज ने उसे वपतिस्मा देना समयोचित न समझा। उस समय सन्त फ्रांसिस

तेरनाते का पाप कलुषित वातावरण शुद्ध करने में लगे थे। उनकी खोज में मलुक्का जाने की कोई आशा न थी। निराश आंजीरो ने अपने पैर फिर मातृभूमि की ओर उठाए। चीन सागर से होकर उसका जहाज जापान की ओर चल पड़ा। लेकिन आंजीरो के भाग्य ने फिर पलटा खाया। जापान कुछ ही दूर था कि भीषण आंधी की चपेट में पड़ जहाज भूलता-भटकता चीन के तट से जा लगा। वहां उसकी भेंट फिर जौर्ज आल्वारेज से हुई। उसकी करुण कहानी सुन कर आल्वारेज ने उसे पुनः मलक्का जाकर संत फ्रांसिस से मिलने की राय दी, वे अब तक अवश्य मलुक्का में लौट आए होंगे। वीर आंजीरो एक बार फिर चीन सागर की भयानक, उत्ताल तरंगों से लड़ता-भिड़ता मलक्का की ओर लौटा। इस बार उसकी वीरता पुरस्कृत हुई।

संत फ्रांसिस ने इस नवागंतुक से जापान संबंधी अनेकों प्रश्न किए, वहां की राजनीतिक, निवासियों का रहन-सहन, भाषा आदि सब प्रकार के विषयों पर बातें हुईं। अन्त में उन्होंने पूछा, "क्या जापानी खीस्तमत अपनाएंगे ? इसका उत्तर आंजीरों ने बड़ी कुशलता से दिया, "नहीं, तुरंत नहीं, वे आपसे अनेकों प्रश्न करेंगे। तब देखेंगे कि आप स्वयं अपनी शिक्षा का पालन करते हैं या नहीं। यदि आपका जीवन आपकी शिक्षा के अनुकूल होगा, तभी वे आपकी शिक्षा को सहर्ष स्वीकार कर लेंगे।" आंजीरो की ये बातें सुन और ऐसी पटुता में भी इतना सीधापना देख संत को निर्णय करते देर न लगी। दूसरे ही महीने उन्होंने कोचिन से अपने रोमी बंधुओं के पास लिखा, "यह मेरी निश्चित धारणा है कि दो वर्ष समाप्त होते न होते मैं या हमारे समाज का कोई दूसरा सदस्य जापान के लिए रवाना हो जाएगा। यह यात्रा बहुत खतरनाक है, चीनी जलदस्युओं के कारण जो उन समुद्रों में उत्पात मचाते रहते हैं और भीषण आंधियों में पड़ कर बहुत से जहाज खो जाया करते हैं।"

आंजीरो से मिलने के आठ ही दिन बाद सन्त फ्रांसिस ने अपनी आंखें भारत की ओर उठाईं। दिसंबर समाप्त हो रहा था। ये आठ दिन बड़े लाभदायक सिद्ध हुए। वे जापान के विषय में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करते रहे। जौर्ज आल्वारेज से उस देश के विषय में एक पुस्तिका लिखने का

आग्रह भी किया, जहां के लोग अपनी किताबें ऊपर से नीचे पढ़ते, बांस की शलाकाओं के सहारे भोजन करते, अतिथि-सेवा को धर्म मानते, धीमे स्वर में बातचीत करते और आगंतुकों से प्रश्न करते कभी न थकते।

इस बार संत फ्रांसिस अकेले यात्रा कर रहे थे। उन्होंने द एइरा को नवंबर में ही मलक्का के दस बालकों के साथ एक व्यापारी जहाज पर भारत भेज दिया था। उसका येसुसमाज में भर्ती होने का परीक्षण-कार्य समाप्त हो चुका था। लेकिन येसुसमाज उसके स्वभाव एवं प्रवृत्ति के अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ, अतः उसने फ्रांसिस समाज में ही प्रवेश किया। आंजीरो भी सन्त फ्रांसिस के साथ नहीं जा सका। कृतज्ञतावश उसे अपने हितैषी आल्वारेज के जहाज के लिए दो-तीन दिनों तक ठहर जाना पड़ा। उसे गोआ ले जाना अच्छा समझ संत ने उसका वपतिस्मा स्थगित कर दिया था। गोआ में उसे विशेष प्रशिक्षण दी जा सकती थी। इस प्रशिक्षण की उसे नितांत आवश्यकता भी थी, क्योंकि संत फ्रांसिस उसे अपनी मिशनरी मंडली का नायक वना कर जापान भेजने की सोच रहे थे।

इतनी दूर यात्रा कर संत फ्रांसिस मीन-तट पर के अपने प्यारे खीस्तीयों से मिलने दो वर्षों के बाद जा रहे थे।

पुनः भारत

इस बार संत फ्रांसिस की भारत यात्रा बड़ी भयावह रही। बंगाल की खाड़ी में जहाज तीन दिनों तक आंधी के थपेड़े खाता आगे बढ़ने की कोशिश करता रहा। बचने की आशा न देख कप्तान की आज्ञा से यात्रियों के असबाब बारी-बारी समुद्र में फेंके जाने लगे। ऐसी भयंकर आंधी में सन्त फ्रांसिस पहले कभी न पड़े थे। लोगों के करुण क्रन्दन और भयातुर मुखमंडल से सारे जहाज पर एक काला विषादपूर्ण वातावरण छा गया। यात्रियों की हालत देख सन्त फ्रांसिस का भी हृदय कांप उठा। लेकिन ईश्वर पर उनकी आस्था अटल रही। कप्तान और उनका दल जहाज को इस भयानक खतरे में भी संभाल रखने की जबरदस्ती कोशिश कर रहे थे और सन्त फ्रांसिस ईश्वर की दुहाई दे रहे थे, स्वर्ग के सन्त और संसार की युद्धमान गिरजा दोनों की सहायता मांग रहे थ; स्वर्गदूत, साधु कुलपति, शहीद, धर्मपंडितों, सबों के पैर पड़ रहे थे कि खतरे का बादल फट जाए

और आशा की किरण फिर मुस्कुरा उठे। अन्ततः ईश्वर की असीम दया की विजय हुई प्रकृति की विकराल शक्ति पर। खतरा टल गया। वर्षा का सामयिक फुहार पा उनकी आत्मा में अलौकिक शान्ति और सुख तेजी से पनप उठे। १५४८ की तेरहवीं जनवरी को संत का जहाज कोचिन वंदरगाह में लगा। ठोस जमीन पर पैर रखते संत को अवश्य खुशी हुई। दुख की वारी फिर आएगी।

जहाज से उतरते ही उन्हें जो समाचार मिले, उनसे उनकी आत्मा चीत्कार उठी। लगभग तीन वर्ष की अनुपरिस्थिति में अनेकों घटनाएं घट चुकी थीं। वेदना से व्याकुल हो वे सांथोमे से १५४५ में नए भूखंड की खोज में निकले थे। इतने दिनों में वह घाव कुछ भर गया था। लेकिन १५४८ की जनवरी में वे भारत लौटते ही वह पुनः हरा हो गया। लगभग एक वर्ष पहले उनके अंतरंग मित्र मिगुएल वाज़ की चाउल में अचानक मृत्यु हो गयी थी। मिगुएल याजक वर्गी नहीं थे, तो भी उनकी कार्यकुशलता और धर्मपरायणता के कारण उन्हें विकर जेनरल के पद पर आसीन किया गया था। ये यथार्थ में भारतीय खीस्तीयों के शक्तिशाली वाजू थे "गोआ के धर्माध्यक्ष के वैरियों ने वाज की अकाल मृत्यु को हत्या वताया और इसका जवावदेही सीधेसादे धर्माध्यक्ष को ही ठहराया। जव सन्त फ्रांसिस कोचिन पहुंचे तो बूढ़े धर्माध्यक्ष इस मिथ्या दोपा-रोपण की पीड़ा में तड़प रहे थे। उधर वाज के देहावसान की खबर पा दिएगो वो!रवा संत पौल कालेज के भूतपूर्व संस्थापक भी अचानक इस संसार से चल वसे। राज्यपाल द सूजा की अवधि समाप्त हो चुकी थी, लेकिन योहन कास्त्रो के आगमन से भारत की स्थिति में कुछ भी सुधार नहीं हुआ था।

पुर्त्तगाली अफसरों की धनलोलुपता से भारतीय खोस्तीयों के संकट बढ़ते ही जा रहे थे। देशी राजा विदेशियों से वहुत ही असंतुष्ट हो गए थे। उन्नीकेरल वर्मा, एक समय संत फ्रांसिस की सहायता से पुर्त्तगालियों के साथ मित्रता स्थापित करने के लिए लालायित था, लेकिन अब लंका से आए फ्रांसिस समाज के अध्यक्ष से उस द्वीप पर मचे कांड की पोल खुल रही थी। लंका के मित्र राजाओं को अव तक पुर्त्तगाली सहाय्य नहीं मिला था। मनार के हत्यारे, राजा चकनास शेखरण के विरुद्ध कोई भी कार्रवाई नहीं की गई थी। कोटे के राजा

भुवनेक वाहू अब तक प्रचारकार्य में अड़ंगा लगाता जा रहा था। और इन सब अत्याचारों में दलित-दमित लोगों की सहायता करनेवाला कोई नहीं था।

पुर्त्तगाली राजा के नाम पत्र

जनवरी की बीस तारीख को सन्त फ्रांसिस ने पुर्त्तगालियों के राजा योहन के पास इन हृदयविदारक वृत्तांतों का विवरण लिख भेजा। राजा को धर्मप्रचार से अत्यधिक दिलचस्पी थी। लेकिन भारत सेइतनी दूर रहकर उन्हें उसकी स्थिति की यथार्थ स्थिति का ज्ञान विलकुल नहीं था। संत फ्रांसिस का पत्र ऐसा दुखभरा है कि स्वयं संत फ्रांसिस उसे लिखना नहीं चाहते थे। लेकिन अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए उन्हें ऐसा करना ही पड़ा। भारत की स्थिति में सुधार लाना अत्यावश्यक था और इस हेतु वे सुझाव भी पेश करते हैं। राज्यपाल के जरिए पुर्त्तगाल भारत का शासन भार संभालता था। तीन-तीन वर्ष पर नए गवर्नर नियुक्त किए जाते थे। यदि राज्यपाल कुशल होते और धर्मप्रचार के कार्य में दिलचस्पी रखते तो भारत का कायापलट हो जाता। यदि धनलोलुप पुर्त्तगालियों पर कुछ कड़ाई करते और देशी राजाओं के प्रति उदारता की नीति बरतते तो धर्मप्रचार का कार्य कुछ अंश तक सुगम हो सकता था। यदि राजा योहन इन सब कामों में राज्यपालसे सख्त हिसाब लें और लापरवाह राज्यपालके पुर्त्तगाल लौटने पर उसकी सारी संपत्ति जब्त कर दया संघ को दे दें और अपदस्थ अधिकारी को कुछ दिनों तक नजरबंद रखें तो सभी राज्यपाल अपना कार्य उत्साह और सावधानी से करेंगे। लेकिन किसी तरह की पाबंदी नहीं रहने के कारण ये राज्यपाल या तो अपना कर्त्तव्यपालन नहीं करते या करते भी हैं तो बड़ी ढिलाई से। संत का यह सुझाव कठोर अवश्य था; कितने तो कहते हैं कि यह कठोरता संत फ्रांसिस के कोमल तथा दयालु स्वभाव के अनुकूल नहीं।

संत फ्रांसिस का स्वभाव कोमल तथा दयालु अवश्य था, इस दयालुता तथा स्निग्धता का एकमात्र स्रोत था वह खीस्त प्रेम जिसमें उनकी आत्मा का अंश प्रति अंश पगा हुआ था। खीस्त प्रेम से वे सराबोर थे और खीस्तप्रेम से सराबोर वे करना चाहते थे इस संपूर्ण विश्व को। यही उनका साध्य था, एकमात्र लक्ष्य। इस लक्ष्यसिद्धि में यदि कोई बाधा आती, तो उसे वे उसी निर्ममता से

दूर करते थे जिस प्रकार एक कुशल डाक्टर रोगी की जान बचाने के लिए उसके अस्वस्थ और खतरनाक अंग को काटकर फेंकने के लिए तत्पर रहता है। यदि रक्षक ही भक्षक-सा आचरण करे तो क्या निदान है? तत्कालीन पुर्त्तगालियों की गति-विधि सर्वविदित है। इतिहास इसका साक्षी है। खीस्तमत प्रचार के नाम पर जो-जो काण्ड उनमें से कुछ लोगों ने रचे हैं वे भी कभी श्लाघ्य नहीं कहे जा सकते। यदि दुराचारियों के प्रति संत फ्रांसिस का रुख कठोर रहा तो यह उतना ही न्यायसंगत है, जितना किसी दंडसंहिता की कोई भी धारा। अपने कोमल तथा मातृसुलभ प्रकृति के अनुसार ऐसे कठोर सुझाव पेश करते समय उन्हें घोर यंत्रणा हो रही थी, यह उन्होंने स्वयं कहा है। लेकिन कर्त्तव्य के सामने चाहने या न चाहने का प्रश्न ही नहीं उठता। काश! उनका सुझाव स्वीकृत हो जाता! तब पुर्त्तगाली भारत के इतिहास पर इतने काले धब्बे नहीं दीखते। उनका भी अतीत उतना ही गौरवपूर्ण होता जितना खीस्तीय शिक्षा का।

अपने रोमी बंधुओं के नाम लिखे पत्र में संत फ्रांसिस ने सुदूर पूर्व के तीन वर्षों का रोचक वर्णन किया है। यह पत्र पाँच हजार शब्दों का है। उन्होंने सन्त इनीगो से पुनः प्रचारक भेजने की प्रार्थना की है, ऐसे प्रचारक जो कठिनाइयों को बर्दाश्त कर सकें और जिनका चरित्र सब प्रकार के गुणों से समुज्ज्वल हो। सिमोन रोद्रिगेज से उन्होंने यही अपील दुहरायी तथा पुर्त्तगाली राजा को भारत की हालत से भली भाँति अवगत कराने का अनुरोध भी किया कि पुर्त्तगाली बस्तियों में धर्म की अपेक्षा धन को प्राथमिकता न दी जाए।

प्यारे परिया लोगों से मिले

यूरोप पत्र लिखकर सन्त फ्रांसिस अपने प्यारे परिया लोगों को देखने मीन-की तट चले। उनसे मिले तीन वर्ष हो गए थे। इन तीन वर्षों में उनको और उनके धर्म गुरुओं को कितने कष्ट सहने पड़े थे। मीन-की तट का कार्य भार पांच येसुसमाजियों और कुछेक अन्य पुरोहितों के कंधों पर पड़ा था। सन्त फ्रांसिस की अनुपस्थिति में समाज के बंधुओं ने अन्तोनियों क्रिमिनाली को अपना अध्यक्ष चुना था। अलफोंसो सिप्रियन की उम्र ढल रही थी। साठ वर्षों के

वाद शरीर में युवक की चपलता नहीं रह जाती त्रिवांकुर में मान्नुएल मोराइस मुसलमानों के गुलाम का जीवन भुगत चुके थे। फ्रांसिस हेनरीकेस को भी वह कटु अनुभव हो चुका था। हेनरी हेनरीकेस का अधिकार तामिल भाषा पर दिनानुदिन बढ़ते देख संत फ्रांसिस को अत्यन्त संतोष हुआ। इन कार्यशील वंधुओं का उत्साह और उत्तेजित करने के लिए सन्त ने एक कार्यक्रम तैयार किया। सवों को मनपाड़ वुलाया और मिशिनरी तरीकों के विषय में उन्हें एक संभाषण दिया। इसे और स्थायी वनाने के लिए वे उस संभाषण को लिपिवद्ध रूप में उनके पास छोड़ते गए। ये आदेश क्या थे? उनकी आत्मा और उनको मूर्त्त रूप में देखने के लिए मीन-तट के वंधुओं को केवल अपने प्यारे फादर फ़्रांसिस की ओर आंखें उठाने की जरूरत थी। एक भी वात ऐसी न थी जिसका अभ्यास स्वयं सन्त फ्रांसिस ने नहीं किया था, जिनको उन्होंने स्वयं नहीं आजमाया था।

वच्चों के प्रति उनके सहज प्रेम का हम पर्याप्त उदाहरण देख चुके हैं। भारत वाल मृत्यु का घर है। कितने वच्चे जीवन का दो घंटे भी अनुभव किए विना इस जगती से चल वसते हैं। अपनी लापरवाही से उन्हें स्वर्ग के आनंद से वंचित कर देना कितनी बड़ी जवावदेही है। इस लिए किसी गांव में पहुंच कर यथाशीघ्र वहां के वच्चों को वपतिस्मा देना प्रत्येक पुरोहित का कर्त्तव्य होना चाहिए। यह काम इतना आवश्यक है कि इसका भार किसी दूसरे के हाथ नहीं छोड़ा जा सकता। आज के बच्चे ही कल के पिता हैं। उनकी शिक्षा पर भावी संतान की धार्मिक भावनाएं निर्भर करती हैं, ये ही पवित्र गिरजा के भावी स्तम्भ हैं। इसलिए इनकी शिक्षा पर पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। और शिक्षा देने का सवसे अच्छा और सुगम तरीका है सत्संग। अतः उन्हें सदा अपने साथ रखना, किसी भी धार्मिक कार्य, विशेषतः रोगियों को देखने जाते समय उन्हें अपने साथ लेते जाना चाहिए। प्रेम के विना शिक्षा नहीं दी जा सकती। यदि कोई वालक किसी प्रकार की भूल करे, तो उसे सप्रेम-सहर्ष क्षमा कर देना चाहिए। वच्चों के वाद रोगियों का स्थान आता है। उनकी सेवा के लिए सदा तत्पर रहना आवश्यक है।

मृतकों के दफन के लिए भी संत ने एक विशेष कार्यक्रम निर्धारित किया।

सामान्य ख्रीस्तीय जनता के साथ दया और प्रेम का व्यवहार बनाए रखना चाहिए। गरीब ख्रीस्तीयों की आर्थिक सहायता खुले हाथ करनी चाहिए। इसलिए, दान में जो कुछ प्राप्त हो सब गरीबों में बांट दिया जाए। हरएक मिशनरी का अपना निश्चित कार्यक्षेत्र होता है, वहां से अपने अध्यक्ष की अनुमति विना किसी दूसरी जगह जाना कर्त्तव्यपरायणता में शिथिलता को स्थान देना है।

वच्चों की शिक्षा के वाद वड़ों की शिक्षा का प्रश्न आता है। यह भी वहुत जरूरी है। धर्मशिक्षा के लिए स्त्रियां शनिवार को वुलाई जाएं और मर्द रविवार को, क्योंकि सप्ताह के अन्य दिन उन्हें कार्य से अवकाश नहीं रहता। सव लोगों में प्रेमभाव और मेल रहना चाहिए। इसलिए यदि दुर्भाग्यवश कभी झगड़ा-तकरार हो जाए तो अविलंब द्वेष और कटुता को दूर कर उनमें प्रेम और शान्ति स्थापित करनी चाहिए। यदि लोगों में त्रुटियाँ या कमजोरियां नजर आएं तो उनका ध्यान उस ओर आकृष्ट करना आवश्यक है, लेकिन किसी भी हालत में उनकी आलोचना या चर्चा पुर्त्तगालियों के समक्ष न की जाए। अन्त में सन्त फ्रांसिस ने वह अमूल्य मूल मंत्र उन्हें सिखाया, जिससे उनका अंग-प्रत्यंग अनुप्राणित था। अपनी सारी शक्ति से लोगों का प्रेम भाजन वनन की क़ोशिश करें, उनकी हरएक वात काम या विचार प्रेम से ओतप्रोत हो, और दूसरों की दुर्वलताएं सहिष्णुतापूर्वक वर्दाश्त करें।

एक अनुभवी कार्यकर्ता के मुंह से ऐसी सलाहें सुन मीन-तट के मिशनरी आशा और उत्साह से परिप्लावित हो पुनः अपने अपने स्थान को रवाना हो गए। और सन्त जैसे अपने प्यारे परिया लोगों के संकटों का निवारण करने पुर्त्तगाली राज्यपाल से मिलने आए थे, वैसे ही कन्याकुमारी का दौरा करते हुए गोआ लौट गए। फरवरी के अन्त तक वे कोचिन पहुंचे और मार्च का शुरू होते-होते गोआ की ओर वढ़ गए। गोआ पहुंचने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि योहन कास्त्रो मुसलमानों का आतंक दूर करने डिउ गए हुए हैं। अपने विरोधियों को पराजित कर राज्यपाल ने कुछ समय के लिए वसीन को अपना निवासस्थान बना लिया था। गोआ में नौ दिन रहकर संत राज्यपाल से मिलने वसीन की ओर बढ़े राज्यपाल के आग्रह से संत ने चालीस उपदेश दिए। इसको सुनने के लिए अमीर

उमरावों की भीड़ उमड़ पड़ती थी। स्वयं राज्यपाल बड़े ध्यान और चाव से संत फ्रांसिस के अमृत वचन सुनते थे। इसी समय सन्त फ्रांसिस और पुर्त्तगाली राजा के इस प्रतिनिधि के बीच गहरी मित्रता शुरू हुई। द कास्त्रो एक वीर योद्धा थे और वीरों को पहचानने में उनकी आंखें तेज थीं। उनमें उनका सम्मान करने का हृदय भी था। और सन्त फ्रांसिस ईश्वर भक्त थे, प्रेम उनका जीवनावलम्ब था। गोआ से सन्त तुरन्त कोचिन लौट जाना चाहते थे, वे राज्यपाल की प्रार्थना अनसुनी न कर सके। शायद निकट भविष्य में होनेवाली घटना का पूर्वाभास दोनों को मिल गया था। द कास्त्रो बराबर सन्त फ्रांसिस से धार्मिक विषयों पर वार्त्तालाप करते और उनकी दी सलाहों पर अमल करने की जी जान से कोशिश करते रहे।

अप्रैल की दूसरी तारीख को संत फ्रांसिस ने अपने मित्र दिएगो परेरा के नाम पत्र लिखा। इस पत्र में उन्होंने एक स्पेनी युवक रामीरेज पर कृपा दृष्टि रखे रहने की याचना की। रामिरेज अपने माता-पिता से मिलने स्वदेश जाना चाहता था, लेकिन पैसे के अभाव से उसे जहाज में जगह नहीं मिल रही थी। संत फ्रांसिस ने परेरा से आग्रह किया कि वे इस युवक को कुछ काम दे दें तो इसे स्पेन का किराया मिल जाए। परेरा कोचिन में अपनी चीन यात्रा की तैयारी में लगे थे। वे भारत से माल लेकर चीनियों के हाथ बेचकर माला माल हो गए थे। रामिरेज के प्रति उदारता दिखाने में उनकी कोई विशेप क्षति नहीं हो सकती थी।

मलक्का की याद सन्त के भुलाए नहीं भूलती थी। वहां जो सुधार वे कर आए थे, उन्हें बनाए रखने के लिए मिशनरियों की नितांत आवश्यकता थी। आठवीं अप्रैल को कोचिन से एक पुर्त्तगाली जहाज मलक्का जा रहा था। मलक्का के नए कप्तान दोन पेद्रो द सिल्वा भी पदभार ग्रहण करने उसी पर जा रहे थे। सन्त फ्रांसिस ने गोआ कालेज के अध्यापक फ्रांसिस पेरेज़, एक नवयुवक रोकुस द ओलिविएरा को मलक्का के पुर्त्तगालियों की आध्यात्मिक देखरेख तथा बच्चों की शिक्षा के लिए उसी जहाज़ पर राज्यपाल के साथ भेज दिया।

सन्त पौल कालेज में जापानी आंजीरो अपने दो साथियों के साथ ख्रीस्त के सिद्धांतों के अध्ययन में तन्मय था। उसके दो साथियों में एक उसका नौकर

भी था। वह खीस्त की प्रेम-शिक्षा पर दिन-दिन मुग्ध होता जा रहा था। एक बार उसके अन्तर्भाव अपना किनारा तोड़ कर फूट निकले, वह चिल्ला उठा, "हे जापान निवासियो, यह तुम्हारा दुर्भाग्य है कि तुम उन वस्तुओं की आराधना करते हो जो ईश्वर ने मनुष्य की सेवा के लिए बनाई है। जापानियों की सूर्यपूजा की ओर लक्ष्य करके ये बातें कही गई थीं, इससे उसके हृदय में उमड़ते भावों का आभास मिलता है। अन्त को वह प्रधान दिया आया, पेन्तेकोस्त रविवार, मई की बीस तारीख। गोआ के धर्माध्यक्ष ने बड़े समारोह से महागिरजाघर में अपने ही हाथों आंजश्वरो और उसके दो साथियों को बपतिस्मा दिया। आंजीरो को पौल का नाम मिला, उसके नौकर को योहन और तीसरे को अन्तोनियो। संत के व्यक्तित्व का प्रभाव अन्तोनियो पर इतना गहरा पड़ा था कि वह सन्त फ्रांसिस का साथ कदापि नहीं छोड़ना चाहता था।

इस महादिवस के तीन ही सप्ताह के अन्दर गोआ के महान राज्यपाल योहन द कास्त्रो मलेरिया के चंगुल में पड़कर अपनी क्षणभंगुर महिमा को छोड़ इस संसार से चल बसे। भारत में पुर्त्तगाली वैभव के प्रतीक होने पर भी उनकी निजी संपत्ति कुछ भी न बची थी।

प्राय: इसी समय संत फ्रांसिस ने एक प्रार्थनांजलि का संकलन किया। यह उनकी ही प्रार्थना विधि का स्वरूप है। सब प्रकार की प्रार्थनाएं इसमें मिलती हैं, पवित्र त्रित्व के प्रति, कुंवारी माता के प्रति और रक्षक दूत के प्रति। इसे प्रार्थनांजलि न कहकर, खीस्त भक्त की धार्मिक दिनचर्या कहें, तो अधिक उपयुक्त होगा। हरएक खीस्तीय का फर्ज है कि वह प्रात: उठकर ईश्वर का स्मरण करे, प्रेरितों के धर्मसार पर कुछ समय के लिए मनन-चिन्तन कर अपने विश्वास को उत्तेजित करे, और दिन भर के परिश्रम और चिन्ता की चिता पर तपने के बाद आराम करने के पहले उस दिन के किए कार्यों की जांच करे। इस प्रकार यदि दुर्भाग्यवश किसी प्रकार का पाप या भूल हो गई हो, उस पर हृदय से पछता कर ईश्वर से क्षमा प्राप्त करे और अपने को अपने रक्षक दूत के हाथ सौंप कर खाट की अनिश्चित शरण में जाए।

सातवां परिच्छेद

संत पौल का गुरुकुल

पहली बार मीन-तट जाते समय संत फ्रांसिस ने मिगुएल वाज और उनके सहकारियों को वचन दिया था कि सन्त पौल गुरुकुल में अध्यापन कार्य के लिए अन्य ये सुसमाजी भी जाएंगे। ज्यों-ज्यों पुर्त्तगाल से येसुसमाजी कार्यकर्त्ताओं की टोलियां पहुंचती गईं, सन्त पौल गुरुकुल में येसुसमाजियों की संख्या भी वढ़ती गई। ६ साल के अन्दर कालेज में तीन येसुसमाजी अध्यापक बन चुके थे: पौल कामरीनो, जो सन्त फ्रांसिस के साथ ही पुर्त्तगाल से चले थे, निकोलस लांसिलोट्ट और फ्रांसिस पेरेज। इतने वर्षों में सन्त पौल गुरुकुल के विद्यार्थियों की संख्या भी साठ हो गई थी। दूर-दूर से विद्यार्थी यहां आए हुए थे, अफ्रिका, वर्मा, हिन्देशिया और भारत के विभिन्न भागों से मालवार, मीन-तट, तथा बंगाल के भी नवयुवक यहां शिक्षा पा रहे थे। येसुसमाजियों की संख्या भारत में भी वढ़ती जा रही थी। जव सन्त फ्रांसिस राज्यपाल द कास्त्रो से मिलने गोआ से वसीन जाने पर थे, तव चार नवयुवकों ने समाज में भर्त्ती होने की लालसा प्रकट की थी, रोकुस ओलिविएरा, अलफोंस द कास्त्रो, गास्पार रोद्रिगेज़ और एक स्पेनी धर्मप्रान्तीय पुरोहित कोस्मे द तोरेस। इनमें से रोकुस ओलिविएरा अप्रैल के शुरु ही में मलक्का चले गए। तोरेस की कहानी बड़ी दिलचस्प है। संत फ्रांसिस से उनका परिचय पहली वार आम्वोइना में हुआ था, स्पेनी कैदियों के जहाज पर। अपनी उत्कट आकांक्षा पूर्ण करने की इच्छा से तोरेस स्पेन से मेक्सिको गए और वहां के स्पेनी सेनापति विल्लालोबोस के वेड़े पर मलुक्का और आम्वोइना होते हुए गोआ पहुंचे थे। लांसिलोट्ट के निर्देशन में उन्होंने आध्यात्मिक साधना की थी। अव उनकी वह चिर लालसा, जो वर्षों से उन्हें जला रही थी पूर्ण होती दीख पड़ी। सन्त उन्हें अपने साथ जापान ले जाना चाहते थे। लेकिन उस अभियान तक उन्हें संत पौल में अध्यापन करना पड़ेगा।

फिर मछुओं के बीच

सन्त फ्रांसिस अपने प्यारे मछुओं के बीच काम करने के लिए फिर मीन-तट चले गए। इस बार उन्होंने पुन्नैकायल को अपना केन्द्र बनाया। उनके आने की खबर पहले ही पहुंच चुकी थी। शाही ढंग से उन मछुओं ने संत का स्वागत किया, सड़कों पर कपड़े बिछे थे। नगर मेहराबों और पत्तियों से सुशोभित था। लोग संत फ्रांसिस को कंधों पर बिठा कर गिरजाघर ले गए। ऐसा स्वागत देख संत फ्रांसिस जैसे पिता का हृदय बाग-बाग हो गया। यह सब उनके कठिन परिश्रम का मधुर फल था। सबके हृदय होते हैं, यह न किसी के सामाजिक स्तर पर निर्भर करता है, न समाज किसी का हृदय छीन ही सकता है।

इधर संत फ्रांसिस का शानदार स्वागत हो रहा था, उधर गोआ में उनके लिए मातम मनाया जा रहा था। किसी ने अफवाह फैला दी थी कि ख्रीस्त के वैरियों ने उन्हें अपने निर्मम तीरों का शिकार बना डाला था। सौभाग्य से उसी समय पुन्नैकायल से अल्फोंसो सिप्रियन और मानुएल द मोराइस साकोत्रा जाते समय गोआ पहुंचे। इनसे परिया लोगों के पुत्रवत् प्रेम की खबर मिली, सब मुक्त कंठ से उन सीधे-सादे मछुओं की प्रशंसा करने लगे। पहली बार भारत आते समय संत फ्रांसिस ने सोकोत्रा निवासियों के लिए पुरोहित भेजने का प्रण किया था। इसी प्रण के पालन के लिए दो धर्मवीर मीन-तट से हटाए जा रहे थे। अब तक पुर्त्तगालियों की धनलोलुपता के कारण संत फ्रांसिस अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सके थे। अब वे अधिक देर करना नहीं चाहते थे।

पुन्नैकायल में सन्त ने मीन-तट के सभी ख्रीस्त-सेवकों को बुला भेजा। और फिर उन्हें अपना सर्वस्व ख्रीस्त की प्रेम-वेदी पर उत्सर्ग कर देने को प्रोत्साहित किया। फ्रांसिस हेनरीकस को छोड़ सभी वहां अपने प्रिय पिता से मिलने आ सके। बेचारे हेनरीकस अपने गरीब मुकवों की रक्षा में लगे थे। पुर्त्तगालियों की सहायता न पाने के कारण मार्त्तण्ड वर्मा ने अपने कुंठित अभिमान का बदला बेचारे मुकवों से ही लेना शुरू किया। चार वर्ष पहले धर्म-प्रचार की जो उसने छूट दी थी, उस पर प्रतिबंध लगा दिया, यहां तक कि उसने फादर फ्रांसिस हेनरीकस को बुलाकर प्रचार-कार्य तुरन्त बंद कर देने की सख्त

आज्ञा भी दी और न मानने पर निर्वासन या मृत्यु की धमकी। लेकिन ख्रीस्त के प्रचारक ऐसी धमकियों से क्या डरते ? मालिकट से कुछ दक्षिण से उन्हें निमंत्रण मिल रहा था और वे चालियन के लिए रवाना हो गए। संत फ्रांसिस को जब इसकी खबर मिली तो उन्होंने हेनरीकस को तुरन्त अपनी जगह जाने की आज्ञा दी तथा भविष्य में अपने अध्यक्ष क्रिमिनाली की अनुमति के बिना अपने मिशन क्षेत्र के बाहर न जाने को समझाया । उनके सहायतार्थ बालथाजार नुनेस दक्षिण त्रिवांकुर भेजे गए।

ख्रीस्त सेवकों की मेनहत का फल निराशाजनक कदापि नहीं कहा जा सकता। मीन-तट के उत्तरी भाग में सन्त पौल कालेज का एक छात्र मुसलमानों के क्रूर पंजों में पड़कर भी, उत्पीड़न तथा यातनाओं का सामना कर अपने विश्वास तथा ख्रीस्त-भक्ति में शिलाखंड सा दृढ़ रहा। बहुत कष्टों के बाद वह अत्याचारियों के कब्जे से निकल कर हेनरीकस के पास पहुंचा। यह भक्ति और धर्मभीरुता का अनूठा उदाहरण था; किन्तु एकाकी कदापि नहीं। अनेक बार दल के दल परिया अपनी धर्मरक्षा के लिए घरद्वार छोड़ निकल भागते थे कि ईश्वर की सेवा कर सकें। ईश्वर भी अपने भक्तों का साथ कभी नहीं छोड़ते, वे उनकी रक्षा ही नहीं करते, वरन् अपने असीम ज्ञान के अनुसार अत्याचारियों को उचित दंड भी देते हैं।

दक्षिण त्रिवांकुर में हिन्दू राजा का दमनचक्र चल ही रहा था कि तुतिकोरिन के ख्रीस्तीयों पर एक नई बला आ पहुंची। नया पुर्त्तगाली कप्तान अपने पूर्ववर्ती कप्तान से भी दुष्ट निकला। मीन-तट के सीपी का शिकार करनेवाले मछुए उसके अत्याचार से कराह उठे। करों में अत्यधिक वृद्धि हो गई, और उनकी सुननेवाला कोई न था। वे गुलामों का जीवन बिता रहे थे। मजहब के नाम पर अपना मतलब सीधा करनेवाले इन पुर्त्तगालियों का दुष्टाचरण देख सन्त फ्रांसिस की क्रोधाग्नि भड़क उठी। ऐसे अत्याचार तथा अन्याय का अन्त होना आवश्यक था। ६ वर्ष पहले उन्होंने पुर्त्तगाल के राजा के सामने एक सुझाव रखा था, लेकिन उसका कोई परिणाम नहीं हुआ था। अब उनके क्रियाशील मस्तिष्क ने एक नया उपाय खोज निकाला। यदि सिमोन

रोद्रिगेज; वही रोद्रिगेज़ जो पुर्त्तगाल में राजा के वाद सवसे शक्तिशाली समझे जाते थे, राजा के सर्वाधिकार से सम्पन्न होकर भारत आएं और भारतीय अफसरों की नियुक्ति का अधिकार भी उन्हीं के हाथ में रहे, तो संभव है भारत का विपाक्त वातावरण शुद्ध हो जाए। कोचिन लौट कर संत ने अपने पुराने मित्र सिमोन के नाम इसी आशय का पत्र लिखा।

अन्तोनियो गोमेज

अक्टूबर में संत फ्रांसिस ने अपने प्यारे ख्रीस्तीयों से विदा ली। २२ अक्टूबर को वे कोचिन में थे। कोचिन में उनको मालूम हुआ कि संत पौल के नए अध्यक्ष अपने अन्य तीन साथियों के संग ९ अक्टूबर को ही गोआ पहुंच चुके हैं। इनका स्वागत करने संत फ्रांसिस गोआ चले। अन्तोनियो गोमेज सफल वक्ता थे और कुछ ही दिनों में उन्होंने अपने व्याख्यानों तथा उपदेशों द्वारा गोआ के निवासियों के हृदय में घर कर लिया। जब संत फ्रांसिस नवम्बर के दूसरे पखवारे में गोआ पहुंचे तो सारे नगर को अन्तोनियो गोमेज और गास्पार वेरज का गुणगान करते पाया। उनके आने के कुछ ही दिन वाद नवम्बर १५ को नगर के एक ख्यातिलब्ध ब्राह्मण को सन्त पौल कालेज में श्रीमान धर्माध्यक्ष के हाथ से वपतिस्मा मिला। सारा नगर एक सप्ताह तक खुशियां मनाता रहा, सड़कें सजाई गईं और वाजे-गाजे के साथ जुलूस निकाले गए, जिसमें नगर के प्रमुख ख्रीस्तीय ब्राह्मणों ने भी भाग लिया।

परिया ख्रीस्तीयों की शिकायतों की सूची लेकर संत फ्रांसिस राज्यपाल गार्लिया द सा के यहां पहुंचे। इस मुलाकात में साकोत्रा के विषय में भी वातचीत हुई। वर्ष के शुरू में जहाज भारत से यूरोप जाया करते थे। संत फ्रांसिस दिसम्वर के आरम्भ में कोचिन चले आए और करीव दो महीनों तक यहीं रहे। वसीन और कोइलोन से स्कूलों की मांग आ रही थी। संत ने लांसिलोट्ट को एक धर्मवंधु के साथ कोइलोन भेजा और मेल्किओर गोनसाल्वेज को बसीन।

फ्रांसिस ने जापान जाने का अपना निश्चय अपने यूरोपीय भाइयों से कहा। आंजीरो उर्फ पौल के वर्णन के अनुसार ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा के प्रचार तथा विस्तार के लिए जापान भारत से अच्छा क्षेत्र था। आंजीरो स्वयं अर्धशिक्षित

था, किन्तु ज्ञान की उसे बड़ी भूख थी। सन्त उसे जापानियों का प्रतिनिधि मानते थे और उस पीतवर्ण समुदाय में ख्रीस्त का दिव्य संदेश सुनाने को बहुत लालायित थे। अपने पत्र के साथ उन्होंने जापानी लिपि का एक नमूना भी संत इनीगो के पास भेजा। भारत स्थित ये सुसमाज के भविष्य पर अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा था कि भारतभूमि पर उसके पनपने की आशा बहुत कम दीखती है।

इसलिए सन्त ने ख्रीस्त के सेवकों की पुनः मांग की, ऐसे ख्रीस्त-सेवकों की जो सब प्रकार के गुणों से सम्पन्न हों, जो चरित्र के पक्के और शरीर के बलिष्ट हों, क्योंकि साधारणतः अख्रीस्तीय देशों में, जहां की संस्कृति और रीति भिन्न है, चरित्र भ्रष्ट होने की संभावना सदा बनी रहती है। उष्ण कटिबन्ध के ताप से झुलसना और प्रचार के दौरों में भोजन की कमी सहकर अपने काम में लगे रहना पड़ता है। जिन्होंने आज्ञाकारिता का पाठ पढ़ा है, जो स्वभाव के दीन हैं, जो कठिनाइयों से हंसते-हंसते लड़ने और अपने विशाल हृदय में समूचे विश्व को समेट लेने की क्षमता रखते हैं, वे ही भारत की प्राचीन भूमि में ख्रीस्त की शिक्षा का प्रचार सफलता से कर सकते हैं।

यह पत्र संत अपने आध्यात्मिक पिता तथा येसुसमाज के सर्वोच्च अधि-नायक के नाम लिख रहे थे। उनका हृदय प्रेम तथा श्रद्धा से विह्वल हो उठा। आदर और शीलतावश उन्होंने इसे घुटने टेके ही लिखना उचित समझा। अपनी जापान यात्रा की सफलता के लिए उन्होंने इनीगो से याचना की कि एक वर्ष तक संत पेत्रुस के गिरजाघर में उनके इस मनोरथ की सिद्धि के लिए मिस्सा का पूज्य वलिदान चढ़ाया जाए।

गोआ के नए अध्यक्ष अन्तोनियो गोमेज के विषय में चरित्र पारखी संत फ्रांसिस को चिन्ता होने लगी। इतने ही समय में उन्हें मालूम हो गया कि उस ऊंचे तथा उत्तरदायित्वपूर्ण पद के लिए गोमेज सर्वथा अयोग्य हैं। उन्होंने संत इनीगो से उनकी जगह दूसरे अध्यक्ष को भेजने का प्रस्ताव रक्खा। "किसी भी अध्यक्ष में विशेषतः दो गुण आवश्यक हैं, पहले तो उसमें आज्ञाकारिता कूट-कूट कर भरी हो। राजा और पवित्र गिरजा के अधिकारी उसे मदान्ध न पाएं

बल्कि दीनता की मूर्त्ति, तभी वे उसे प्यार करने लगेंगे। यह इस कारण कहता हूं कि राजा और माता गिरजा के अधिकारियों की इच्छा है कि उनकी आज्ञाओं का पालन सब प्रकार से हो। यदि हम उनकी आज्ञा का पालन करेंगे तो वे हमें प्यार की दृष्टि से देखेंगे और हमारे मंतव्य पूरे होंगे। नहीं तो, वे बहुत असंतुष्ट हो जाएंगे। दूसरा गुण यह होना चाहिए कि दूसरों के प्रति दया और धैर्य दिखलाएं। उसका व्यवहार कठोर न हो, इससे वह सबों का प्रेम-भाजन बन जाएगा, विशषतः अपने अधीनस्थों का, ये भारतीय हों चाहे यूरोपीय उन्हें यह कहने का अवसर न मिलना चाहिए कि वह डर दिखाकर अपनी आज्ञा का पालन कराना चाहता है, नहीं तो भारतीय हों चाहे यूरोपीय, सबके सब हमारा समाज छोड़ कर चले जाएंगे और बचे-खुचे ही भर्त्ती होना चाहेंगे।"

आदर्शों का संघर्ष

सन्त फ्रांसिस के यह लिखने का कारण स्पष्ट है। गोमेज से सबके सब तंग आ गए थे। अभी संत फ्रांसिस अक्टूबर के अन्त में मीन-तट से गोआ जा ही रहे थे कि कोचिन में लांसिलोट्ट से उनकी भेंट हुई। लांसिलोट्ट गोआ के सन्त पौल गुरुकुल से आ रहे थे, गोमेज के बर्त्ताव से थककर सन्त से नालिश करने। दस-ग्यारह ही दिनों में गोमेज की नीति स्पष्ट हो चुकी थी। वे यूरोप से बनी बनाई योजना लेकर भारत चले थे। नए देश की नई रीतियों के भंडार से अपने को संपन्न करने नहीं। आते ही, परिस्थितियों की जांच किए विना या किसी अनुभवी अधिकारी से सलाह लिए विना, अपनी योजना को कार्यान्वित करने में व्यस्त हो गए। दूसरों के भी विचार अच्छे हो सकते हैं, यह उनकी समझ के परे था, मानों उन्होंने सभी अच्छे विचारों का सट्टा लिखा लिया हो। गोआ में उनके पैर रखते ही कालेज के व्यवस्थापक कोस्मे नुनेस ने कालेज का सारा अधिकार उनके हाथ में सौंप दिया। गोमेज के दिमाग में पुर्त्तगाली नगर को-इम्ब्रा का सुप्रसिद्ध विद्यालय चक्कर काट रहा था, उससे बढ़कर कोई दूसरा विद्यालय खोजने से भी नहीं मिल सकता। कोइम्ब्रा ही गोआ का आदर्श हो सकता है और इसी आदर्श का अनुकरण कर गोआ का गुरुकुल सफलता के सोपान पर चढ़ सकता है।

गोमेज ने देश-काल का कोई विचार किए बिना गुरुकुल का सब कुछ इसी सांचे में ढालने के लिए कमर कस ली। कुछ ही दिनों के अन्दर उनकी इस नीति से भड़क कर लड़के दीवाल तड़प-तड़प कर भागने लगे। गोमेज को इस स्वाभाविक प्रतिक्रिया से कोई चिन्ता नहीं हुई। शायद यह भी उनकी योजना का एक अंश था। उनकी खाली जगहों को वे पुर्त्तगालियों के गौर वर्ण लड़कों से भरने लगे। नए अध्यक्ष के कौशल से सन्त पौल कोइम्ब्रा के ढांचे में ढलने लगा। अन्तोनियो के विचार में भारत स्थित येसुसमाज आत्मनिर्भर बनता जा रहा था। गोमेज की अव्यावहारिकता और उद्दंडता की हद हो गई जब उन्होंने धमकी दी कि यदि कोई उसकी नीति में हस्तक्षेप करने का दुस्साहस करे तो जंजीरों में जकड़ कर पुर्त्तगाल भेजने का अधिकार रखता हूं। १५४९ के आरम्भ में उन्होंने गास्पार वेरजे को चाले में येसुसमाजी विद्यार्थियों के लिए एक गुरुकुल का प्रबन्ध करने को भेजा। संत फ्रांसिस अभी कोचिन में ही थे। संत, वेरजे के साथ तुरन्त गोआ चले। गोआ से वे राज्यपाल से मिलने बसीन गए। जापान जाने के पूर्व वे मलुक्का में नए ख्रीस्तसेवकों को भेजने और तेरनाते में एक स्कूल खोलने का प्रबन्ध ठीक करना चाहते थे। बसीन में उन्हें मालूम हुआ कि सकोत्रा जाने की संभावना अब नहीं रही। अतः उन्होंने सिप्रियन को सांथोमि भेज दिया।

गोआ लौट कर उन्हें सन्त पौल के अधिष्ठाता की समस्या का समाधान ढूंढ़ना पड़ा। उन्होंने अन्तोनियो गोमेज को उस पद से हटाने का निर्णय कर लिया था। और उस पर गास्पार वेरजे को आसीन करना उनका संकल्प था। गोमेज के लिए उन्होंने एक नई जगह खोज निकाली थी, फारस की खाड़ी में, पुर्त्तगाली बस्ती ओरमुज़ में पुर्त्तगालियों की संख्या अधिक थी, उन्हें आध्यात्मिक नींद से जगाने के लिए गोमेज के प्रभावशाली उपदेश कामयाब होंगे। लेकिन इसकी भनक गोमेज को न जाने कैसे पहले ही मिल गई। उन्होंने शीघ्र ही दक्ष परिश्रम से राज्यपाल से लेकर सबसे छोटे पुर्त्तगाली अमला तक को अपनी तरफ मिला लिया। उधर विनम्र बेरजे भी अपनी नियुक्ति पर आपत्ति प्रकट करने लगे। इस प्रकार संत फ्रांसिस अपनी योजना को कार्य का रूप न दे सके। अतः उन्होंने विवश होकर गोमेज की जगह बेरजे को ही ओरमुज़ भेजा। लेकिन

वे किसी भी हालत में संत पौल और भारत स्थित येसुसमाजियों का शासन-सूत्र गोमेज़ के हाथ में नहीं सौंपना चाहते थे। गोमेज की नियुक्ति रोद्रिगेज़ द्वारा हुई थी। अतः सन्त फ्रांसिस उसे सन्त पौल से हटाने में असमर्थ थे। उन्होंने अपनी अनुपस्थिति में पौल कामरीनो को येसुसमाजियों का अध्यक्ष नियुक्त किया। अन्तोनियो से इतना असंतुष्ट होते हुए भी उन्होंने अभी भी उसकी काली करतूतों की पोल अपने किसी भी पत्र में नहीं खोली। हां, उनकी जगह दूसरे अधिष्टाता के लिए निवेदन अवश्य किया।

गास्पार वेरज़े और पौल कामरीनो के कंधों पर संत फ्रांसिस बहुत बड़ी जिम्मेवारी छोड़ रहे थे। इस उत्तरदायित्व का निर्वाह कुशलतापूर्वक करने के लिए दोनों को अलग-अलग लिखित परामर्श दिए। ओरमुज़ एक व्यापारिक केन्द्र था, वहां हर प्रकार के लोगों का आवागमन होता रहता था। वहां सावधानी की बड़ी आवश्यकता थी। सवों से प्रसन्नतापूर्वक सद्‌भावना और मित्रता के बिना कोई अपने काम में सफल नहीं हो सकता था। लोग एक दूसरे को भ्रम में डालने को सदा प्रयत्नशील रहते हैं। सदा सतर्क रहना चाहिए और दूसरों से वैसा ही वर्त्ताव रखना चाहिए जैसा हम उस व्यक्ति से रखते हैं जो किसी भी समय हमारा शत्रु बन सकता है। किसी को समाज में भर्त्ती करने के पहले उसकी यथोचित ज़ांच करनी चाहिए। किसी से उपहार ग्रहण कर हम अपनी स्वतंत्रता उसके हाथ वेंच देते हैं। इसलिए उपहार स्वीकार करने के पहले सोच-समझ लेना चाहिए। पाप स्वीकार सुनने और उपदेश देने में तत्परता दिखाना पुरोहितों का कर्त्तव्य है, लेकिन दूसरों की आध्यात्मिक सहायता करते समय अपनी आत्मा के कल्याण पर ध्यान नहीं देना मूर्खता ही है।

पौल कामरीनो के कंधों पर पूरब के सभी ख्रीस्त सेवकों का भार था। ऐसे पदाधिकारी को उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्त्ति बड़ी तत्परता और उदारता से करनी चाहिए। सवों के साथ प्यार से मिलना और वर्त्ताव करना चाहिए। ख्रीस्तीय प्यार सवों को गले लगाता है, उसके सामने अपने-पराए या भले-बुरे का सवाल ही नहीं आता। संत फ्रांसिस का हृदय भारत के प्रेम-पाश में बंध चुका था और वे उससे अलग हो रहे थे न जाने कब तक। उनका दिल मसोस उठा होगा, जैसे एक पिता का दिल मसोस उठता है जब वह अपने

प्रिय पुत्रों से अलग होता है। वह उन लोगों के विषय में सब कुछ जानना चाहता है। संत फ्रांसिस की भी यही दशा थी। वे अपने प्रिय पुत्रों के विषय में सब कुछ जानना चाहते थे। पौल को उन्होंने आदेश दिया कि पत्रों में अपने समाजियों को खबर बराबर लिखते रहें।

धीरे-धीरे प्रस्थान की घड़ी निकट आ रही थी। यात्रा लम्बी, अनिश्चित और खतरनाक थी, लेकिन वे अंधेरे में लाठी नहीं चला रहे थे। यात्रा की कठिनाइयों से पूर्ण परिचित थे। उन्हें मालूम था कि चीनी तट से पुर्त्तगाली भगा दिए गए हैं। लेकिन आवाहन तो उससे भी दूर से आ रहा था। चीनी समुद्र के उस पार से जापान उनको बुला रहा था। उसकी पहली पुकार सोलह मास पहले उनके कानों में पड़ी थी। अब उसे और देर तक अनसुनी करना असंभव था। उन्हें ईश्वर की दया और उनके विधान पर विश्वास था। वे सिर पर कफन बांध कर चलने को तैयार हो गए। इस समय उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा है, "ईश्वर, हमारे प्रभु चीन तथा जापान के सागरों में उठनेवाली आंधियों के स्वामी हैं.......और चूंकि प्रभु परमेश्वर सर्वशक्तिमान हैं, मुझे किसी का डर नहीं.....है तो केवल ईश्वर का।" उनकी टोली पूरी हो चुकी थी, अल्फोंसो द कास्त्रो मोराइस और फ्रांसिस गोंसाल्वेज उनके साथ तेरनाते जा रहे थे। तोरेस, धर्मबंधु जुआन फरनान्देस और मानुएल चीनी, अमादोर मलयाली, तीन जापानी और सन्त फ्रांसिस जापान के लिए प्रस्थान कर रहे थे।

आठवां परिच्छेद

जापान

अप्रैल की १५ तारीख, जिस दिन गोआ प्रभु येसु के विजय-प्रवेश का पर्व मना रहा था, येसु के प्रेमसिक्त दुखभोग तथा मृत्यु का संवाद सुनाने संत फ्रांसिस गोआ से दूर जापान जा रहे थे। बन्दरगाह पर मित्रों और समाज-बंधुओं की भीड़ लगी थी। गोआ के प्रत्येक हृदय के नायक संत फ्रांसिस अपने प्रियजनों से विदा ले रहे थे। उनकी आंखों में आंसू और मुखमंडल पर विषाद के चिह्न देख संत फ्रांसिस का हृदय भी ठंढी आहें भरने लगा। किन्तु जाना तो हर हालत में था, संदेशवाहक का काम ही है पर्यटन। वे अकेले नहीं जा रहे थे, उनके संग थे कुछ लोग, कुछ पुस्तकें और मिस्सा के पूज्य बलिदान की सामग्री। उनका संकेतमात्र पाकर संत पौल का प्रत्येक व्यक्ति उनके साथ चल पड़ता। संत भी उनको चलने से नहीं रोकते, यदि वे अपनी यात्रा के भविष्य से अवगत रहते उन्होंने अपने मित्रों को सान्त्वना दी, यदि सूर्योदय के देश जापान का वातावरण अनुकूल रहा तो आप लोगों को अवश्य और सहर्ष बुलाऊंगा। इसके बाद जहाज लहरों से खेलता क्षितिज के दामन में छिप गया।

एक सप्ताह के बाद पुनरुत्थान के पर्व दिन वे कोचिन पहुंचे। फ्रांसिस समाजियों के यहां उनका समुचित स्वागत हुआ। कप्तान और प्रमुख नागरिकों ने कास्त्रो को स्कूल संचालन के लिए वहीं छोड़ देने का उनसे अनुरोध किया। उन्हें निराश न करने के लिए संत फ्रांसिस ने उनसे कुछ और धैर्य धरने को कहा। यूरोप से ख्रीस्त सेवक आ रहे हैं, कोचिन के लिए उनमें से कोई न कोई अवश्य भेजा जाएगा।

चार दिनों के बाद संत की यात्रा फिर शुरू हुई। जहाज मालाबार तट से होता हुआ, कन्याकुमारी की बगल काटता, उत्तर-पूरब की ओर मुड़ा। शान्त समुद्र पर पुर्त्तगाली जहाज दक्ष नाविकों के कुशल संचालन में द्रुत वेग से जा रहा था। संत फ्रांसिस को इसी बंग खाड़ी की विगत यात्रा भूली नहीं थी। जहाज

का लहरों से तुमुल युद्ध और यात्रियों के भयातुर मुखमंडल पर अंकित निराशा की रेखाएं अब भी उनके स्मरणपट पर ताजी थी। लेकिन ऐसे शान्त वातावरण में आंजीरो ने अपने साथियों को आध्यात्मिक साधना देने की सोची। उसने वर्ष के आरंभ में अपने को तोरेस के निर्देशन में इस कसौटी पर कसा था। जिस उत्साह और प्रेम का संचार उसके हृदय में हुआ था, उससे वह अपने साथियों को भी अनुप्राणित करना चाहता था। तीन जापानियों की एकनिष्ठा और लगन देखकर संत फ्रांसिस दंग रह गए। ज्यों ज्यों वे प्रकाशपुंज के निकट आ रहे थे, आशारश्मि से उनका हृदय ज्योतिर्मय होता जा रहा था।

समुद्र के शान्त, नीरव गोद में सैंतीस रात बिताने के बाद जहाज मलक्का पहुंचा। इस बार न सुमात्रा के जलदस्युओं का आतंक रहा और न संकीर्ण मुहाने में जहाज के टुकड़े-टुकड़े होने का उतना डर ही। स्वागत में मलक्का तट नर-नारियों से उमड़ पड़ा था। सारा मलक्का पलक-पांवड़े बिछाए था। केवल एक व्यक्ति नहीं थे, मलक्का के पुरोहित श्रद्धेय मार्टिनेज़, वे अपने जीवन के अंतिम क्षण गिन रहे थे। अपने जीवन-ग्रंथ के उड़ते पृष्ठों को देख-देख उनका हृदय कांप रहा था मलाक्का में उन्होंने तीस वर्ष बिताए थे। इन तीस वर्षों में उन्होंने पड़ोसी तथा ईश्वर की सेवा में जो कुछ किया था उसका लेखा देने जीवनदाता के पास जा रहे थे। श्रद्धेय स्वामी मार्टिनेज़ आशा और निराशा के बीच झूल रहे थे कि सन्त फ्रांसिस उनकी मृत्यु-शैया के निकट पहुंचे। पुराने मित्रों का यह सुखद, अचानक मिलन था। सन्त की प्रार्थना और शब्दों द्वारा मार्टिनेज़ के अन्तर में मची आंधी शान्त हो गई और उन्होंने पापस्वीकार कर अपने प्रिय मित्र की गोद में ही अन्तिम सांस त्यागा।

उदार पेद्रो द गामा

मलक्का के कप्तान दौम पेद्रो द गामा, चिरविख्यात वास्को द गामा के पुत्र ने संत फ्रांसिस के स्वागत तथा सहायता में कुछ भी उठा नहीं रक्खा। वे जापानी मंडल के प्रस्थान की तैयारी में एंड़ी चोटी का पसीना एक कर रहे थे। इस विशाल हृदय, पुर्त्तगाली उदारता से प्रसन्न होकर सन्त ने पुर्त्तगाल के राजा से वास्को द गामा के इस सुपुत्र की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। येसुसमाजी पेरेज की

सफलता पर मलक्का को नाज था। उनके परिश्रम का फल सर्वत्र दिखाई दे रहा था। ओलिविएरा का स्कूल भी सुचारु रूप से चल रहा था। संत ने योहन ब्राजो नामक एक उम्मीदवार को समाज में भर्त्ती भी किया और उसके नवसिखा-वस्था के लिए कुछ सलाह लिखते गए। जून सोलह को कास्त्रो ने अपना सर्व-प्रथम पूज्य बलिदान चढ़ाया। उसकी योग्यता पर संत को अटल विश्वास था, वे उसे मलुक्का में स्कूल खोलने के लिए भेज रहे थे और बेइरा की मृत्यु की अफवाह सच निकलने पर वे मलुक्का के अध्यक्ष का भार उसी के सुपुर्द कर रहे थे। मलक्का से लिखे सभी पत्रों में वे अपने बंधुओं से अपने अधिकाधिक संदेश लिखते रहने का अनुरोध करते हैं और कहीं वे अमूल्य पत्र खो न जाएं, संत फ्रांसिस सुरक्षित रूप से उनके भेजने का तरीका भी बताते हैं।

कप्तान पेद्रो की कार्यशील उदारता से जापानी राजा के मनभावन उपहार एकत्र किए जा रहे थे। यात्रा के खर्च के लिए उन्होंने लगभग पांच टन गोल-मिर्च दिए। उनकी मुक्तहस्त दानशीलता की प्रशंसा करते संत फ्रांसिस ने पुर्त्त-गाली राजा को लिखा, "यदि हम सब उनके सहोदर भाई भी होते, तो वे हमारी सहायता इससे बढ़कर नहीं कर सकते।" राजा से उन्होंने पेद्रो को पुरष्कृत करने की याचना की। कप्तान पेद्रो संत फ्रांसिस के जापान जाने की व्यग्रता से परिचित थे। किन्तु ऐसी यात्रा का बीड़ा उठाने के लिए कोई भी पुर्त्तगाली जहाज तैयार नहीं था। पुर्त्तगाली व्यापारियों को चीन से अधिक लाभ होता था। चीन द्वारा व्यापार पर रोक लगा देने पर भी वे अवैध रूप से चीन जाते और वहां से होकर ही जापान की ओर बढ़ते थे। लेकिन संत फ्रांसिस जैसे "अधीर संत" के लिए चीन के निकटवर्ती किसी द्वीप पर अंटका रहना असह्य था। अन्ततः कप्तान के परिश्रम से आवान नामक एक चीनी व्यापारी, संत को सीधे जापान पहुंचा देने को राजी हो गया।

डाकू का साथ

उसका जहाज काफी बड़ा था और वह उन खतरनाक समुद्रों से होकर कई बार जा चुका था। लेकिन पुर्त्तगाली उसे डाकू कहते थे और उसे सदा शंका की दृष्टि से देखते थे। मलक्का में उसकी स्त्री रहती थी और उसकी संपत्ति भी

थीं। मलक्का में डाकू का जो कुछ था, सब जमानत में कप्तान द्वारा रख लिया गया कि कम से कम इनके भय से वह अपने वचन से न डिगे। कप्तान ने दोमिंगो दायस नामक एक पुर्त्तगाली को भी संत के साथ लगा दिया कि वह दुभाषिए का काम भी करता रहे और यदि किसी प्रकार की गड़बड़ी उठे तो मलक्का में सूचना दे।

प्रस्थान के पूर्व शैतान हर प्रकार से संत फ्रांसिस को अपने निश्चय से हटाने की चेष्टा करता रहा। संत ने पुर्त्तगाल ही में जापान के विषय तरह-तरह की बातें सुनी थीं जिससे किसी भी वीरात्मा के रोंगटे खड़े हो जाते। शैतान ने संत के ऊपर भी अपना पासा फेंका। लेकिन आत्माओं के इस सिद्ध जौहरी को उस दुष्ट के षडयंत्र का पता शीघ्र ही लग गया। उन्हें जैसे ही डर का थोड़ा सा आभास होता, संत इनीगो के उन वचनों का स्मरण करते, "जो येसुसमाज का सदस्य बनने की इच्छा करते हैं, उन्हें सब प्रकार से स्वयं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए और अपने हृदय से सब प्रकार का भय दूर करना चाहिए, जिससे विश्वास और प्रेमजनित भरोसा की प्रगति में किसी प्रकार की कमी आ सकती है।"

डाकू का जहाज २४ वीं जून के दोपहर को मलक्का से खुला। नाविक की निपुणता से सिंगापुर का मुहाना निरापद पार हो गया। हवा भी अनुकूल थी। ज्यों-ज्यों जहाज विस्तृत चीन सागर की ओर बढ़ता गया, नाविक बंदरगाहों पर व्यर्थ समय नष्ट करने का प्रयत्न करने लगे। संत को उनकी चाल समझते देर न लगी। इस तरह तो उस वर्ष जापान पहुंच पाना असंभव हो जाएगा। इससे उन्हें बहुत दुःख हुआ, लेकिन कर ही क्या सकते थे। सब कुछ तो डाकू के हाथ में था। संत के दुःख का एक और कारण था। ख्रीस्त की प्रेमशिक्षा से अनभिज्ञ चीनी नाविकों ने जहाज पर एक मूर्ति प्रतिष्ठित कर रक्खी थी और वे लगातार उसकी पूजा करते थे। उस मिट्टी के पुतले से वे अपनी यात्रा के विषय में पूछते और उसका उत्तर जानने के लिए चिट्ठे डालते। निरापद तथा सुगम यात्रा का उत्तर पाने पर ही जहाज खोलते।

शैतान के हथकंडे

उनकी मूर्त्तिपूजा देख संत का हृदय विह्वल हो उठता। लेकिन उस अंधविश्वास के गर्त्त में से उनका उद्धार करना असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य

था। इन सबके होते हुए भी वह जहाज जापान की ओर बढ़ा जा रहा था। इससे संत फ्रांसिस को कुछ आश्वासन अवश्य मिल रहा था। तभी कोचिन चीन के तट से जाते समय एक दुर्घटना हो गई। जुलाई की २१वीं तारीख को चीनी मानुएल आंधी की चपेट में आ जहाज के हौज में जा गिरा। उसके बचने की कोई आशा न रही। किसी तरह वह निकाला गया। अभी आंधी चल ही रही थी कि कप्तान की लड़की की बारी आई। वह समुद्र में गिर पड़ी, पिता के देखते देखते अथाह सागर ने उसे निगल लिया। कोई उसका उद्धार न कर सका। वियोग-विह्वल पिता के विलाप से सारा वायुमंडल गूंज उठा। उसके साथियों ने चिट्ठे डाले, अपने देवता से इस दुर्घटना का कारण पूछा। उत्तर प्रत्याशित था : देवता बलि खोज रहा था, इसीलिए मानुएल पहले हौज में गिरा था। वे उसको देवता की बलिवेदी से हटा लाए थे, इसलिए कप्तान की लड़की को उसकी जगह होम होना पड़ा था। संत और उनके साथियों के प्राण कच्चे धागे से झूल रहे थे। शैतान पग-पग पर उनकी यात्रा को विफल बनाने की कोशिश करता जा रहा था।

आंधी बन्द होने पर ही जहाज फिर खुल सका। वह कुछ ही दिनों में कान्तन बंदरगाह के सामनेवाले द्वीप पर जा लगा। कप्तान और नाविकों के रुख से संत फ्रांसिस को उनके रुख का पता लग गया। वे शरद उसी द्वीप पर बिताना चाहते थे। संत ने इसका जबरदस्त विरोध किया और अनुनय-विनय से हारने पर धमकी भी दी। इस बार कप्तान उनकी बात मान गया और जहाज फिर खुला। वे चांगचाउ बंदरगाह के नजदीक आए, हवा का रुख बदलने पर था। यह देख नाविक वहां रुकने की बात सोच ही रहे थे कि उन्हें खबर मिली कि चांगचाउ के बंदरगाह में जलदस्युओं के जहाज गश्त लगा रहे हैं। अब डाकू को अनिच्छापूर्वक अपना जहाज जापान की ओर बढ़ाना पड़ा। वह पीछे भी नहीं मुड़ सकता था, हवा प्रतिकूल थी। अन्त में उद्ग्रहण पर्व के दिन संत फ्रांसिस और उनके साथियों का दल कागोशिमा के बंदरगाह में उतरे। कागोशिमा पौल की नगरी थी। इसी नगर से खीस्त का दिव्य संदेश जापान के वायुमंडल में पहली बार प्रसारित होनेवाला था।

जापान की झलक

संत फ्रांसिस के लिए भारत सचमुच एक नवीन देश था, लेकिन जापान की नवीनता विलकुल अनूठी थी, गेंहुंए भारतीय चेहरों के बदले अब उन्हें पीतवर्ण जापानी मिले, गोलाकार आकृति, रक्तिम ओष्ठ और मोटी-चिपटी नाकें। तिन्नेवेली के बंजर भूभाग के बदले सुन्दर प्राकृतिक सुषमा, मालाबार के नारियल निकुंजों के बदले जापानी चेरी, और फूस की छप्परों और घास की टट्टी के बदले कागज से ढंकी दीवारें और फुलवारियों से घिरे साफ-सुथरे मकान। आरम्भ में ही संत का हृदय जापान पर मुग्ध हो गया। कुछ तो इसलिए कि पहले से उन्हें जापानी संस्कृति का ज्ञान था, और कुछ जापानियों के विश्वविख्यात अतिथि सत्कार के कारण। इस नए वातावरण से प्रभावित होकर संत फ्रांसिस ने अपने बंधुओं को पास लिखा : "अब तक जिन-जिन जातियों का पता लगा है, उनमें ये श्रेष्ठ हैं। इनका आपस का व्यवहार सराहनीय है। ये आत्मसम्मान का मूल्य भली भाँति समझते हैं और इसके लिए सर्वस्व त्यागते भी नहीं झिझकते। ये बहुत अमीर नहीं हैं लेकिन अमीर या गरीब कोई भी निर्धनता को तुच्छ नहीं समझता। ये एक दूसरे का आदर करते हैं। पुरुष अस्त्र-शस्त्र को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। अपमान इन्हें असह्य है, भोजन में ये संयमी हैं, लेकिन चावल से बनी शराब ये मजे में पीते हैं। इनमें अधिकांश पढ़ना-लिखना जानते हैं। ये केवल एक पत्नी रखते हैं और चोरी से घृणा करते हैं। मेरे विचार में जनसाधारण अपने आध्यात्मिक पिता से कम ही कुकर्म करते हैं, उन्हें ये बौंज कहते हैं। ये बौंज पुरुषगामी होते और इसे खुलेआम स्वीकार भी करते हैं। यह कुकर्म स्त्री-पुरुष सबों को विदित है; लेकिन जनता इस पर ध्यान नहीं देती। किन्तु जब लोग हमें इसकी भर्त्सना करते हुए सुनते हैं तो फूले नहीं समाते।"

पौल के यहां

बारह सप्ताह के अन्दर संत फ्रांसिस को जापानियों का इतना ज्ञान हो गया था। प्रथम दो मास तो वे पौल के यहां रहे। दिन भर दर्शकों की भीड़ लगी रहती। ये जापानी गौरवर्ण आगंतुकों को देखते नहीं ऊबते थे। और वह पौल

कितना भाग्यशाली था जो दुनिया का भ्रमण करके लौटा था। आरम्भ से ही पौल अपने कुटुम्ब को ख्रीस्त की प्रेमशिक्षा के विषय में बताने लगा। उसके मत-परिवर्तन से कोई असंतुष्ट नहीं था। वह सारे दिन उन्हें अपना नया दिव्य संदेश सुनाता रहता, जिसे फ्रांसिस और उनके दो यूरोपीय साथी इतनी दूर से सुनाने आए थे। पौल को ख्रीस्तीय धर्म का अच्छा ज्ञान हो गया था। अपनी शिक्षा तथा उदाहरण से उसने अपनी बूढ़ी माता, अपनी स्त्री, बेटी तथा अन्य संबंधियों में से बहुतों को बपतिस्मा दिलाया।

कागोशिमा जापान द्वीप-पुंज के दक्षिणी छोर पर सातसुमा प्रान्त का मुख्य नगर था। नगर के राज्यपाल ने पश्चिमी बौंजों का शानदार स्वागत किया। सातसुमा के राजा शिमाजु ताकाहिसा को जब पौल के लौटने की खबर मिली, तो उसे अपने कोकुबु के दुर्ग में बुला भेजा। कोकुबु कागोशिमा से लगभग पन्द्रह मील की दूरी पर था। राजा ने बड़े आदर से उसकी आवभगत की और पुर्त्तगालियों के विषय में हजारों प्रश्न किए। पौल अपने साथ माता मरियम और बालक येसु की एक सुन्दर प्रतिमा लेते आया था। राजा ने उसे देखते ही उठकर जापानी प्रथा के अनुसार उसकी पूजा की और अपने दरबारियों को भी ऐसा करने का आदेश दिया। जब राजा की माता को वह चित्र दिखलाया गया तो वह आनन्द-विभोर हो उठी। कुछ दिनों के बाद उसने अपने एक रईस को उस चित्र की प्रति बना लाने के लिए पौल के यहां भेजा। पर उचित सामग्री के अभाव से प्रतिकृति वैसी नहीं बन सकी।

धर्मप्रचार की अनुमति

२९वीं सितम्बर, सन्त मिकाएल के पर्व दिन संत फ्रांसिस शिमाजु दाइमियो से मिलने गए। पौल ने अपने दर्शन के समय संत की बड़ी प्रशंसा की थी और उनके इतनी दूर आने का तात्पर्य समझाया था, ख्रीस्त की प्रेमशिक्षा का प्रचार करना। शिमाजु स्वयं बौद्धमत की जैन शाखा का अनुयायी था। संत की अभिलाषा जान उसने ख्रीस्त मत के प्रसार की पूरी स्वतंत्रता दे दी। उसने उन्हें सावधान करके अपने धर्मग्रंथ को बड़े यत्न से रखने को कहा, क्योंकि यदि उनकी

शिक्षा सच निकली तो शैतान उन पुस्तकों को नष्ट करने के लिए हर तरह से कोशिश करेगा।

सातसुमा में धर्मप्रचार की अनुमति पाकर फ्रांसिस की अन्तर्ज्वाला शान्त न हुई। उनकी धारणा थी कि असली जापान वहां से अभी दूर है, असली जापान का राजा दूसरे राजाओं से कहीं अधिक शक्तिशाली है, सब दूसरे उसी के अधीनस्थ जागीरदार के समान हैं। अतएव उन्होंने कोकुबु के शासक को कभी राजा की संज्ञा नहीं दी। उनके सुनने में आया था कि मिआको ही जापान का सबसे मुख्य नगर है, कागोशिमा से करीब तीन सौ कोस पर बसा हुआ। वहां नब्बे हजार घर हैं, एक विश्वविद्यालय और दो सौ बौद्ध मठ, स्त्री-पुरुष सबको अपनी गोद में समेटे। इसी जापान के राजा से संत फ्रांसिस मिलना चाहते थे। वे इन सबसे व्यक्तिगत रूप से परिचित होना चाहते थे और शिमाज़ु इस यात्रा का प्रबन्ध करने का विश्वास दिला रहा था। उस समय उत्तर की ओर जाना असंभव था, ६ महीने के बाद हवा अनुकूल होगी, तब कहीं जहाज उधर जा सकेंगे। तब तक फ्रांसिस और उनके साथी जापानी भाषा और संस्कृति का अध्ययन करने लगे। जापान भारत से बिलकुल भिन्न था और उनके अनुभव से जापानी भारतीयों से कहीं रूपवान थे। कागोशिमा कोई पुर्त्तगाली बस्ती नहीं था और पौल तथा उसके दो जापानी साथियों को छोड़ कोई दूसरा जापानी वहां पुर्त्तगाली भाषा नहीं समझता था। पुर्त्तगालियों से दूर रहने में संत को लाभ ही दीखता था, क्योंकि वहां न पुर्त्तगालियों का बुरा उदाहरण था, न उनकी बीवियों को धर्मशिक्षा देने का सवाल। भाषा तथा संस्कृति के अध्ययन के लिए इससे बढ़कर भला कौन अवसर मिल सकता था।

बौद्ध भिक्षुओं से परिचय

पौल के जरिए संत फ्रांसिस का परिचय बौद्ध भिक्षुकों से हुआ। नगर के आसपास बहुत से मठ थे। गौतम बुद्ध द्वारा बोया बीज जापान की भूमि पर ही सबसे अधिक फूल फल रहा था। इसकी चार मुख्य शाखाएं थीं, शिगोन, जिसका आविर्भाव नवीं सदी में हुआ था; शिन, जो अपनी नम्रता के कारण सबसे अधिक लोकप्रिय था, और जिसके भिक्षुकों को वैवाहिक जीवन बिताने

की अनुमति थी; ज़ेन, जिसका आगमन बारहवीं सदी में चीन से हुआ था और जिसके सिद्धांतों में न ईश्वर, न आत्मा और न मुक्ति के लिए कोई स्थान था; और सोते, जो जैन की ही एक उपशाखा थी। संत फ्रांसिस उन बौद्धों के मठों में जाते और अपने दुभाषिए पौल के द्वारा उन भिक्षुकों से वाद-विवाद करते थे। उन भिक्षुकों में भी अन्य बौद्ध भिक्षुओं की भांति पुरुषगमन जैसे प्रकृति-विरुद्ध पाप का व्यापक प्रचार था। संत से यह नहीं देखा गया। उन्होंने उनकी चरित्र-हीनता को बड़े जोरदार और कठोर शब्दों में फटकारा, लेकिन उसका असर उन पर कुछ भी नहीं पड़ा। वे पापपंक में पड़े भिक्षुक निर्लज्ज की तरह दांत निपोड़ कर रह जाते। यह ईश्वर की कैसी बड़ी कृपा है कि उन्होंने अपनी सृष्टि चलाने-बढ़ाने के लिए संसार को नर-नारी से सम्पन्न किया है। उनके आज्ञानुसार तथा नवागत शिशु का कल्याण ध्यान में रखकर, मानव-सृष्टि का महान कार्य विवाह के पुनीत बंधन में ही यथाविधि सम्पन्न किया जा सकता है।

लेकिन यह कहना कि सभी बौद्ध भिक्षुक पाप के बंधन में जकड़े हुए थे न्यायसंगत नहीं होगा। उनमें भी कुछ चरित्रवान व्यक्ति थे, जैसे बगुलों में राजहंस। ऐसे ही एक हंस का वर्णन संत फ्रांसिस ने अपने एक पत्र में किया है। इनका नाम था निनजितसु, जो अपने सच्चरित्र, विद्वता, अनुभव तथा प्रौढ़ अवस्था के कारण सबों के आदर के भाजन थे। ये जैन शाखावलम्बी थे। आत्मा भी अमर हो सकती है, यह समझना इनकी बुद्धि के परे था। सन्त फ्रांसिस इस बूढ़े, अनुभवशील भिक्षुक से बहुत बार मिले, कुछ दिनों बाद दोनों में गाढ़ी मैत्री हो गई। दोनों धार्मिक विषयों पर घंटों वाद-विवाद करते। फ्रांसिस अपने इस मित्र को भ्रान्ति के अंधकार से निकालने की सतत् चेष्टा करते। निनजितसु को ख्रीस्त मत के सभी सिद्धांत मान्य थे, लेकिन आत्मा की अमरता का जब प्रश्न उठता, तो मानो उसकी बुद्धि कुंठित हो जाती। एक बार संत फ्रांसिस ने अपने वयोवृद्ध मित्र से पूछा, "मनुष्य के जीवन का सबसे अच्छा समय कौन है?" निनजितसु ने बेधड़क उत्तर दिया, "युवावस्था, क्योंकि उस समय मनुष्य बलिष्ठ रहता है और वह अपनी इच्छा पूरी कर सकता है।" संत ने फिर पूछा, "एक नाविक के लिए कौन-सा समय सबसे सुखकर होता है, बन्दरगाह की ओर जाना या, उससे दूर?" निनजितसु ने संत फ्रांसिस

का उद्देश्य समझते हुए कहा, "नाविक बन्दरगाह की ओर अपने को आते देखकर हर्ष से खिल उठता है, लेकिन मुझे तो मालूम ही नहीं होता कि मेरी नाव किस ओर सरक रही है, या किस प्रकार से अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता हूं।"

निनजितसु एक बड़े मठ के अध्यक्ष थे। उनके अधीनस्थ भिक्षुक वर्ष में सौ बार दो-दो घंटे ध्यान चिन्तन में लगाते। उनके इस चिन्तन का विषय रहता, शून्य। एक बार जब निनजितसु के मठ के बौद्ध भिक्षुक इसी प्रकार के चिन्तन में व्यस्त थे, संत फ्रांसिस वहां पहुंचे। भिक्षुकों को आंखें बन्द किए, ऐसे ध्यान में देख कर उन्होंने अपने मित्र से पूछा, "भिक्षुक इतनी तन्मयता से क्या कर रहे हैं?" अनुभवी वयोवृद्ध ने उत्तर दिया, "कुछ तो हिसाब लगा रहे हैं कि यजमानों से उन्हें पिछले महीने कितनी आमदनी हुई, कुछ भोजन और वस्त्र की समस्या हल करने में लगे हैं, और कुछ मनोरंजन के नए साधनों की उधेड़बुन में लीन हैं।"

निनजितसु के एक शिष्य नानजिरी नामक मठ के अध्यक्ष थे। फ्रांसिस की इनसे भी मित्रता हो गई थी। लेकिन इनको भी अज्ञान से निकालने में सन्त सफल नहीं हुए। इस विफलता का शायद मुख्य कारण था संत फ्रांसिस का जापानी भाषा का अज्ञान। जापानी भाषा के अपने ज्ञान-भंडार के विषय में सन्त ने अपने पत्र में लिखा है, "अभी हम लोग उन लोगों के बीच मूर्तिवत् खड़े रहते हैं। वे हमारी चर्चा करते हैं और हम उनकी बातें बिलकुल नहीं समझते।" संत फ्रांसिस वादविवाद अपने दुभाषिए पौल के जरिए करते थे।

पौल को ख्रीस्तीय धर्म का पर्याप्त ज्ञान था। लेकिन बौद्ध मत के सिद्धांतों से पूर्ण परिचित न होने के कारण वह उसकी शब्दावलि से अनभिज्ञ था। फल-स्वरूप वह न स्वयं बौद्ध विचारधारा को समझ पाता, न बौद्ध भिक्षुकों से ख्रीस्त सिद्धांतों की विस्तृत व्याख्या ही कर पाता था। फिर जनता और विशेषतः निपुण बौद्ध मठाध्यक्ष संत फ्रांसिस के निर्दोष, निर्मल जीवन को देख उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। जहां उनकी भाषा विफल हो जाती, वहां उनके सच्चरित्र की आभा लोगों को हृदय आलोकित करती रहती। संत फ्रांसिस की मृत्यु के बाद निनजितसु और उसके मठाध्यक्ष शिष्य ने गुप्त रीति से बपतिस्मा

पाने की अभिलाषा प्रकट की। दोनों मठाध्यक्ष थे, बौद्ध मत के आचार्य। एकाएक ख्रीस्त के अनुयायी बन जाने से कागोशिमा के मठों में खलबली मच जाती और उन्हें अध्यक्ष के पद से हाथ धोना पड़ता। अतएव वे धीरे-धीरे बौद्ध पद्धति द्वारा ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा प्रवाहित कर, अपने को ख्रीस्तीय घोषित करना चाहते थे। लेकिन यह मार्ग साधारणतः ख्रीस्तीयों के लिए अवैध है, छिप कर कोई ख्रीस्तानुयायी नहीं बना रह सकता। दुर्भाग्यवश मरने तक संत के युगुल मित्र बपतिस्मा नहीं पा सके।

गोआ को पत्र

नवम्बर के शुरू में डाकू का जहाज कागोशिमा से मलक्का जाने लगा तो वह संत के पत्र भी लेता चला। लेकिन डाकू उस पर नहीं जा रहा था। उसकी हड्डियां जापान में ही विश्राम कर रही थीं। संत ने गोआ से गास्पार बेरज़े, बालथाजार गागो, और कारवाल्यो को जापान बुलाया। उन्होंने उन्हें एक अमूल्य परामर्श भी दिया, गर्म वस्त्र लेते आने की, क्योंकि वे जापान के शीत का अनुभव कर चुके थे। उन्हें मालूम हो गया था कि सूती परिधान से जापान का जाड़ा नहीं काटा जा सकता। अपने पत्र में उन्होंने जापानियों के भोजन का भी कुछ वर्णन किया, "ये जापानी चिड़िया मार कर नहीं खाते, भात तथा गेहूं पर ही जीवन निर्वाह करते हैं। यहां सब्जियों की कमी नहीं, फल भी कुछ मिल ही जाते हैं, लेकिन ये लोग उनका कम उपयोग करते हैं। जापानियों के निरामिष भोजन का पता संत को भारत में ही लग चुका था। जब से जापान के लिए प्रस्थान किया उन्होंने भी मांस खाना बिलकुल छोड़ दिया था।

भारत से इतनी दूर, जापान की नई समस्याओं से घिरे रहने पर भी संत फ्रांसिस का हृदय गोमेज के लिए बेचैन ही था। संत पौल के उस ज्ञानी, किन्तु अभिमानी अधिष्ठाता को वे बराबर सलाह देते रहे, "प्रभु के प्रेम में आपसे मैं आग्रह करता हूं कि आप अपने समाज के भाइयों से ऐसा व्यवहार करें कि वे सब आपको हृदय से प्यार कर सकें।" गोमेज की आध्यात्मिक उन्नति की चिन्ता संत फ्रांसिस को सदा लगी रहती थी। यदि गोमेज उनकी बातों पर अमल करने लगें तो फ्रांसिस उन्हें जापान बुला भेजने को तैयार थे। गोमेज को विश्वविद्यालयों

से बड़ा प्रेम था, संत फ्रांसिस उनके इस झुकाव से परिचित थे। फलतः उन्हें मिआको तथा कुआन्तो के विश्वविद्यालयों के दर्शन करने का अवसर देना चाहते थे। लेकिन बेचारा गोमेज......

बौद्ध भिक्षुकों के संपर्क से संत फ्रांसिस को बौद्ध मत का अधिकाधिक ज्ञान होता गया। ख्रीस्त मत और बौद्ध मत के बीच का अन्तर उन्हें अलंघ्य प्रतीत हो रहा था। बौद्ध भिक्षुकों से उनकी मैत्री अवश्य थी, लेकिन उनकी शत्रुता का भी उन्हें कई बार अनुभव हो चुका था। मित्रता की राख में छिपी उनकी ईर्ष्याग्नि सुलग रही थी, शोले अवश्यंभावी थे। लेकिन सतसुमा के राजा का अनुग्रह उन पर अब तक बना था। वे उनकी सहायता करना चाहते थे क्योंकि वे इतनी दूर से आए ख्रीस्त के इन प्रचारकों की वीरता के कायल थे। जब उन्होंने देखा कि ये प्रचारक पौल के घर में रहते हैं, तो अपना एक घर उन्हें दे दिया कि वे शान्त वातावरण में अपने पंडित पौल के साथ जापानी भाषा का यथोचित अध्ययन कर सकें।

जापानी भाषा का अध्ययन

संत फ्रांसिस ने अपना पहला जापानी जाड़ा यहीं बिताया। तीनों ने बड़े ध्यान और उत्साह से जापानी सीखना आरंभ किया था। लेकिन तीनों में जुआन फेरनान्देस सबसे आगे थे। फ्रांसिस के लिए तो वह भगीरथ प्रयास ही कहा जा सकता है। वे चालीस दिनों के अनवरत परिश्रम के बाद, बड़ी कठिनाई से अनूदित दस आज्ञाओं को कंठस्थ कर सके। जापान की भाषा के अध्ययन के साथ वे पुर्त्तगाली में भी एक शिक्षा-सार लिखते जा रहे थे जिसके अनुवाद का भार पौल के कंधों पर था। पौल अनुवाद करता था और संत फ्रांसिस किसी मठ की सीढ़ियों पर बैठकर उस अनूदित भाग को उच्च स्वर में पढ़ा करते थे। कुतूहलवश यात्रियों की भीड़ इकट्ठी हो जाती। इस प्रकार संत फ्रांसिस जापानी भाषा का भी अध्ययन करते, और साथ ही उपदेश भी देते। उनके ऐसे ही उपदेशों को सुनकर एक जापानी युवक ने बपतिस्मा ग्रहण किया और अन्ततः येसुसमाज में भर्त्ती होकर सन्त के कार्यों की गवाही यूरोप में दी। उस समय से लेकर संत के जापान में रहने के अंतिम दिन तक यह भक्त युवक

बर्नर्ड, फ्रांसिस के साथ रहा। कई महीनों तक तो वह सन्त की ही कोठरी में सोया। रात को नींद में सन्त फ्रांसिस येसु का पवित्र नाम जपते-जपते कराह उठते थे। बर्नर्ड की गवाही से हम जानते हैं कि जापान में सन्त ने बहुत से रोगियों को स्वस्थ किया था।

कागोशिमा में एक और जापानी युवक ने ख्रीस्त मत स्वीकार किया था। वह समुरे जाति का मिकाएल था। मिकाएल चिकू दुर्ग का भंडारी था। वह दुर्ग कागोशिमा से उत्तर पड़ता था। ख्रीस्त शिक्षा से प्रेरित होकर मिकाएल दुर्ग लौट कर अपने सहवासियों में उसका प्रचार करने लगा। दुर्ग स्वामी को उसके इस आचरण पर जरा भी आपत्ति नहीं हुई। उनकी आज्ञा से फ्रांसिस ने दुर्ग के पन्द्रह लोगों को बपतिस्मा दिया, जिनमें दुर्ग-स्वामी की धर्मपत्नी और सुपुत्री भी थीं। लेकिन दुर्ग स्वामी ने स्वयं ख्रीस्त मत स्वीकार नहीं किया। जब फ्रांसिस कागोशिमा छोड़ रहे थे, तब अपना कोड़ा मिकाएल को देते गए, जिसे वह ख्रीस्त भक्त एक अमूल्य धरोहर की भांति बचा कर रक्खा। सन्त फ्रांसिस की मृत्यु के बाद तक मिकाएल के नेतृत्व में प्रति सप्ताह दुर्ग के ख्रीस्तीय प्रार्थना के लिए जमा होते और उसकी अनुमति से प्रत्येक व्यक्ति अपने को तीन कोड़े लगाता। तीन ही कोड़े, क्योंकि मिकाएल को डर था कि यदि उसका अधिक प्रयोग हुआ तो वह अधिक दिन नहीं चलेगा।

यहां भी निराशा

बर्नर्ड और मिकाएल सचमुच प्रशंसा के पात्र हैं। खेद, कि अन्य जापानी अधिकाधिक मात्रा में उनके पदचिह्नों पर नहीं चले। दिन बीत कर मास हो गए, लेकिन कागोशिमा के ख्रीस्तीयों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई। पौल के वर्णन से जान पड़ता है कि सन्त फ्रांसिस प्रारम्भिक सफलता देखकर सोचने लगे थे कि अब उनके वर्षों के स्वप्न साकार हो उठेंगे, लेकिन यथार्थता की चट्टान से टकरा कर वे टुकड़े-टुकड़े हो गए। भिक्षुकों की प्रचण्ड ईर्ष्या के ताप से ख्रीस्त-मत स्वीकार करनेवालों की धारा एकाएक सूख गई। सतसुमा के राजा की उदारता की कलई भी धीरे-धीरे खुलने लगी। इन आगन्तुक भिक्षुकों की शिक्षा से उसे उतना मतलब नहीं था, जितना पुर्त्तगालियों के जहाज से। उसने सोचा

था कि सन्त फ्रांसिस की मध्यस्थता के द्वारा पुर्त्तगालियों से उसकी मित्रता हो जाएगी। राजा का यह सच्चा रूप देखकर सन्त फ्रांसिस ने समस्त जापान के राजा से मिलने की लालसा पुनः प्रकट की । सतसुमा नरेश इसमें फिर टालमटोल करने लगे। शुरू में उन्होंने सन्त फ्रांसिस को इस काम में सब प्रकार की सहायता करने का वचन दिया था। तब वे कभी कहते, हवा अनुकूल नहीं है और कभी कि उत्तर में भीषण युद्ध चल रहा है, जिससे वहां तक पहुंचना कठिन है। वास्तव में राजा भी कुछ निराश हो रहे थे, क्योंकि संत फ्रांसिस न तो कोई जहाज लेकर आए थे और न निकट भविष्य में किसी पुर्त्तगाली जहाज के कागोशिमा पहुंचने की संभावना ही नजर आती थी। उधर बौद्ध भिक्षुकों का भी षड्यंत्र जारी था। कभी वे राजा को इन विदेशी भिक्षुकों को हटा देने की सलाह देते और कभी धमकी कि किसी न किसी दिन राजा पर कोई संकट अवश्य आवेगा। फ्रांसिस के सत्यप्रचार से उन बौद्धों के जीवन-निर्वाह के एकमात्र साधन पर धक्का लग रहा था।

सन्त फ्रांसिस के कागोशिमा आने के दिन से बौद्धों का प्रभुत्व क्षीण होने लगा था। तभी से ये बौद्ध इस नवागत प्रतिद्वंद्वी को दूर भगाने का अवसर खोज रहे थे। पहले तो राजा की छत्रच्छाया थी, फ्रांसिस और उनके साथियों के ऊपर। लेकिन जब बौंजों ने राजा की नीति में परिवर्त्तन देखा, तो उन्हें अपनी लक्ष्य-सिद्धि में नया उत्साह मिलने लगा। राजा के ऊपर उन्होंने पहले के समान दबाव डालना शुरू किया। वे उसे विदेशियों के विरुद्ध भड़काने लगे। उनकी सलाह का विष राजा की धमनियों में शनैः शनैः चढ़ने लगा। अब संत फ्रांसिस और उनके साथियों के लिए धर्मप्रचार करना कठिन हो गया और जापानियों के लिए ख्रीस्त मत स्वीकार करना संकटापन्न जान पड़ा, क्योंकि धर्मप्रचार का कार्य ही गैरकानूनी ठहरा दिया गया।

इतने महीनों के अथक परिश्रम से कुल सौ जापानियों ने ख्रीस्तमत स्वीकार किया था। इस पर संत को जो वेदना हुई, उसका हम अनुमान मात्र कर सकते हैं। अपने समाज बंधुओं से दूर, प्यारे परिया लोगों से अलग, शोकातुर तथा क्लान्त संत फ्रांसिस का मन तो तप ही रहा था, अब ज्वर से उनका शरीर भी

जलने लगा। जून के अन्त में ही उन्हें खबर मिली थी कि कागोशिमा से लगभग दो सौ मील उत्तर की ओर हिरादो बंदरगाह में कोई पुर्त्तगाली जहाज लगा है। यह सुनते ही संत फ्रांसिस की आंखें आशा से चमक उठीं, उस जहाज पर उनके लिए अवश्य ही भारत और यूरोप से पत्र आए होंगे। देर करने का समय नहीं था, कहीं जहाज लौट नहीं जाए, उनके पत्रों का पुलिन्दा लेकर। अतः बर्नर्ड को साथ ले वह स्थलमार्ग से जापान की गिरि-कंदराओं तथा जंगल-झाड़ियों को पार करते हिरादो की ओर बढ़े। उनके पैरों में हिरण की स्फूर्ति तो नहीं थी, लेकिन उनके हृदय में आशा-दीप अवश्य जल रहा था, जिसके तेज से उनका पथ आलोकित होता जा रहा था।

हिरादो पहुँच कर सन्त को बड़ी निराशा हुई। वे पत्रों की आशा लेकर चले थे, लेकिन वहां एक भी पत्र उनके नाम नहीं था। लेकिन पुर्त्तगालियों ने सप्रेम उनका स्वागत किया। इस स्वागत से उनकी आशा पुनः जगी और श्रद्धा के मधुर स्पन्दन से थिरक उठी। हिरादो में एक मास रहकर संत फ्रांसिस पुनः कागोशिमा चले, रहने के लिए नहीं लेकिन मलक्का से लाए उपहारों के साथ हिरादो लौटने के लिए। राजा से उन्होंने विदा मांगी, नगर के ख्रीस्तीयों को पौल के हाथ सौंपा, और वे मिआको पहुँचने की आशा से हिरादो चल पड़े।

नवां परिच्छेद

राजा के दरबार में

हिरादो तट से कुछ अलग, फ्रांसिस्को परेरा द मिरान्दा का जहाज फ्रांसिस की प्रतीक्षा में चक्कर लगा रहा था। पुर्त्तगालियों के नौ प्रभुत्व का प्रतीक, झंडियों से सजा यह जहाज एक छोटे नगर-सा सुशोभित हो रहा था। तोपें सजी थीं, संत के स्वागत में क्षितिज को प्रतिध्वनित कर देने के लिए व्यग्र, संकेत मात्र के लिए रुकीं। तब एक दिन किउशु तट के किनारे-किनारे एक छोटी नाव जल में तिरती आती दिखी। तोपों की सलामी से हिरादो का वायुमंडल गूंज उठा। संत हिरादो आ रहे थे, पुर्त्तगालियों ने उनके स्वागत में कुछ भी उठा नहीं रक्खा। वे हिरादो के शासक मतसुरा ताकानोबु को दिखा देना चाहते थे कि पुर्त्तगाली व्यापार ही करना नहीं जानते, वीरो और सन्तों का मन करना भी जानते हैं। उस स्वागत-समारोह का प्रभाव पुर्त्तगालियों की आशा के अनुकूल ही हुआ। हिरादो के शासक ने भी फ्रांसिस के स्वागत में भाग लिया। उत्सव के आवरण से ढंका उसका असली अभिप्राय सबों से छिपा रहा। उसे पुर्त्तगालियों से लाभ ही लाभ था, अतएव उनके स्वर के साथ तत्ताथेई करने में कौन-सी हानि थी? उसे न ख्रीस्तमत से कोई मतलब था, न पुर्त्तगालियों से कोई प्रेम। उसे उनके लाए सामानों की भूख थी। संत फ्रांसिस के स्वागत-समारोह में उसे सम्मिलित देख पुर्त्तगाली उसे पहचान न पाए।

किमुश के अतिथि

सन्त फ्रांसिस हिरादो में दो महीने रहे। इस अल्प अवधि में उनके और उनके साथियों के परिश्रम से सौ जापानियों ने ख्रीस्तमत स्वीकार किया। फ्रांसिस का कार्यक्रम यहां भी कागोशिमा की तरह रहा। धर्म-शिक्षा का वही ढंग, अपनी पुस्तिका में से पढ़-पढ़कर लोगों को सुनाना और जुआन फरनान्देस

से भी यही कराना। हिरादो के नव ख्रीस्तीयों में किमुरा नामक एक सज्जन थे। इन्होंने संत का अतिथि-सत्कार ही नहीं किया, उनको अपने यहां दो महीनों तक रक्खा भी। इन्हीं के वंशज लेवनार्द किमुरा ने गिरजा तथा सारे जापान का नाम ऊंचा कर दिया है अपने प्राण का बलि देकर। प्रथम किमुरा के इस सुयोग्य पौत्र ने येसुसमाज का धर्मबंधु बन कर अपनी शहादत द्वारा अनुपम वीरता तथा भक्ति का प्रमाण दिया।

संत फ्रांसिस हिरादो रहने नहीं आए थे; हिरादो तो एक मुकाम था, जापान के नरेश से मिलने जाने के मार्ग में। जापान के अन्य शासकों से ख्रीस्तमत के विस्तार की जो स्वतंत्रता मिल सकती थी, वह निश्चित और निरापद नहीं थी, इसका भान उन्हें कागोशिमा में ही मिल चुका था। यदि समस्त जापान का नरेश उन्हें यह स्वतंत्रता दे दे, तो भला कौन यह अधिकार उनसे छीनने का साहस करेगा। संत की यही धारणा थी। यदि वे उस राजदरबार तक पहुंच पाते तो राजा को मुग्ध करना कोई बड़ी बात नहीं होती। उपहारों पर वे लट्टू हो जाएंगे और मुंहमांगा इनाम देने को तैयार। अतः हिरादो के नव-ख्रीस्तीयों को तोरेज की देखरेख में छोड़ वे जुआन और विश्वस्त बर्नर्ड के साथ सम्राट् के दरबार की ओर रवाना हो गए।

पांच सौ मील की यात्रा फ्रांसिस जैसे विश्वयात्री के लिए कोई अनोखी बात नहीं थी, उस सोलहवीं सदी में भी। फिर भी संत की सभी यात्राओं में यह कठिन सिद्ध हुई। अब तक उन्हें लहरों से लड़ना पड़ा था, किन्तु सर्दी से यह उनकी पहली मठभेड़ थी। जापान की सर्दी विख्यात है और ऐसी सर्दी के साथ उन्हें लोगों के सर्द दिलों का भी मुकाबला करना पड़ा। जापान की तत्कालीन स्थिति डांवाडोल थी। डाकुओं के जत्थों से कहीं भी पाला पड़ सकता था और उनसे किसी भी यात्री के प्राण बचने की आशा नहीं रहती थी। यह केवल वीरान सड़कों की बात नहीं थी। नगर और सरायों में भी उन पर बच्चों और वयस्कों का आक्रमण हो सकता था। इतिहास के पन्नों पर जापान के अतिथि-सत्कार का वर्णन स्वर्णाक्षरों में लिखा गया है, वही हमारे यात्रियों के प्रति इतना निष्ठुर हो जाएगा, विश्वास नहीं होता। लेकिन सत्य बड़ा निर्मम होता है, वह अपवाद ही क्यों न हो।

अक्टूबर के अन्त में संत फ्रांसिस जहाज से उतर कर उत्तर-पूरब की ओर चले। आसपास के सभी समुद्रों में डाकुओं का उत्पात हो रहा था। किसी भी नाव को देख कर जहाज के सब यात्री जहाज की तल्ली में जा छिपते और यही मनाते कि उन उपद्रवियों की नजर उनके जहाज पर न पड़े, नहीं तो असबाव और जान से भी हाथ धो बैठना पड़ेगा। ऐसे आतंकजनक परिस्थिति में भी सन्त का यह सुनहला स्वप्न नहीं भंग हुआ : मिआको समस्त जापान की राजधानी, जहां के राजा के अधीन सारा जापान था, जिसके एक इशारे पर सबके सब शासक फ्रांसिस की सहायता करने दौड़ पड़ते। यदि वह नरेश ख्रीस्तीय वन जाए, तो सारा जापान ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा स्वीकार कर लेगा। प्राची का यह देश सच्चा ज्ञान-प्रकाश पा जाएगा। अपनी आत्मा की अमरता को पहचान सकेगा, मुक्ति के खुले द्वार से प्रविष्ट हो सकेगा। तब सतसुमा के राजा की एक न चल पाएगी, न उसके राज्य के बौद्ध भिक्षु कोई वाधा डाल सकेंगे। तब ख्रीस्त मत के विस्तार पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं रह सकेगा। इन विचारों से सन्त फ्रांसिस को पूरी यात्रा भर आंतरिक उत्साह मिलता रहा।

दुराचारी साधु

दो दिनों की आतंकमयी यात्रा के वाद वे हकाता पहुंचे। इस व्यापार-केन्द्र में एक विशाल बौद्धमठ था, जहां भिक्षुकों के साथ बहुत से लड़के भी रहा करते थे। ये उन दुराचारी भिक्षुकों के विलास के साधन थे। जव उन भिक्षुकों को पता चला कि एक गौरवर्ण भिक्षुक भारत से आए हैं, गौतमवुद्ध की जन्मभूमि से, तव उन्होंने उन्हें अपने मठ में बुलाकर उनका बड़ा सम्मान किया। मठाध्यक्ष के आज्ञानुसार उनके सामने फलों की थाली रक्खी गई। संत को उनके विलास-पूर्ण आचरण का पता पहले ही चल गया था। उस पापमय मठ का आतिथ्य उन्हें कैसे स्वीकार हो सकता था। उन दुराचारी साधुओं के साथ दयाभाव दिखाना उन्हें पाप में फंसे रहने और लोगों को ठगते जाने में प्रोत्साहन देना होगा। मठ में पैर रखते ही उन्होंने उन भिक्षुओं की कड़ी भर्त्सना शुरू की। कुछ ही समय के बाद मठाध्यक्ष और मठवासियों को विस्मित और आश्चर्य-

चकित छोड़, वे अपने पैरों की धूल झाड़ कर वहां से निकल आए। निराश्रय, अनजान प्रदेश की सर्दी उन्हें स्वीकार थी, लेकिन पाप के दुर्गन्धपूर्ण मठ का आतिथ्य नहीं।

हकाता की सड़कों पर हड़कंप ठंढ पड़ रही थी। संत का अंग अंग सर्दी से अकड़ रहा था, लेकिन उनकी आत्मा तरंगविहीन सागर के समान शान्त थी, इसका प्रतिबिम्ब उनके चेहरे पर भी स्पष्ट दिखाई देता था। उनका प्रसन्न मुख देखकर उनके साथी अपने दुःख भूल जाते थे। कैसे व्यक्ति थे, ये जो इतनी यंत्रणाओं से गुजरते हुए भी ईश्वर में इस प्रकार तन्मय रहते कि प्रकृति के प्रकोप से भी उनकी समाधि भंग नहीं होती थी।

हिरादो से जो सामान फ्रांसिस और उनके साथी लेकर चले थे, वे सब दो थैलों में अंट गए थे। एक उत्तरीय,तीन-चार कमीज और एक फटी रजाई, तीन आदमियों के लिए ये ही सामान थे। जापान में तो सराय करीव हर गांव में और नगर में मिलती थी लेकिन उनमें जाड़े से बचने का बहुत कम प्रबंध रहता था। खाट तो देखने को भी नहीं मिलती थी और यदि चटाई मिल गई तो अहोभाग्य था। धनिकों की तो कुछ खातिर भी होती, लेकिन गरीब यात्रियों को शायद ही कोई पूछता। सूजे पैरों से लंगड़ाते, फटे कपड़े पहने वे किसी सराय में प्रवेश करते, तो मालिक उनकी गरीवी देख उन्हें जगह भी नहीं देना चाहता। उन सरायों में भोजन का अभाव रहता है, बर्नर्ड यह जानता था। इसलिए हिरादो से चलते समय वह झोली में लाई लेते आया था। यही खाकर वे किसी तरह पेट की क्षुधा शान्त कर लेते। सरायों में उनकी शीलता और शालीनता देखकर सब यात्री भौंचक रह जाते। यही बात उनके भोजन करते या वार्त्तालाप करते समय भी होती। वे सदा ईश्वर में तन्मय दीखते। सरायों के मालिक की कृपा रहती तो उन्हें आश्रय मिल जाता और शरीर की थकावट मिटाने के लिए एक चटाई, भोजन के लिए भात और सूखी मछली, भूनी या उवाली सब्जियों का थोड़ा शोरबा। शोरबा तो ऐसा रहता, कि जिन्हें उसकी आदत नहीं रहती, वे नाक बंद करके ही उसे पी सकते थे। संत के लिए भात और वह बदबूदार शोरबा ही पर्याप्त था। फ्रांसिस जानते थे कि बौद्ध अहिंसावादी होते हैं। लेकिन उन्होंने बार-बार देखा, यह ढकोसला मात्र है।

बौद्ध भिक्षुक छिप-छिपकर मछली खाया करते थे। कहीं-कहीं किसी मत के अनुसार मछली खाने पर मनाही नहीं थी और इसी मछली के बहाने कितने बौद्ध मांस भी निगल जाते थे। जापान पहुंचते ही संत फ्रांसिस ने मांस-मछली खाना छोड़ दिया था। फिर भी यदि किसी सराय में कोई रसोइया मांस मछली परोस देता, तो फ्रांसिस ईश्वर को धन्यवाद देते, जिन्होंने मनुष्य के लिए सब अच्छी चीजों की सृष्टि की है। मनुष्य इस संसार का मालिक है, क्योंकि ईश्वर ने से सब प्राणियों से श्रेष्ठ बनाया है। संसार की सभी चीजें उसकी सेवा के लिए बनी हैं और वह स्वयं ईश्वर की सेवा के लिए। जहां तक ये चीजें मनुष्य को उसके सृष्टिकर्त्ता से विमुख नहीं करतीं, उनका सेवन या उपयोग वैध है। स्वास्थ्य के लिए या अपनी रुचि के अनुसार मांस-मछली का सेवन करना किसी भी हालत में पापपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता।

जापान की ठंढ में ठिठुरती संत फ्रांसिस की मंडली हकाता में ६ दिन रहकर स्थल मार्ग से मोजी बंदर की ओर बढ़ी, और मुहाना पार कर शिमोनोसेकी उतरी। वहां से यामागुची करीब तीस मील था। यामागुची एक बड़ा नगर था और वहां से मिआको जाने का, प्रबंध हो सकता था। इधर भी रास्ते में डाकुओं का भय लगा रहता था, जो हथियारों से लैस निहत्थे यात्रियों पर आक्रमण कर उनका सामान छीन और उन्हें अधमरा छोड़ भाग जाते। लेकिन संत फ्रांसिस के पास कोई मूल्यवान वस्तु नहीं थी। वे अभी केवल अन्वेषक बनकर मिआको जा रहे थे। वे मलक्का से लाए उपहार हिरादो में ही छोड़ आए थे, यहां तक कि मिस्सा चढ़ाने की सामग्री भी उनके पास नहीं थी। ईश्वर की कृपा से वे सब यामागुची में सुरक्षित पहुंच गए।

यामागुची

यामागुची एक समृद्धिशाली नगर था,विलासों और रंगरेलियों का नगर। सारे जापान में इससे वैभवशाली था तो केवल मिआको। यहां के दस हजार घर और सौ मंदिर तथा मठ देखकर राजा ऊची योशिताका की छाती हर्ष और अभिमान से फूल उठती थी। इस विलास और ऐश्वर्य की नगरी में पहुंच कर संत फ्रांसिस एक भठियारे के यहां उतरे। उसका नाम था उचीदा। उस भठियारे

के घर कुछ दिन टिक जाना संत ने अच्छा समझा। मिआको की ओर निहत्था वढ़ना मूर्खता की पराकाष्ठा ही होती। फलतः फ्रांसिस मिआको जाते हुए किसी प्रतिरक्षक यात्री दल की खोज में लगे रहे और फेरनान्देस के संग ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा लोगों को सुनाते रहे। वे किसी चौराहे पर खड़े हो अपनी पुस्तिका से पढ़ पढ़कर लोगों को उपदेश देते। कुछ ही समय में भीड़ जमा हो जाती। श्रोताओं में कुछ ध्यान से सुनते, कुछ सुनकर हंसते, ठहाका मारते और अधिकांश उन विदेशी यात्रियों की खिल्ली उड़ाते। किन्तु सन्त का उपदेश वन्द नहीं होता। श्रोताओं के अशिष्ट व्यवहार देख वे भी कठोर और जोरदार शब्दों में जापान के प्रचलित पापों की घोर निन्दा करते। जब फेरनान्दस जापानी भाषा में उपदेश करते, सन्त अपने श्रोताओं के लिए प्रार्थना करते कि वे दिव्य संदेश सुनकर अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करें और ख्रीस्त की प्रेम शिक्षा को स्वीकार कर बपतिस्मा ग्रहण करें। वे उपदेशक प्रति दिन एक जगह से दूसरी जगह जाते। कुछ ही दिनों में यामागुची की कोई भी सड़क नहीं, जहां उन्होंने ख्रीस्त का दिव्य संदेश नहीं सुनाया हो। सुननेवालों में कतिपय अच्छे स्वभाव के भी थे जो उनकी बातें बड़े ध्यान से सुनते और उनके विषय में कुछ और जानने के लिए उन्हें अपने घर आमंत्रित करते। कुछ ऐसे भी थे जो केवल मजाक के लिए उन्हें अपने यहां बुलाते।

ऐसे ही एक वार एक धनी का संत फ्रांसिस को निमंत्रण मिला। उन्होंने फेरनान्देस को दूतों के पतन का विवरण पढ़ने को कहा और इसके बाद घमंड जैसे दुर्गुण पर उपदेश देने को कहा। उस उपदेश को सुनकर घर का मालिक इतना रंज हुआ कि क्रोध और अविश्वास को छिपाए विना अपने मेहमानों की ओर लपका, किन्तु फ्रांसिस उससे डरनेवाले नहीं थे। उन्होंने आंख में आंख मिलाकर उसको दीन और विनम्र वनने का आदेश दिया और पैर झाड़ कर बाहर चले गए। मुंह से एक आह निकल आई।

यामागुची में सर्वप्रथम ऊचीदा और उसकी धर्मपत्नी ने ख्रीस्त मत स्वीकार किया। तब एक दिन राजा योशिताका का अर्दली राज दरबार में हाजिर होने की आज्ञा सुना गया। अब तक फ्रांसिस को धर्मप्रचार की अनुमति नहीं मिली थी। निर्धारित दिन संत फ्रांसिस और जुआन फेरनान्देस राजदरबार में हाजिर

हुए। राजा के सामने आते ही उन्होंने जापानी प्रथा के अनुसार, घुटने के बल, दो वार भूमि को सिर से छूकर प्रणाम किया। राजदरवार में केवल तीन ही व्यक्ति थे, राजा योशिताका, उसका प्रमुख बोजु और वह अर्दली, जो राजा का फरमान लेकर संत फ्रांसिस के पास गया था। लेकिन सूने राजदरवार की दीर्घाओं तथा अगल-वगल की कोठरियों में लोग भरे थे। वार्त्तालाप सुनने को सव उत्सुक थे। वास्तव में यामागुची के राजा ही जापान के सबसे शक्तिशाली नरेश थे। लेकिन फ्रांसिस यह मानने को तैयार न थे। उनकी आंखें भिक्षुओं पर लगी थीं। राजा ने अपने मेहमानों का समुचित स्वागत करते हुए उनकी यात्रा के विषय में पूछा। भारत और यूरोप के विषय में उन्होंने अनेक प्रश्न किए। इस प्रारंभिक भूमिका के वाद धर्म की चर्चा छिड़ी।

राजा को विश्वास नहीं हो रहा था कि कोई इतनी कठिनाइयों का सामना कर, इतनी दूर केवल धर्म-शिक्षा का प्रचार करने के लिए आ सकता है। सन्त ने उसको यह विश्वास दिलाने के लिए फेरनान्देस की ओर देखा। फेरनान्दस ने संकेत पाकर अपनी पुस्तिका निकाली तथा अंधविश्वास की बुराइयों का उल्लेख किया और अन्त में जापान में प्रचलित पुंसंभोग की जघन्यता की भर्त्सना की। अपनी पुस्तक में सन्त फ्रांसिस ने लिखा था, जो आदमी इस पाप में गिरता है वह गंदे जानवरों से भी पतित होता है, क्योंकि बुद्धिहीन जानवर भी ऐसा नहीं करते। यह सुनकर राजा योशिताका के चेहरे का रंग उड़ गया, क्योंकि शाही परिवार भी इस घोर पाप से अछूता नहीं था। क्रोध और लज्जा के मारे राजा के मुंह से एक शब्द भी नहीं निकल सका। अर्दली ने संकेत किया और उन प्रचारकोंको राजदरबार से बाहर निकलना पड़ा। निस्संदेह संत फ्रांसिस के शब्द कठोर थे, लेकिन यह पाप भी तो ऐसा है जिसकी भर्त्सना कभी पर्याप्त नहीं हो सकती। संत उस व्यक्ति से क्रोध या घृणा नहीं करते थे, जो दुर्भाग्यवश ऐसे पाप से आबद्ध था, लेकिन वे उस पाप को वर्दाश्त नहीं कर सकते थे जिसके कारण सोदोम और गोमोरा को भस्मसात् होना पड़ा था। पापी के लिए संत फ्रांसिस के हृदय में दया और सहानुभूति थी, वे पापी को ऐसे भयंकर दलदल से निकाल उसे पवित्र गिरजा के मातृ अंक में सुरक्षित कर देना चाहते थे।

संत फ्रांसिस ने केवल यामागुची के राजा के प्रति ऐसी निर्भीकता नहीं दिखलाई। जिस किसी में यह दुर्गुण होता, वह राजा हो या रंक, उसे संत के कठोर वचन सुनने पड़ते। इस कारण अनेक बार उन्हें अपने श्रोताओं की गालियां और धमकियां सुननी पड़ीं, लेकिन संत का रुख ज्यों का त्यों वना रहा। जव कभी कोई अपने कुकर्मों के पक्ष में वड़े शब्दों का प्रयोग करता, तव फ्रांसिस जुआन फेरनान्देस को भी उसी कर्कशता के साथ उत्तर देने को कहते। ऐसी हालत में ईंट का जवाव पत्थर से ही देना ठीक जंचता, यद्यपि ऐसा करना मृत्यु को ललकारना था। कितनी वार तो वेचारे फरनान्दस भय से कांप उठते, लेकिन सन्त अपनी नीति नहीं वदलते। जापानियों के हृदय में अपने वौंजों के प्रति जैसी श्रद्धा थी, वह सन्त फ्रांसिस भली भांति जानते थे। उनकी धारणा ही नहीं, दृढ़ विश्वास था कि जव जापानी ख्रीस्त सेवकों का आदर अपने कुकर्मी वौंजों से अधिक करना नहीं सीखेंगे, तव तक ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा जापान की भूमि में जड़ नहीं पकड़ सकेगी। ऐसे शुभ कार्य में यदि प्राण भी चले जाएं तो सौभाग्य ही होगा।

सफलता नहीं मुस्कुराई

जान पर खेल कर भी परिश्रम करने के वाद जापान में सफलता नहीं मुस्कुराई। विलास और वैभव के उस नगर में पुण्य और तप के लिए जगह नहीं थी। फ्रांसिस मिआको जाने के लिए व्यग्र हो उठे, उनका स्वप्न अभी अधूरा जो था। उन्होंने अपनी आंखें उगते सूर्य की ओर उठाईं, प्राची का आकाश आशा रश्मि से रंजित था। मिआको संपूर्ण जापान की राजधानी थी, मिआको का सूर्यवंशी राजा समस्त जापान का राजा था। उसी से ख्रीस्त मत के प्रचार की अनुमति संत फ्रांसिस मांगना चाहते थे। ख्रीस्त जयन्ती से एक सप्ताह पहले अपने दो साथियों के संग फ्रांसिस अपना बचा खुचा सामान लेकर मिआको की ओर चले। यामागुची और मिआको के वीच दो सौ मील का फैसला था और सवसे निकट वंदरगाह इवाकूमी वहां से चालीस मील था। दिसम्वर की सर्द में जब वर्फ घुटनों तक लगी थी, सूती वस्त्र पहने और न्यूनतम भोजन पर ही आशावादी फ्रांसिस नदी-नालों को लांघते नंगे पैर इवाकूमी की ओर लपके।

शीत में दिन भर चलने से उनके पांव फट गए थे, तलवों से खून बहने लगता था। फिर भी फ्रांसिस बढ़े जा रहे थे, प्रभु के ध्यान में मग्न, उन्हीं ख्रीस्त के पदचिह्नों के अनुगामी जिन्होंने क्रूस की बलिवेदी पर अपने प्रेम का प्रमाण दिया था।

दिन भर की यात्रा के बाद वे किसी सराय में रुकते तो सोने के लिए चटाई और काठ का टुकड़ा मिलता। फ्रांसिस बहुधा चटाई को ऊपर से ओढ़ लेते। किसी तरह यह दूरी तय कर ख्रीस्त के वीर इवाकूमी से जहाज द्वारा मियानीमा के लिए रवाना हुए। जहाज पर यात्रा कुछ आसान और सुखद हो सकती, लेकिन खुले जापानी सागर में बर्फीली हवा की मार चेहरे पर चाबुक की तरह पड़ती थी। सहयात्रियों का अमानुषिक व्यवहार तो उससे भी अधिक चुभता था। युवक व्यापारियों की नजर में ये लोग पशुओं से भी गए-गुजरे थे। एक व्यापारी ने उन्हें मसखरा समझ कर उनकी हंसी उड़ाना शुरू किया। उसकी चंचल प्रकृति के कठोर प्रहार सहते-सहते फ्रांसिस ने उसे एक बार कह ही दिया, तुम मुझसे ऐसा बर्त्ताव क्यों करते हो, जब मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति ऐसा प्रेम है कि मैं तुम्हें मुक्ति का सच्चा मार्ग दिखलाने के लिए उत्सुक हूं।

जहाज जापान सागर में बिखरे असंख्य छोटे-छोटे द्वीपों से कतराता आगे बढ़ता जा रहा था, जैसे कमल से भरे सरोवर में कोई राजहंस। कहीं-कहीं वह ठहर भी जाता था। तोमोत्सु द्वीप में जब जहाज रुका, तब एक बौद्ध ने यह सुनकर कि संत फ्रांसिस गौतम बुद्ध की जन्मभूमि से आ रहे हैं, अपने किसी सिकाई निवासी मित्र के नाम एक पत्र दिया। उस पत्र में उसने अपने मित्र से इन तीन यात्रियों को मिआको पहुंचने में सहायता करने को लिखा था। सकाई से बहुत से रईस मिआको जाया करते थे, उनके नौकर-चाकर, प्रतिरक्षक आदि के साथ रहते थे। उनकी संगति में संत फ्रांसिस को किसी प्रकार का डर नहीं होगा।

सकाई में

सकाई हमारे तीन यात्रियों की ओर हाथ पसारे नहीं दौड़ा। यह जापानी नगर था, ऐश्वर्य से भरा। जहां धन कमाने की धुन में साठ हजार निवासी दिन रात एक कर रहे थे, वहां इन गरीब यात्रियों को भला कौन पूछता। वे दिन भर गलियों में पत्र लिए भटकते रहे। उन्हें पाकर नगर के बच्चों को मनोरंजन का

साधन अवश्य मिल गया। बड़ों का सह पाते ही वे हाथ में ईंट लेकर उनके पीछे दौड़ने लगे। जान की खैर मनाते-मनाते संत फ्रांसिस और उनके साथी नगर के बाहर भागे। संध्या हो गई थी, देवदारु के वन में उन्होंने दुष्ट बच्चों से बचकर रात काटी। वे दूसरे दिन सूर्य निकलते ही अपने मित्र की खोज में निकले और भाग्यवश बच्चों की टोली से मुठभेड़ होन के पहले ही उस मित्र का पता लग गया। उनका नाम था कूदो। इस सज्जन ने जापान के परम्परागत अतिथि सत्कार के अनुसार अपने मेहमानों का सप्रेम स्वागत किया। कूदो के सुनने में आया कि सकाई से कोई रईस अपनी पालकी पर तुरंत मिआको के लिए रवाना होनेवाला है। उसकी रक्षा के लिए हथियारों से लैस कुछ सिपाही भी जा रहे हैं। इन अंगरक्षकों के बिना मिआको पहुंचना असंभव है। कूदो ने अपने मित्र के अनुरोध के अनुसार फ्रांसिस और उनके साथियों को उस रईस के साथ लगा दिया। फ्रांसिस को अपना अधिक सामान तो था नहीं, रास्ते भर वे अपने रक्षक रईस की गठरी ढोते चले। जनवरी की दांत कटकटानेवाली सर्दी पड़ रही थी, संत के नंगे पैर उस ठंढ में फट रहे थे, लेकिन उनके मुखमंडल पर प्रसन्नता विराज रही थी। आनन्द और उत्साह से स्यामी टोपी पहने, बच्चों की तरह उछलते-कूदते, वे आगे बढ़ रहे थे। कभी वे अपनी टोपी ऊपर उछालते, कभी जेब से सेब निकाल कर ऊपर फेंकते। कठिनाइयां मानों लाख चेष्टा करके उन्हें हताश नहीं कर सकती थीं। उनका आनन्द कोई नहीं छीन सकता था। उनका अधूरा स्वप्न अब पूरा होने जा रहा था, ऊषा की स्वर्णिम किरणों के साथ, ऐसा उनका विश्वास था। हां, ऊषा आएगी और उनको जगा जाएगी लेकिन निराश ही करने के लिए।

जापान के राजा तेन्नो, स्वर्गपुत्र की राजधानी मिआको, आधुनिक किओटो की ही नींव पर आज से चार सौ बरस पहले खड़ी थी। इससे तीन मील अलग हिएइज्ञान पहाड़ी पर उसी नाम का एक विश्वविद्यालय था। यह हिएइज्ञान विश्वविद्यालय जापान के सभी विश्वविद्यालयों में प्रमुख था। इसी की प्रशंसा सन्त फ्रांसिस ने मिआको और वान्दु के मठ में भिक्षुकों के मुख से सुनी थी। उसी दिन से उनके हृदय में एक अदम्य जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी। उस विद्यालय को वे अपनी आंखों देखना चाहते थे और अपने इस काम में सफल हुए तो अन्तो-

नियो मोमेज को अवश्य वहां बुलाएंगे, बशर्ते की वह सन्त फ्रांसिस के आदेशानुसार अपनी आत्मा की देखरेख करता रहे। लेकिन ऐसा होने को नहीं था। यदि अन्तोनियो वहां पहुंच पाता, तो उसे वही निराशा होती, जैसे फ्रांसिस को हुई थी। अन्तोनियो के कोईम्ब्रा से हिएइज़ान का विद्यालय बहुत भिन्न था। जापान के विश्वविद्यालय सर्वप्रथम मठ थे, जहां नए और पुराने भिक्षुक शिक्षण ग्रहण करने आते थे। वहां न पेरिस के विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान थे, न अमूल्य ग्रन्थों से भरा पुस्तकालय। और वे भिक्षुक पेरिस के विद्यार्थियों की भांति शिक्षा के भूखे भी नहीं थे। उन्हें द्रव्य की भूख थी, जिसके कारण समस्त मिआको उनसे घृणा करता था। संसार के सुखों को उन्होंने नाममात्र को ही त्यागा था। मठ की चहारदीवारी के अन्दर उन्हें विलास के सभी साधन उपस्थित थे। वे धन प्राप्त करने के लिए अपनी पहाड़ी से उतर कर नगर में आया करते थे, लुटेरों के समान शस्त्र से लैस। उनकी इस अराजकता से मिआको नगर को बड़ी क्षति उठानी पड़ती थी, नगर के काले-कलूटे खंभे उनकी बर्बरता के साक्षी थे।

हिएइज़ान मठ

मिआको में सन्त फ्रांसिस और उनके साथी एक कोनिशी रिउसा के घर उतरे। ये सज्जन सकाई के कूदो के मित्र थे। लेकिन वहां से हिएइज़ान के मठ के दर्शन करना मुश्किल था। दर्शनार्थी साधारणतः मठ के निकटवर्ती नगर साकामोतो में ठहरा करते थे। वहां से मठ में प्रवेश करना आसान था। साका-मोतो में कोशिनी के जमाता रहते थे, जो संत फ्रांसिस के लिए सारा प्रबन्ध कर सकते थे। उन्हीं की सहायता से संत फ्रांसिस और उनके साथी मठ के पासवाली बिवा झील के तट पर बैठे मठ के द्वार खुलने की प्रतीक्षा कर रहे थे। लेकिन हिएइज़ान का द्वार गरीबों के लिए नहीं खुलता था, और उस भिखमंगे के लिए तो कदापि नहीं, जिसके हाथ में भिक्षुकों के लिए कोई उपहार नहीं थे। उसके तो कपड़े भी अच्छे नहीं थे, फटे-पुराने कपड़े पहने, हाथ में किताबों की झोली लेकर मठ में प्रवेश पाना असम्भव था। एकाएक सन्त फ्रांसिस की नींद टूटी, अब तक निर्धन जीवन बिताने में उन्हें आनन्द मिलता था, लेकिन हिएइज़ान की सीढ़ियों पर भीखमंगे के समान बैठे उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। यदि जापान के मठ

केवल शाही पोशाक में आए दर्शनार्थी के लिए ही अपने किवाड़ खोलते तो वे महाराजा की तरह रेशम पहने और आभूषणों से लदे आएंगे।

वे हिएइज़ान में निराश होकर स्वर्गपुत्र सूर्यवंशी से मिलने मिआको लौटे। यहां भी उन्हें उसी तरह निराशा हुई। जापान का यह पौराणिक नरेश केवल नाममात्र का राजा था। शासन की बागडोर राजा के पतन के बाद मिआको के शोगुन के हाथ में चली गई थी, लेकिन बौद्ध भिक्षुओं के चलते वहां भी अधिक दिन नहीं टिक सकी। जापान के शासक अब मिआको में नहीं, यामागुची, कागोशिमा आदि नगरों में रहते थे और विश्वविख्यात मिकादो शासनसूत्र संभालने के बदले आटे-दाल की समस्या हल करने में व्यस्त था। संत ने उससे मिलने की अनेकों बार चेष्टा की, लेकिन सब व्यर्थ सिद्ध हुआ। जापान के नरेश द्वार खोल अपनी दरिद्रता और शक्तिहीनता उसी के सामने व्यक्त करने को तैयार थे, जो उसे दूर करने में उनकी सहायता करने को तैयार हो। संत फ्रांसिस ने अपने उपहारों का वर्णन उनके पास भेजा, फिर भी द्वार नहीं खुला। और अच्छा ही हुआ कि उनके उपहार हिरादो में सुरक्षित पड़े थे, नहीं तो वे हाथ से निकल जाते और तेन्नो द्वारा दी गई अनुमति का सम्मान उतना ही होता, जितना उस कठपुतले नरेश का होता था।

मिआको में ग्यारह दिन रहकर संत फ्रांसिस ने यामागुची लौटने की सोची। इस बार वे स्थल मार्ग छोड़कर सेतगावा नदी से जाना चाहते थे। ग्यारह ही दिनों में लोगों को संत फ्रांसिस की भक्ति और ईशप्रेम का पता लग गया था। मिआको से चलते समय संत फ्रांसिस ने अपने साथ कुछ सूखे फल खरीदते चले। रास्ते में वे लड़कों को बांटते जाते थे। स्त्रियां अपने बीमार बच्चों को उनके पास लातीं और संत उन्हें सुसमाचार से उद्धृत कोई अमर बोल लिखकर देते। स्त्रियां उन्हें अपने पुत्रों के गले में पहना देतीं।

संत फ्रांसिस जनवरी महीने में अपने दो साथियों के संग एक खुली नाव में ओसाका की ओर जा रहे थे। सकाई में उन्होंने अपने मित्र कूदो को नमस्कार कर उससे विदा ली। और १५५१ के मार्च महीने के प्रारम्भ में हिरादो पहुंच गए। तोरेस के आनन्द और आश्चर्य की सीमा न रही, उनके प्यारे स्वामी फ्रांसिस मिआको के राजा के दरबार में सुरक्षित लौट आए थे। शायद वे सोच

रहे थे, अब किसी का डर नहीं, अब तो सारा जापान प्रभु के प्रेम-संदेश से गूंज उठेगा। संत फ्रांसिस की यात्रा का वर्णन सुनकर उन्हें कभी आश्चर्य होता और कभी ग्लानि कि उस कठिन परिस्थिति में वे अपने प्यारे मित्र का साथ नहीं दे सके थे।

अथक फ्रांसिस फिर उत्तर की ओर जाने की तैयारी करने लगे। लेकिन यह कितनी भिन्न थी उस चार महीने पूर्व की तैयारी से।

रेशमी वस्त्रों में

अब तक जापान के तीन शासकों से संत फ्रांसिस की भेंट हुई थी। मिकादो किसी भी हालत में नरेश के नाम के योग्य नहीं थे। रह गए थे कागोशिमा, हिरादो और यामागुची के शासक। कागोशिमा ने उनके प्रचारकार्य पर प्रतिबंध लगा दिया था, हिरादो को धार्मिक बातों में कोई रुचि नहीं थी और उस छोटे से द्वीप पर राज्य करनेवाले शासक की हस्ती ही क्या थी। यामागुची का राजा ही सबसे शक्तिशाली जान पड़ता था, लेकिन उसने भी संत के सामने अपनी प्रकृति का परिचय दे दिया था। फिर भी फ्रांसिस ने उसी को मलक्का से लाए अपने उपहारों का योग्य पात्र समझा। यदि उसकी छत्र-छाया प्राप्त हो गई, तो ख्रीस्त की प्रेमशिक्षा के प्रचार का भविष्य उज्ज्वल हो सकता था, कम से कम उस नरेश के राज्य में। उन्होंने अपने उपहारों की पेटी खोली और निकाले, दोन पेद्रो द गामा द्वारा दिए रेशमी वस्त्र। ये पुर्त्तगाली राजदूत के वस्त्र थे, जो संत फ्रांसिस पहन कर यामागुची के राजा से मिलने जा रहे थे।

मिआको से लौटकर संत ने अपनी योजना कार्यान्वित करने में देर न की। राजदूत के दल में हिरादो से अविलम्ब प्रस्थान किया। राजदूत थे संत फ्रांसिस और जुआन फेरनान्दस, बर्नर्ड तथा एक दूसरे जापानी ख्रीस्तीय उस मंडल के सदस्य। शायद मलयाली आमादोर भी उनके साथ गए। मलक्का से वे ही उपहार चुनकर लाए गए थे जिनको देखकर किसी भी जापानी राजा के मुंह में पानी आ जाता। एक घड़ी जो घंटे-घंटे बजती थी, एक वाद्य मंजूषा, दर्पण, सुन्दर तीन नलीवाली बंदूक, कई थान कपड़े, दो चश्मे, कीमती जिल्दों में बंधी पुस्तकें, कुछ शीशे के फूलदान, तेल चित्र और उमदा शराब। इन सब वस्तुओं

को उन सोलहवीं सदी के जापान में पाना मुश्किल था। राजदूत संत फ्रांसिस के हाथ में दो प्रमाणपत्र थे, एक मिला था पुर्त्तगाल के राजा तीसरे योहन के प्रतिनिधि गोआ के राज्यपाल से, और दूसरा रोम के संत पिता तीसरे जुलियन के नाम में गोआ के धर्माध्यक्ष से।

राजदूत का जहाज यामागुची से कुछ दूर एक बंदरगाह में लगा और उपहारों को गाड़ी पर लाद कर इस प्रतिनिधि मंडल ने नगर में प्रवेश किया। यामागुची के राजा ऊची योशिताका को पहले खबर कर दी गई थी कि संत फ्रांसिस पुर्त्तगाली राजदूत की हैसियत से उनसे मिलने आ रहे हैं। जब शाही शानशौकत में संत फ्रांसिस का मंडल यामागुची पहुंचा तो राजा के रईसों और दरबारियों ने उनके स्वागत में पलक-पावड़े बिछा दिए। तुरन्त राजा से मिलने का प्रबन्ध किया गया। उपहारों और पत्रों को देखकर योशिताका के आनन्द और आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन विदेशी प्रचारकों की उदारता से उसका हृदय लहर मारने लगा। राजा की आज्ञा से सोने-चांदी का ढेर उनके सामने रख दिया गया, उसी संत फ्रांसिस के सामने जो कुछ दिन पहले हिएइज़ाम मठ की सीढ़ियों पर बैठे अपनी दरिद्रता पर खीज रहे थे। उसी की प्रतिक्रिया थी कि अब वे इस शाही शान में यामागुची के राजा से मिल रहे थे। मिआको से निराश होकर उन्होंने समृद्धि को समृद्धि से पराभूत करने की ठानी थी। फिर भी उन्होंने अपनी दरिद्रता पर आंच न लगने दी, दरिद्रता उनको पहले से कम प्यारी न थी, राजदूत के उस परिधान में भी। पेरिस के मोंमात्र पर लिए व्रत की धार कुंठित न हुई थी, न कभी होनेवाली थी। क्षणभंगुर धन की खोज में, जो आज है और कल नहीं, वे इतनी दूर नहीं आए थे। उन्होंने कृतज्ञतापूर्वक राजा योशिताका के दानों को अस्वीकार कर दिया। इसके बदले वे धर्मप्रचार की स्वतंत्रता मात्र चाहते थे। ऊची के समक्ष इस तरह की मांग पहली बार रक्खी जा रही थी। उसने विस्मय-विमुग्ध होकर अपने राजदरबारियों को आज्ञा दी कि नगर के कोने-कोने में विज्ञप्तियां और परचे लटका दिए जाएं, जिनसे प्रत्येक नागरिक को विदित हो जाए कि पश्चिम से आए प्रचारकों के मत को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं। राजा ने जापान की परम्परागत आतिथ्य-पद्धति के

अनुसार एक खाली मठ अपने अतिथियों को रहने के लिए दिया, जहाँ से वे धर्म-प्रचार के कार्य आसानी से कर सकते थे। फ्रांसिस का हृदय बांसों उछल पड़ा, उनका वह अधूरा सपना अब पूरा हो गया, मिआको में नहीं, यामागुची में, जिसकी उन्होंने कभी आशा नहीं की थी। राजकीय अनुमति और राजकीय स्वागत दोनों ही उन्हें प्राप्त हो गए। ये दोनों उनके प्रचार-कार्य के लिए आवश्यक थे। उस सुनसान मठ का भी सितारा चमक उठा, उससे बढ़कर दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य वहां कभी संपादित नहीं हुआ था। वह अब ख्रीस्त-शिक्षा का प्रकाश-स्तंभ बन गया, जो अपने प्रेम-किरण द्वारा सबों को सुरक्षित स्थान की ओर इंगित करता रहेगा।

संत की शिक्षा

संत फ्रांसिस के नए आश्रम में दिन भर श्रोताओं का तांता लगा रहता। दिन में दो बार वे धर्मशिक्षा देते और उसके बाद वाद-विवाद हुआ करता। सारी जनता उस विदेशी प्रचारक की अमृतवाणी सुनने के लिए उत्सुक जान पड़ती। मठ के अन्दर तिल रखने की जगह न मिलती थी, कितनों को बाहर से ही सुनकर संतुष्ट हो जाना पड़ता। लेकिन उनके ख्रीस्तमत ग्रहण करने में अभी देर थी। इसका प्रमुख कारण था सदियों से प्रचलित बौद्धमत, जिसका अनेकों रूपान्तर इस समय तक हो चुका था। बौद्धमत की नास्तिकता के अंधकार में भटकते जापान के लिए ख्रीस्तमत के सृष्टिकर्त्ता पर तुरन्त विश्वास कर लेना कठिन था। ईश्वर क्या हैं, उनका क्या रूपरंग है, वे कहां रहते हैं, आदि प्रश्नों की बौछार दिन रात होती रही। गौतम बुद्ध ने ईश्वर की चर्चा नहीं की थी, शून्य में विलीन हो जाना ही उनका निर्माण था। उनके अनुयायियों ने ईश्वर की सत्ता ही मिटा दी थी, तो उस ईश्वर से संसार की सृष्टि कैसे हो सकती।

इस सिद्धांत का पालन सदियों से करने के बाद वे पहली बार एक विदेशी के मुंह से ईश्वर का नाम सुन रहे थे, जिन्होंने इस सुन्दर संसार की सृष्टि की है और इस जगत की सृष्टि से पहले थे। जो अनंत हैं, अनादि हैं, इस संसार के मानवों की मुक्ति चाहते हैं और इसी कारण अपने एकलौते पुत्र, परम प्रभु येसु को यहां भेजकर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है।

इस नए सत्य को सुनकर उनके मस्तिष्क में उथल पुथल मचने लगी। वे आपस में तर्क-वितर्क करने लगे कि यदि उसी ईश्वर ने इस संसार को वनाया है तो वे अच्छे कैसे हो सकते हैं, जव इस संसार में इतनी वुराइयां हैं ? वे दयालु कैसे हैं, जव पापियों को नरक का दंड देते हैं, उनकी आज्ञाएं इतनी कठिन हैं, और शैतान भी उन्हीं की सृष्टि है, जो सदा मनुष्यों को पाप में गिराने की चेष्टा करता है ?

संत ने उन्हें वताया कि ईश्वर ने अपदूतों को वुरा नहीं वनाया था, वे भी स्वर्ग दूतों के समान थे, लेकिन स्वेच्छापूर्वक ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन कर अपदूत वने। संसार की वुराइयां शाश्वत नहीं, क्षणिक हैं और उनको सप्रेम स्वीकार कर हम ईश्वर के प्रति अपना प्रेम दिखा सकते और इस प्रकार दूसरे जीवन के लिए पुण्य कमा सकते हैं। ईश्वर हमें नरक नहीं देते,हम स्वयं अपने पापों के द्वारा उसे चुन लेते हैं। शैतान मनुष्यों को पापों में गिराने की कोशिश अवश्य करता है लेकिन ईश्वर भी अपनी कृपा के द्वारा उस पर विजय प्राप्त करने के लिए हमारी सहायता करते हैं। मनुष्य केवल शैतान के प्रलोभनों और अपनी कमज़ोरी के कारण पाप में नहीं गिरता, वह अपनी स्वतंत्र इच्छा से भी पाप करने को राजी हो जाता है।

इसके वाद लोगों की समझ में आने लगा कि ये विदेशी प्रचारक उन वौद्ध भिक्षुओं से कितने भिन्न हैं। उन्होंने अपनी आंखों देखा कि सन्त फ्रांसिस ईश्वर के विश्वप्रेम का प्रचार करते हैं और अपने कार्यों में उसका पालन भी करते हैं। धीरे-धीरे उनकी भ्रामक धारणाएं दूर होने लगीं, सूर्योदय के समय कुहरे की तरह। उन्होंने फ्रांसिस से भूगोल और खगोल संवंधी भी अनेक प्रश्न किए। उनके उत्तर में उन्हें वड़ा आश्चर्य हुआ और वर्फ, तारे, दिन-रात, वर्षा, विजली आदि प्रकृति संवंधी समस्याओं का तार्किक समाधान पाकर उनकी व्यग्र वुद्धि को शान्ति मिली। संत फ्रांसिस उनके लिए ईश्वर भक्त ही नहीं रहे, वे लोग उनको प्रकांड पंडित भी मानने लगे। उनके पांडित्यपूर्ण उत्तरों को सुनकर कितने जापानियों को दुख भी हुआ। यदि ये वातें और विशेषतः आत्मा और ईश्वर संवंधी वातें, सत्य हैं तो उनके पूर्वजों को इसका ज्ञान क्यों नहीं था और चीन

जो सबका भंडार है, इन सब तथ्यों से अनभिज्ञ क्यों रहा ? उनकी यह शंका और दुविधा देखकर फ्रांसिस ने उन नैतिक नियमों पर प्रकाश डाला जो प्रत्येक मनुष्य के अंतःकरण में पाया जाता है, भलाई करो और बुराई से बचो। प्रत्येक मनुष्य इस नियम को जानता है और इसी से वह भला और बुरा पहचान सकता है। भीखमंगे को भिक्षा दान करना अच्छा माना जाता है और निर्दोष व्यक्ति को दंड देना बुरा, इसका ज्ञान प्रत्येक वयस्क को प्राप्त है। यद्यपि उन जापानियों के पूर्वजों को खीस्तीय मत का ज्ञान नहीं था, उन्हें भी ईश्वर प्रदत्त अन्तःकरण प्राप्त था, जो सदा मनुष्य को उसके हरएक कार्य के लिए डांटता और सराहता रहता है। इसका ज्ञान उनके पूर्वजों को ही नहीं था, इसे जापानियों के परम्परागत गुरु चीनी तथा समस्त मानव जाति दुनिया के शुरू से जानती आई है।

धर्म की चर्चा चल रही थी, लेकिन यामागुची का कोई भी नागरिक खीस्त-मत ग्रहण करने को अब तक तैयार नहीं हुआ था। इन विवादों में केवल आम जनता ही भाग नहीं लेती, जापान के धर्मगुरु बौद्ध भिक्षुक भी संत की बातें सुनने आते और उनको वाक्युद्ध में पराजित करने का प्रयास करते। इनमें बहुतेरे जैन सिद्धांत को माननेवाले थे, जो आत्मा की अमरता पर विश्वास नहीं करते। फ्रांसिस ने इनको भी मुंहतोड़ जवाब दिया।

ये वादविवाद संत फ्रांसिस के मठ तक ही सीमित नहीं रहते। जब फ्रांसिस अपने साथी जुआन फेरनान्दस के साथ नगर की गलियों में उपदेश देने निकलते, तब वहां भी कुछ ही समय में विवादी आ जमते। लेकिन अधिकांश समय उपदेश देने में ही बीतता। दस हफ्तों तक संत फ्रांसिस और फेरनान्दस प्रति दिन नगर में जाया करते थे, फिर भी किसी ने खीस्तमत स्वीकार नहीं किया। तब एका-एक वह समय आया जब ईश्वर की कृपा लोगों पर उतरी। फेरनान्दस खीस्तीय सिद्धांतों की टीका कर रहे थे और सन्त फ्रांसिस उनके श्रोताओं के लिए घुटने टेक कर प्रार्थना। इतने में एक अशिष्ट व्यक्ति फेरनान्देस की ओर बढ़ा और जोर से उनके मुंह पर थूक दिया। फेरनान्देस ने जेब से कागज का रूमाल निकाला और अपना गाल पोंछ लिया, उनके मुंह से फटकार का एक शब्द भी नहीं निकला, न उनकी वाग्धारा में किसी प्रकार की रुकावट ही हुई। उस भीड़ में एक व्यक्ति था जो संत फ्रांसिस का विरोध किया करता था। फेरनान्दस के इस अनूठे प्रेम

का उस पर विचित्र प्रभाव पड़ा। उपदेश समाप्त होने के वाद खीस्त के दोनों प्रचारक अपने मठ में लौटने लगे। संत फ्रांसिस का विरोधी भी उनके पीछे हो लिया। मठ में प्रवेश कर उसने फ्रांसिस से खीस्तीय दीक्षा लेने का आग्रह किया। वाधा हट गई थी, हृदय तैयार था बपतिस्मा की धारा में परिप्लावित होने के लिए। कुछ ही दिनों के अन्दर यामागुची में खीस्तीयों की संख्या पांच सौ हो गई। उन पांच सौ खीस्तीयों में दो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

वह पंगु मशखरा

जापान की सड़कों पर एक पंगु मशखरा लोगों को अपने मजाकों से हंसाया करता था। उसके सस्ते तंवूरे की मधुर लहरी के साथ लोगों का हृदय भी झंकृत हो उठता था। लोग उसे मानते थे, वह पंगु था, लेकिन था मेधावी। गलियों में ही उसका नाम नहीं होता, रईसों की कोठियों के द्वार भी उसके लिए सदा खुले रहते। यामागुची के लोग जब फ्रांसिस के उपदेश सुनने जमा होते तो वह भी वड़े ध्यान और दिलचस्पी के साथ सुनता और फेरनान्दस से तर्कपूर्ण प्रश्न भी करता। जब वह फेरनान्दस से अपनी मातृभाषा में अपनी कठिनाइयों का उत्तर पाता, तो वह आनंद से नाच उठता। वह धीरे-धीरे फ्रांसिस की ओर आकृष्ट होता जा रहा था। संत फ्रांसिस के प्रति उसकी श्रद्धा इतनी बढ़ गई कि वह उनका सहायक प्रचारक वन गया। उसके तंबूरे के तार पुनः झंकृत हुए और लौरेन्स की कंठ-वीणा से अब खीस्त का प्रेम-गान ध्वनित होने लगा। अन्त में पंगु लौरेन्स येसुसमाज का धर्मबंधु बन कर तीस वर्षों तक अपने देश भाइयों के हृदय-प्रदेश को खीस्त-शिक्षा की अमृत-धारा से सींचता रहा। उसकी विलक्षण बुद्धि के सामने सारा जापान नतमस्तक हो जाता। हिएइजोन के भिक्षुक भी उसका सम्मान करते थे। उसे न अपनी जान की परवा थी और न लोगों का डर था। वह निर्भय होकर जैन बौद्धों के साथ आत्मा की अमरता पर तर्क करता था।

सत्यार्थी पंडित

लौरेन्स के विपरीत प्रकृतिवाले एक पंडित का भी मत परिवर्तन हुआ। सच्चे ज्ञान की खोज में उसने दर-दर की खाक छानी थी। अन्त में वह बौद्ध मठ की शरण गया। लेकिन भिक्षुओं के खोखले जीवन से निराश होकर उसने

वैवाहिक जीवन अपनाया। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए, सृष्टिकर्त्ता ईश्वर पर उसका विश्वास दृढ़ होता गया। उसी समय संत फ्रांसिस यामागुची पहुंचे, तब तक उस पंडित का हृदय-मंदिर खीस्तदेव को बैठाने के लिए तैयार हो चुका था। सच्चे ज्ञान का स्रोत पा उसने बपतिस्मा ग्रहण किया। उसके मत परिवर्तन से नगर भर में खलवली मच गई। उसके संबंधियों तथा सहधर्मियों ने उसे देशद्रोही कहा, लेकिन सन्त और अन्य खीस्तीयों ने श्रद्धा से परिप्लावित होकर उसे वीर कहा। रिश्तेदारों और तथाकथित शुभचिन्तकों का विरोध सह कर भी नवप्राप्त सत्य को नहीं त्यागना, क्या यह सच्ची वीरता नहीं है ?

जब खीस्तीय धर्म का प्रचार वायु वेग से चल रहा था, तभी फ्रांसिस को एक नई बला का सामना करना पड़ा। यह भाषा संबंधी कठिनाई थी। अबतक वे ईश्वर के लिए जापानी भाषा में प्रचलित "देनुची" का प्रयोग कर रहे थे। अपने गुरु पौल के सुझाव पर उन्होंने अपनी सीमित शब्दावली में इसे स्थान दिया था। जब वे दूसरी बार ऊची योशिताका के दरबार में पहुंचे तो वहां सिगोन बौद्ध मतावलंबी बौंजों से उनकी भेंट हुई। यह मत जापानियों ने अपने पड़ोसी चीन से प्राप्त किया था और चीन ने भारत से। कोबोदेशी नामक एक भिक्षुक इस मत के मुख्य प्रवर्तक थे। इस मत के रहस्यमय सिद्धांत समझना जनसाधारण की बुद्धि से परे था। इसलिए बौद्ध भिक्षुओं ने अपने कम शिक्षित भाइयों के लिए इसका एक सहज रूप निकाला था। इसकी बहुत-सी रीतियां काथलिक गिरजा की रीतियों से मिलती-जुलती थीं। फ्रांसिस ने पहले सोचा कि शायद यह समानता नेष्टोरीय विभेदियों के प्रभाव तथा प्रचारकार्य से चीन में उत्पन्न हुई होगी। तब भी उनका अपना व्यक्तिगत विचार था कि जापान को सच्चे ईश्वर और उनके एकलौते पुत्र येसु खीस्त का प्रेम संदेश कभी भी सुनने को नहीं मिला था।

ऊची के दरबार में शिगाने बौंज ने संत फ्रांसिस से उनके ईश्वर के विषय में पूछना आरंभ किया। उन्हें रंगरूप, आकार-प्रकार है या नहीं ? संत ने उत्तर दिया, "ईश्वर को न रंग है, न रूप है, न आकार-प्रकार है, वे सब दूसरी चीजों से भिन्न ही नहीं, बल्कि उन सब चीजों के सृष्टिकर्त्ता हैं। वे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और अनंत कल्याणमय हैं। उनका न आदि है, न अन्त। यह सुन कर शिगोन

बौंजों के आनंद का पारावार न रहा। उन्होंने एक साथ चिल्लाकर कहा, "हमारे भी दैनुची ठीक आपही के ईश्वर के सदृश हैं। हम दोनों के मतों में केवल नाम का अन्तर है। तत्त्व दोनों एक ही हैं।" उन्होंने आनंद के आवेश में संत को अपने मठ में निमंत्रित किया।

भिक्षुओं की चाल

संत फ्रांसिस को उनके इस आचरण से संदेह हुआ। उन्होंने रहस्य का पता लगाने की सोची। दूसरी वार उनके मठ में पहुंच कर उन्होंने पवित्र त्रित्व तथा परम प्रभु येसु के शरीर धारण के विषय में प्रश्न किया। तव शिगोनी बौंजों की काली करतूतों का भंडाफोड़ हुआ। संत फ्रांसिस और फेरनान्दस के उपदेशों से शिगोन मठ के शिष्यों की संख्या घटने लगी। यह देख उन्होंने संत को सम्मानित कर अपने शिष्यों को धोखा में रखने का षड्यंत्र रचा था। काथलिक और शिगोन मतों में केवल वाह्य भिन्नता दिखाकर वे उन्हें अपने ही मत में स्थिर रखना चाहते थे। और यदि उनके शिष्य संत के मुंह से ही दोनों मतों की तात्त्विक समानता सुन लेते, तो खीस्तमत अपनाने की कोई जरूरत नहीं रह जाती। इस षड्यन्त्र से जैसे ही सन्त फ्रांसिस की आंखें खुलीं, उन्होंने दैनुचीं शब्द को अपनी शब्दावलि से हटा दिया। उसके वदले उन्होंने लाटिन भाषा के देउस का प्रयोग शुरू किया। पर शिगोन वौद्धों ने अपना पैतरा बदला। अपने को हारते देख उन्होंने लोगों को फ्रांसिस के विरुद्ध भड़काना शुरू किया। लड़कों से उन्हें बड़ी सहायता मिली। ये यामागुची की सड़कों पर संत फ्रांसिस के पीछे-पीछे "दायुसु दायुसु" चिल्लाने लगे। देउस शब्द पर वौद्धों ने भी टीका-टिप्पणी की, "दायी" का अर्थ उन्होंने अपनी भाषा में "महा" लगाया और "उसी" का अर्थ था झूठ, इस तरह खीस्तीयों के ईश्वर का नाम "महाझूठ" था।

फुनाई से निमंत्रण

यामागुची से दक्षिण वुंगो का द्वीप-खंड था जिस पर फुनाई के शासक का आधिपत्य था। राजधानी से कुछ दूर वुंगों का मुख्य वंदरगाह ओकिनोहामा था। इसी वंदरगाह पर एदुआर्तो द गामा का जहाज लगा हुआ था। इन

नाविकों के मुंह से फ्रांसिस की प्रशंसा सुन कर ओतोमो योशिशिजे को उनसे मिलने की तीव्र उत्कंठा हुई। जब संत फ्रांसिस यामागुची में व्यस्त थे, उन्हें फुनाई के शासक का निमंत्रण मिला। बुंगो का नाम सुनते ही संत के कान खड़े हो गए। बुंगो के मठ की गणना जापान के प्रसिद्ध मठों में होती थी। यहां के भिक्षुओं से संत फ्रांसिस की भेंट कागोशिमा में हो चुकी थी। अब उसी बुंगों से उनको निमंत्रण आ रहा था। और किसी पुर्त्तगाली नाविक के जरिए पुर्त्तगालियों के आने का समाचार पा संत फ्रांसिश को अपने प्यारे बंधुओं की याद सताने लगी। वे कितनी दूर थे उनसे। शायद उनके पत्र भी आए हों। संत फ्रांसिस का दिल मचल उठा। उन्होंने तुरंत हिरादो से तोरेस को बुलाया। यामागुची के नवख्रीस्तीयों को उनके हाथों सौंप वे स्वयं सितंबर के दूसरे पखवारे में बुंगों के लिए रवाना हो गए। अपने साथ वे तीन जापानियों को लेते गए, योहन जिसको गोआ में आंजीरो के साथ बपतिस्मा मिला था, बर्नर्ड जिसने कागोशिमा से ही संत का साथ नहीं छोड़ा था और मत्ती, जिसका मतपरिवर्त्तन यामागुची में हुआ था। उमंग से भरे सन्त यामागुची से बुंगो एक सप्ताह के अन्दर ही पहुंच गए।

बाइस वर्षीय जैन मतावलंबी ओतोमो योशिशजे के माथे पर पितृहत्या का कलंक था। पिता के प्राण लेकर ही उसने गद्दी प्राप्त की थी और अब अधिक शक्ति की लालसा से पुर्त्तगालियों की मित्रता का अभिलाषी था। फ्रांसिस ने ओकिनहामा पहुंच कर सर्वप्रथम पुर्त्तगालियों की आध्यात्मिक सेवा की, उनके पापस्वीकार सुने तथा उनके लिए मिस्सा का पूज्य बलिदान चढ़ाया। उसके बाद वे फुनाई की ओर बढ़े। नगर के पुर्त्तगालियों तथा ओतोमो ने फ्रांसिस का भव्य स्वागत किया। दाइमियो का मित्रभाव देखकर संत फ्रांसिस को अपार आनंद हुआ।

लेकिन पुर्त्तगाली जहाज पर उनके लिए एक भी पत्र नहीं आया था। जापान आए उन्हें दो वर्ष हो गए थे और इस बीच भारत से एक भी पत्र नहीं आया था। इसका कारण क्या हो सकता है, फ्रांसिस की समझ में नहीं आ रहा था। जापान के लिए प्रस्थान करते समय उन्होंने गोआ और मलक्का के बंधुओं को बराबर पत्र लिखने के लिए समझाया था, यहां तक कि उन्हें पत्र भेजने का तरीका

भी बताया था। उनका हृदय भारत की ओर दौड़ा, वे अपने प्यारे परिया ख्रीस्तीयों के लिए व्याकुल हो उठे। अब तक उनके मन में जापान से भारत लौटने का विचार नहीं आया था। जापान से उनको स्नेह हो गया था और वे उससे अलग होना नहीं चाहते थे, जब तक ख्रीस्त-धर्म वहां स्थायी रूप से स्थापित न हो जाए।

लेकिन फुनाई पहुंच कर वे भारत लौटने की सोचने लगे। दो वर्ष पूर्व उन्होंने बेरजे गागो तथा कारवाल्यो को जापान बुलाया था, और अब तक उनका पता न था। जापान से जाना उनके लिए जरूरी था, जापान को इससे लाभ था। एक वर्ष के अंदर वे अपने बंधुओं तथा मीन-तट के ख्रीस्तीयों से मिलेंगे तब कुछ और ख्रीस्तीय सेवकों को साथ लेकर जापान लौटेंगे। अपना यह निश्चय उन्होंने पत्र द्वारा तोरेस को लिख भेजा। यामागुची में एक गिरजाघर की बड़ी आवश्यकता थी। वहां के पांच सौ से अधिक ख्रीस्तीयों के लिए अभी तक कोई प्रबंध न हो पाया था।संत फ्रांसिस ने मेन्देज़ पिन्टो नामक एक पुर्त्तगाली व्यापारी से तीन सौ कूजादो मांग कर तोरेस के पास भेजे। इतने धन से एक सुन्दर भवन बन सकता था। जमीन तो पहले ही यामागुची के दायिमियो ने दे दी थी। लेकिन यामागुची के निर्माण में अभी और समय लगनेवाला था।

अक्टूबर के अन्त में अन्तोनियो यामागुची से फुनाई पहुंचा। यामागुची संकट काल से होकर गुजर रहा था। वहां की राजनैतिक स्थिति अस्थिर थी। ऊची के एक जागीरदार सुए ताकाफूसा ने सशस्त्र सैनिकों के साथ नगर पर धावा कर दिया था। आक्रमण होते ही ऊची नगर छोड़ कर भाग निकले थे। नगर पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया था, लेकिन आतंक का अन्त नहीं हुआ था। अग्नि-कांड और रक्तपात से सारे नगर में हाहाकार मचा हुआ था। योशिताका अपने राज्य के बाहर निकल भागने की ताक में लगे थे, लेकिन विद्रोहियों ने पलायन की कोई राह नहीं छोड़ी थी। अन्त में सब ओर से अपने को असहाय पाकर ऊची योशिताका ने हिराकिरी द्वारा आत्महत्या कर ली। यामागुची के सौ से अधिक मठ एक-एक कर के भस्मसात् हो रहे थे और नागरिक अपने धधकते घरों को छोड़ जंगल-झाड़ियों में तितर-बितर हो रहे थे। तोरेस और फेरनान्दस की जान पर तो और अधिक खतरा था।

बौद्ध भिक्षुक उनके घात में लगे थे। उन्होंने नगर पर आई आफत का दोष उन विदेशी प्रचारकों के सिर पर मढ़ा जिनको बलि किए बिना नगर की रक्षा नहीं हो सकती। प्राण-रक्षा के लिए तोरेस और फेरनान्दस अपना मठ छोड़ किसी नाइतो ताकाहरू नामक जोदो मतावलंबी बौद्ध के यहां छिपे थे। उस सज्जन की कृपा से वे अपने भारतीय साथी आमादोर के साथ वहीं रहे नाइतो की यह उदारता उन मठवासियों को पसन्द न आई। अपने मेहमानों को उन्होंने दो दिनों तक भूखे ही रखा। लेकिन उस मठ पर आतंकवादियों का डर देख नाइतो ताकाहरू ने तोरेस और उनके साथियों को अपने ही घर में छिपा रखा। संकट के बादल जब यामागुची से टले तो तोरेस बाहर निकले। नाइतो की उदारता का ऋण उन्होंने ख्रीस्त के पुण्य भंडार से देना चाहा। लेकिन नाइतो और उनकी पत्नी ने उसे स्वीकार नहीं किया। वे शाक्य मुनि और अमिदा के प्रति वर्षों से उदारता दिखाते आ रहे थे। उनके भिक्षुओं के लिए अनेक मठ बनवाए थे। उनका खर्च भी वे ही चला रहे थे। उनका अटल विश्वास था कि उनके परोपकार का फल उन्हें कभी न कभी शाक्य के हाथों अवश्य मिलेगा। और यदि वे इस समय ख्रीस्तमत ग्रहण कर लें, तो वर्षों का संचित पुण्य मिट्टी में मिल जाएगा। वे ख्रीस्त की उदारता नहीं पहचान सके।

यामागुची की यह दर्दनाक खबर सुन संत फ्रांसिस का हृदय भर आया। कुछ ही दिनों के बाद वहां से एक दूसरा संदेशवाहक पहुंचा। नगर में नया दाइमियो का अधिकार स्थापित हो चुका था। तोरेस नया दाइमियो से ऊची योशिताका द्वारा दिए गए प्राधिकारों की मंजूरी कराने में लगे ही थे कि एक बार फिर यामागुची की राजनीति में कायापलट हो गया। विद्रोहियों का एक जत्था बुंगों के दाइमियो ओतोमो योशिशिज़े के दरबार में पहुंचा। वे यामागुची की गद्दी पर ओतोमो के छोटे भाई हारूदो को बैठाना चाहते थे। ओतोमो और हारूहीदो में किसी को भी इसमें आपत्ति नहीं थी। उन्होंने संत फ्रांसिस को यामागुची में धर्मप्रचार की पूरी स्वतंत्रता देने तथा प्रचारकों की रक्षा का भी वचन दिया था।

नवंबर के तीसरे पखवारे में संत फ्रांसिस फुनाई से विदा हुए। उनको

जाते देख ओतोमो का दिल बैठ गया। वे संत के व्यक्तित्व के कायल हो गए थे। वह उस खीस्तमत से मित्रता बनाए रखना चाहते थे, लेकिन खीस्तमत ग्रहण करने का उनमें बल नहीं था। संत की संगति में उन्होंने अपना राजदूत गोआ के राज्यपाल के पास भेजा और राजदूत के हाथ अनेकों मूल्यवान उपहार भी भेजे जिसमें पुर्त्तगाली राजा के नाम एक पत्र और जापानी शस्त्रास्त्र के कुछ सुन्दर तथा कीमती नमूने थे। वर्नंड, अन्तोनियो और मत्ती भी उनके साथ जा रहे थे। वर्नंड और मत्ती यूरोप ज़ाना चाहते थे। जापान भारत से भिन्न था। भारत में स्वस्थ प्रचारकों की आवश्यकता थी, लेकिन जापान में कुशाग्र बुद्धिवालों की जो बौद्ध भिक्षुओं से वाग्युद्ध में लोहा ले सकें। जापान की जलवायु असह्य थी, रोगी तथा अस्वस्थ प्रचारक वहां अधिक दिन नहीं अड़ सकते थे। संत ने अपने यूरोपीय बंधुओं से योग्य प्रचारकों की मांग की।

दसवां परिच्छेद

भारत में तीसरी बार

संत फ्रांसिस ने जापान को प्रणाम किया और एदुआर्दो द गामा का जहाज ओकोनोहामा के वंदरगाह से चल पड़ा। जापान का तट धीरे-धीरे आंखों से ओझल होता गया। चारों ओर पानी ही पानी दिखाई देता था और सिर पर नील गगन का स्वच्छ वितान। तब एक दिन अचानक आंधी उठी और उसके थपेड़ों में पड़ एदुआर्दो का जहाज असीम जलराशि में भटकता रहा सात दिनों तक। किसी को पता नहीं था कि वे कहां हैं। जहाज से बंधी एक नाव नीचे नीचे समुद्र में चल रही थी। झंझा के एक झोंके से रस्सी टूटी और पलक मारते वह आंखों से गायब हो गई। दो मुसलमान नाविक उसे काबू में करने की कोशिश कर रहे थे। इस दुर्घटना से सब का मन विषाद से भर गया। मर्माहत यात्रियों के कान्तिहीन मुखमंडल को देख संत फ्रांसिस ने कप्तान को पाल गिराने की सलाह दी। उन्होंने कहा, ईश्वर की कृपा हुई तो तीन दिनों के अन्दर खोई नौका अपने आप नाविकों के साथ सुरक्षित लौट आएगी।

प्रति दिन प्रति क्षण कप्तान और नाविक आंखें फाड़-फाड़ कर नाव की प्रतीक्षा करते रहे। एक दिन बीत गया, दूसरे दिन भी प्राची में सूर्य उगा और अस्ताचल में मुंह छिपा लिया, किन्तु नाव दृष्टिगोचर नहीं हुई। तीसरे दिन सुनहली रश्मियों ने मल्लाहों को जगाया। बहुतों को सन्त की बातों पर कोई विश्वास न था। कुछेक के हृदय में आशा टिमटिमा रही थी। वे अब भी नाव की प्रतीक्षा में खड़े थे। तभी दूर क्षितिज से एक नाव आती दीख पड़ी। निकट आई और जहाज की बगल में लगी। जहाज से रस्सी नीचे फेंकी गई और खोए नाविक ऊपर आए। उन्हें पाकर कप्तान और उनके सहकारियों के आनंद का ठिकाना न रहा। यह चमत्कार देख उन मुसलमान नाविकों ने संत फ्रांसिस के ईश्वर के प्रति विश्वास जाग्रत हुई, उन्होंने खीस्तीय मत स्वीकार कर बपतिस्मा ग्रहण किया।

सांचन द्वीप .

सत्रह दिसंबर को द गामा का जहाज चीनी तट से सटे सांचन द्वीप पर लगा। वहां दिएगो परेरा से भेंट हुई। उनका जहाज सान्ता कूज लुक-छिपकर चीन से व्यापार करने आया था। चीन ने अपने सब बंदरगाह पुर्त्तगालियों के लिए बंद कर दिए थे, लेकिन व्यापार बन्द नहीं कर सका था। पुर्त्तगालियों के जहाज सांचन पर लगते, कांतन से चीनी व्यापारी छोटी नावों पर आते और वस्तुओं का विनिमय कर लौट जाते। चीन के सम्राट् की आज्ञा के बावजूद पुर्त्तगाली चीन की जमीन पर पैर रखते नहीं डरते, जिसके फलस्वरूप कांतन के जेल में कितने सड़ रहे थे और कितने उस रास्ते स्वर्ग भी पहुंच चुके थे। जो एक बार कांतन के जेल में पहुंच जाता, वह उससे मुक्त नहीं हो पाता। बंदियों की खबर बाहर ले जाना बहुत कठिन हो जाता। इतनी पाबंदी होने पर भी उस भयंकर जेल की दर्दनाक खबर पहुंचाने के लिए कुछ भाग्यवान कैदी निकल ही आते या किसी प्रकार अपने पुर्त्तगाली भाइयों से पत्राचार कर ही लेते। ऐसे ही एक अभागे कदी का पत्र, संत फ्रांसिस के सांचन उतरने के कुछ ही पहले, दिएगो परेरा को मिला था। वह कोई पत्र नहीं था, किसी अभागे की गिड़-गिड़ाहट थी, जो अपनी मुक्ति के लिए परेरा के पैर पड़ रहा था। यदि किसी प्रकार चीन के सम्राट् के साथ पुर्त्तगालियों का राजनैतिक संबंध हो जाए, तो कांतन के नरक से वे अभागे मुक्त हो जाते।

परेरा ने वह पत्र संत फ्रांसिस को दिखाया और संत की आंखों के सामने जापान का दृश्य नाच उठा। जापान चीन को अनादि काल से अपना गुरु मानता आया है, यह उन्होंने जापानियों के मुंह सुना था। यामागुची के लोगों ने उनसे पूछा था, यदि ऐसी बात है तो चीनियों को आपकी शिक्षा का पता क्यों नहीं है? जापान से फ्रांसिस की आंखें चीन की ओर उठीं, जो उनके सामने क्षितिज में धुंधता-धुंधला दिखाई दे रहा था। यदि चीन में खीस्त मत का प्रचार हो गया तो जापान को खीस्त के प्रेमपाश में बंधते अधिक देर नहीं लगेगी। लेकिन चीन में विदेशियों के धर्म का प्रचार, जहां जीवन की आवश्यक सामग्रियों का व्यापार भी अवैध घोषित हो चुका था, बांस के सीखचों के अन्दर कैसे प्रवेश पा सकेगा।

दिएगो परेरा के सामने चीनी-पुर्त्तगाली व्यापारिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का सवाल था और संत फ्रांसिस के सामने चीन की भूमि पर खीस्त की प्रेमशिक्षा के बीज बोने का प्रश्न। दोनों जाने के लिए उत्सुक थे, लेकिन दोनों के लक्ष्यों में आकाश-पाताल का अन्तर था। एक धन कमाने और कैदी बंधुओं को दुखमय जीवन से मुक्त करने, दूसरा खीस्त का प्रेम लुटाने और अपरिचितों को सच्चा मुक्ति मार्ग दिखाने। दोनों अपनी साधना में सफल होने के लिए कटिबद्ध थे। रास्ते भर ये दो महानुभाव इस समस्या का हल ढूढ़ते रहे। यदि दिएगो को राजदूत बना दिया जाए तो फ्रांसिस उसके साथ चीन के राजदरबार में प्रवेश पा सकेंगे, तब कांतन के कैदियों को मुक्ति मिल सकती थी। दोनों के संकल्प बलिष्ट हो रहे थे ज्यों-ज्यों सान्ताक्रूस दक्षिण की ओर बढ़ता जाता था। विकल्प के लिए कोई जगह नहीं थी। फ्रांसिस दिएगो को राजदूत बनाने पर तुले थे। लेकिन... मानव जाति का महाशत्रु उनके विचारों पर अट्टहास कर रहा था, और उसकी प्रतिध्वनि फ्रांसिस के कानों तक पहुंच रही थी। उन्होंने दिएगो से पचीसों बार कहा, राजदूत का आयोजन कदापि सफल नहीं होगा। संत फ्रांसिस को इस प्रकार निराश देख कर दिएगे को आश्चर्य होता था। उन्होंने संत से अपने कथन को स्पष्ट करने का आग्रह किया। लेकिन सन्त इतना ही कहते, आप देखिएगा।

सिंगापुर के संकरे मुहाने से होकर सान्ता क्रूस को बड़ी धीमी गति से चलना पड़ा। रात को उसे अपनी यात्रा बंद कर देनी पड़ती थी, क्योंकि जहाज बड़ा था और पानी कम। थोड़ी-सी असावधानी से जहाज कभी भी रेत में अटक सकता था। लेकिन सन्त फ्रांसिस को भारत पहुंचने की जल्दीबाजी थी। यदि रास्ते में अधिक देर हो गई, तो मलक्का पहुंचने के लिए पहले ही भारत का जहाज खुल जाएगा। अतः फ्रांसिस ने जापानी अन्तोनियो को एक बिना पाल की नाव पर पेरेज़ के पास भेजा। प्रभु जयंती उसके दूसरे ही दिन पड़ती थी। पत्र में उन्होंने पेरेज, जहाज के कप्तान से निवेदन कर जहाज को उनके आने तक रोक रखने की अर्ज की। २७वां दिसम्बर तक उन्हें मलक्का पहुंचने की आशा थी। उन्होंने अपनी यात्रा का प्रबंध करने को पेरेज़ से कहा। मलक्का के बंदरगाह में गौलेगौ नामक पुर्त्तगाली जहाज पाल ताने खड़ा था। फ्रांसिस का

पत्र पाकर जहाज के कप्तान अन्तोनियो परेरा के पास दौड़े। संत फ्रांसिस के आने और अपने साथ भारत लौटने की खबर पाकर अन्तोनियो प्रसन्न हो उठे। १५५२ के नववर्ष के दिन उनका जहाज संत फ्रांसिस को लिए वंग सागर की ओर चला। हिन्द महासागर से होता कन्याकुमारी का चक्कर लगाता हुआ वह जनवरी की चौवीस तारीख को कोचिन वंदर में लगा। यात्रा सुगम और शान्तिपूर्ण थी।

फ्रांसिस के आने की खबर सुन सारा कोचिन उनके स्वागत-गान से गूंज उठा। पुर्त्तगाली राज्यपाल दौन अलफोंसो द नारोन्या भी उस समय कोचिन ही में थे। उन्होंने संत फ्रांसिस की वड़ी प्रशंसा सुनी थी, लेकिन अब तक उनसे मुलाकात नहीं हुई थी। उन्होंने संत का हार्दिक स्वागत किया। नगर में स्वागत की होड़ मच गई, जिसके कारण संत को वड़ी परेशानी उठानी पड़ी। आवश्यक कामों को करना भी मुश्किल हो गया। दो वर्षों के वाद वे भारत लौट रहे थे, इसके बीच उन्हें भारत की कोई खबर नहीं मिली थी। इन दो वर्षों के पत्र उनको एक साथ मलक्का में मिले थे, उनका उत्तर लिखना वहुत जरूरी था और यूरोप जानेवाले जहाज कोचिन से खुलने पर ही थे।

दो हृदयों की प्रेमधारा

संत इनीगो के नाम उन्होंने जो पत्र लिखा, वह दो हृदयों से उमड़ती प्रेम-धारा का कलकल निनाद है। १५४९ में ही सन्त इनीगो ने फ्रांसिस को भारत का प्रदेशाध्यक्ष नियुक्त किया था। तब से वह पत्र पेरेज के साथ मलक्का में ही पड़ा था। उस पत्र के साथ संत इनीगो का व्यक्तिगत पत्र भी था। उन्होंने उस पत्र के अंत में लिखा था, "संपूर्ण आपका, जिसे आपको कभी भूलने की न शक्ति है, न संभावना।" इन शब्दों की ओर लक्ष्य करके फ्रांसिस ने लिखा, "मैंने सजल नयनों से उन्हें पढ़ा, बीते दिनों तथा उस प्रेम को याद करके, जो सदा आपके हृदय में मेरे प्रति रहता था और अब तक है, मैं छलछलाती आंखों से यह लिख रहा हूं।" प्रदेशाध्यक्ष जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर अपनी नियुक्ति के विषय में उन्होंने लिखा था, "मेरे कंधों पर जो जिम्मेवारी इस भूखंड में रहनेवाले

वंधुओं की रखी है, उस पर आप पवित्र उदारता के अनुसार पुनः विचार करें। ईश्वर की कृपा से इसके लिए मैं अपनी अयोग्यता का अनुभव करता हूँ। मैं यह आशा लिए चला था कि अपने समाज वंधुओं की निगरानी में रहूंगा और वे मेरी निगरानी में नहीं !" संत इनीगो ने अपने पत्र में फ्रांसिस से मिलने की उत्कट अभिलाषा प्रकट की थी। फ्रांसिस भी अपने आध्यात्मिक पिता से मिलने के लिए तड़प उठे। उनका यह पत्र पाते ही इनीगो ने उन्हें रोम बुला भेजा लेकिन यह संभव न था। १५५२ का आरंभ हो चुका था और इसके बीतते ही संत फ्रांसिस की आत्मा अपने प्रियतम से मिलने चली जाएगी। फ्रांसिस ने खीस्त सेवकोंकी मांग पुनः दुहराई, विशेषतः जापान के लिए। उनकी महान आत्मा में चीन जाने की जो इच्छा गहरी जड़ पकड़ चुकी थी, उन्होंने उसकी भी चर्चा इस पत्र में की।

उन्होंने यूरोपीय वंधुओं को जापान और उसके निवासियों का एक जीता-जागता शब्द चित्र लिख भेजा। अपने चिर मित्र सिमोन रोद्रिगेज के पत्र में उन्होंने खीस्तसेवकों की आवश्यकता पर प्रकाश डाला और उन्हें पूरब आने का निमंत्रण दिया। इस बार केवल भारत का निरीक्षण करने के लिए नहीं, वरन् उस रहस्यमय देश, चीन का भी भ्रमण करने के लिए। पुर्त्तगाल के राजा के नाम पत्र लिखते समय फ्रांसिस ने अपने हृदय की विशालता का परिचय दिया। भारत में पुर्त्तगाली अधिकारियों के चरित्र का जो अनुभव उन्हें हुआ था, उसके ठीक वितरीत मलक्का और जापान के अधिकारियों का व्यवहार था। उनकी उदारता तथा सहानुभूति से उनका रोम-रोम कृतज्ञ हो उठा था। फ्रांसिस का हृदय स्वच्छ जलाशय था जिसमें कोई भी प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई दे सकता था। उसमें न ईर्ष्या की काई थी, न प्रतिशोध का पंक। उनकी आंखें वगुलों में छिपे हंस को पहचान सकती थी। अमावस्या के अंधकार में टिमटिमाते जुगनू के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा और सम्मान जाग्रत हो उठता था। अपने अन्य पत्रों में उन्होंने भारत में पुर्त्तगाली अधिकारियों की भर्त्सना अवश्य की थी, लेकिन इस बार उन्होंने उन उदार अधिकारियों तथा नाविकों की प्रशंसा की, जिनसे उनको मलक्का तथा जापान में प्रचुर सहायता मिली थी और उनके लिए पुर्त्तगाली राजा को धन्यवाद दिया।

कट्टर आज्ञाकारी

फ्रांसिस ने पांचवां पत्र पौल कामरीनो के नाम लिखा था। पौल संत की अनुपस्थिति में भारत के उपाध्यक्ष थे। यह पत्र संत के दयामय स्वभाव के विपरीत दीखता है। दया और कर्त्तव्य के युद्ध में कर्त्तव्य को ही विजयी होना उचित है। पत्र पाते ही उन्होंने मानुएल मोराइस और फ्रांसिस गोंसालवेज को येसुसमाज से हटा कर गोआ के धर्माध्यक्ष के हवाले कर देने की आज्ञा दी, यहां तक कि उनके लिए संत पौल गुरुकुल का भी द्वार बंद कर देने को कहा। यह आज्ञा कठोर अवश्य थी, लेकिन याद रखना चाहिए कि येसुसमाज का मुख्य व्रत आज्ञाकारिता है। संत फ्रांसिस स्वयं इस व्रत का मूल्य समझते थे। यूरोप से प्रस्थान करते समय उन्होंने अपने अधिनायक इनीगो से आग्रह किया था कि वे भारत में प्रचार की विधि लिख भेजें।

येसुसमाज के संस्थापक संत इनीगो के विचार से वे पूर्ण परिचित थे। समाज के जन्मकाल से ही वे उनके साथ रहे थे, उन्हीं के विचारों के अनुसार उन्होंने अपने जीवन का निर्माण किया था। आज्ञाकारिता उनकी नस-नस में भरी थी। और उनकी हार्दिक इच्छा थी कि अन्य येसुसमाजी भी अपने संस्थापक के उन विचारों से उसी प्रकार प्रभावित हों। इस महान् व्रत की अवज्ञा करनेवालों के लिए उनके हृदय में दया नहीं थी। उन्होंने मोराइस और गोंसालवेज को वीर बेइरा के सहायतार्थ मलुक्का जाने की आज्ञा दी थी। एक वर्ष तक मृत्यु को लगातार अपनी ओर मुंह खोले देख कर उनकी हिम्मत टूट गई और बेइरा की अनुमति के बिना ही वे उन्हें छोड़ कर लौट गए। संत फ्रांसिस के विचार में ऐसे निर्बल हृदयों के लिए सैनिक येसुसमाज में जगह नहीं थी। अध्यक्ष की आज्ञा पाते ही दुनिया के किसी भी कोने में अविलंब जाना येसुसमाजियों का परम कर्त्तव्य है। इन बेचारों को समाज से निकालते समय फ्रांसिस का हृदय कराह उठा। लेकिन कर्त्तव्य के सामने उन्हें हृदय मसोस कर झुक जाना ही पड़ा। पत्र में उन्होंने लिखा, "उन्हें बर्दाश्त करते समय मुझे असीम दुःख हो रहा है। लेकिन इससे भी अधिक डर मुझे इस बात से होता है कि बर्दाश्त के योग्य केवल वे ही नहीं हैं।" प्रदेशाध्यक्ष नियुक्त होने के बाद संत फ्रांसिस का पहला काम यही था।

भारत की स्थिति में बहुत फेरबदल हो चुका था इन दो वर्षों में। मीन-तट के ख्रीस्त सेवकों की सफलता तथा उत्साह देखकर उनका हृदय गद्गद् हो उठा। उनके प्यारे परिया ख्रीस्तीयों की सेवा में उत्साही येसुसामाजी जुटे हुए थे। तुतिकोरिन भी बदल गया था। नए पुर्त्तगाली कप्तान पूर्ववर्ती कप्तानों से भिन्न थे। ओरमुज में गास्पार बेरजे अपनी सेवा के कारण पुर्त्तगालियों, मुसलमानों तथा अन्य सब लोगों की श्रद्धा के पात्र हो गए थे। कोइलोन और कोचिन भी प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहे थे। मलक्का तथा मलुक्का की भी हालत अच्छी ही थी। मोराइस और गोंसालवेज़ के पलायन तथा रेबेरो के देहान्त के बाद वीर बेइरा अपने सामर्थ्य से अधिक परिश्रम कर रहे थे। लेकिन हर्ष के इस उज्ज्वल आकाश में भी विषाद की रेखा थी। एक व्यक्ति फ्रांसिस के कोमल हृदय को टूक-टूक कर रहा था, वे थे अन्तोनियो गोमेज, सन्त पौल गुरुकुल के अध्यक्ष एक सफल वक्ता, लेकिन असफल अध्यक्ष।

गोमेज़ की समस्या

संत फ्रांसिस के भारत से जापान के लिए प्रस्थान करते ही गोमेज़ ने अपनी पुरानी चाल शुरू कर दी थी। फ्रांसिस ने उनके अधिकार को संत पौल गुरुकुल के भीतर ही बांध रखा था, अन्य अधिकार पौल कामरीनो को दिए थे। लेकिन विनम्र और सीधे-सादे कामरीनो से सब अधिकार आत्मसात् करते देर न लगी। धीरे-धीरे उन्होंने पूरी बागडोर अपने हाथ में ले ली और इसका प्रयोग मनमाने ढंग से करने लगे। उनके हृदय में अब तक कोईम्ब्रा का चित्र धूमिल होने न पाया था। वे संत पौल को पुर्त्तगाली संस्था में परिणत करने की धुन में थे। गैर पुर्त्तगालियों को वहां से निकाल कर केवल पुर्त्तगालियों को वहां रख लिया था। येसुसमाज के लिए भी उन्होंने बहुत से पुर्त्तगालियों को, बिना पूरी जांच किए ही भर्ती कर लिया था। उनके ऐसे उद्दंड व्यवहार से अन्य येसुसमाजी क्षुब्ध हो उठे थे। उनके कार्य संत पौल के संस्थापकों द्वारा बनाए नियमों के एकदम विपरीत। यह देख कर राज्यपाल अलफोंसों द नरोन्या को भी हस्तक्षेप करना पड़ा, उन्होंने गरपुर्त्तगाली विद्यार्थियों को वापस बुलाने की आज्ञा दी जिससे गोमेज के स्वाभिमान को भारी ठेस लगी। आवेश में आकर वे अध्यक्ष के पद से इस्तिफा दे श्री लंका चले गए।

लेकिन यहीं गोमेज-कांड का अंत नहीं हुआ। कोचिन में दयासंघ का एक गिरजाघर था। वहीं गोमेज एक विद्यालय खोलना चाहते थे। धर्माध्यक्ष को विवश कर उन्होंने दयासंघ के गिरजाघर पर अधिकार जमा लिया, जिससे दयासंघ के सदस्यों तथा कोचिन के नागरिकों में असंतोष फैल गया। कोचिन में जब इस अन्याय की खबर संत फ्रांसिस को मिली, तो उन्होंने तुरंत उक्त गिरजा-घर को उसके हकदारों को लौटा दिया और यह भी लिख कर दे दिया कि येसुसमाज का उस पर किसी प्रकार का दावा नहीं है, यहां तक कि जब कभी वे वहां मिस्सा का पूज्य बलिदान चढ़ाने अथवा धर्मशिक्षा देने आवें, तब किसी भी दर्शनार्थी के समान वे भी अनुमति के बिना अन्दर नहीं जा सकते। गोमेज के बिगाड़े काम को यों बनाकर फरवरी के अंत में संत फ्रांसिस गोआ की ओर बढ़े।

गोमेज के लंका-गमन के बाद संत पौल के येसुसमाजियों ने मिलकर पौल कामरीनो को अपना अध्यक्ष चुना। इसके कुछ ही दिनों बाद संत पौल के नए अध्यक्ष मेलकियोर नूनेस बारेटो पुर्त्तगाल से गोआ पहुंचे। संत पौल के पुरोहितों ने इस नवागंतुक के कंधों पर संत पौल का शासनभार छोड़ना उचित न समझा। उनके विचार में संत फ्रांसिस का भी यही मत था। गोआ में फ्रांसिस को गास्पार बेरजे, बाल्थाजार गागो और देमिनिक कारवाल्यो से भेंट हुई। इन तीनों को उन्होंने जापान बुलाया था। लेकिन पत्र देर से पहुंचने के कारण उन्हें जहाज न मिल सका था। बेरजे ओरमुज से बहुत से उपहार लेकर आए थे और अब तक जापान जानेवाले जहाज की राह देख रहे थे। जापान से लौट कर वे रोम और पुर्त्तगाल जाकर उस विचित्र देश की चर्चा करना चाहते थे, लेकिन उनकी यह अभिलाषा कभी पूरी न हो सकी। संत फ्रांसिस ने उन्हें संत पौल के अधिष्ठाता के रूप में प्रतिष्ठित किया और बारेटो को अनुभव प्राप्त करने के लिए बसीन भेजा। उद्दंड गोमेज को उन्होंने डिउ के ख्रीस्तीयों की देखरेख करने को कहा। वे गोमेज का मूल्य आंक चुके थे। उन्हें किसी उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर रखना केवल उन्हीं के लिए नहीं, उनके अधीनस्थों के लिए भी खतरनाक होता। फ्रांसिस यथासंभव अपने कर्त्तव्य में चूकना नहीं चाहते थे। वे जानते थे कि अन्तो-

नियो गोमेज सिमोन रोद्रिगेज के लाड़ले हैं। और फ्रांसिस के इस फेरबदल से सिमोन अवश्य असंतुष्ट होंगे; लेकिन रोद्रिगेज को खुश रखना उनका काम नहीं था; यहां तो भारत के येसुसमाजियों के संचालन और कल्याण की बात थी।

गोमेज को अपने व्रत का पालन करना होगा, इस पर सन्त फ्रांसिस सुमेरु जैसे अटल रहे। यदि अन्तोनियो ने इसमें आगापीछा किया तो उसका भाग्य भी वही होगा जो मोराइस और गोंनसालवेज का हुआ था। इसी आशय का एक मुहरबंद पत्र उन्होंने गोआ के अधिष्ठाता को दिया। इसके साथ एक खुला पत्र भी था, जिसमें उन्होंने यह आदेश दिया था कि यदि एक वर्ष के अन्दर किसी भी कारण गोमेज ने डिउ के बाहर कदम रखा, तो वह मुहरबंद पत्र उसे दे दिया जाए। लेकिन फ्रांसिस नहीं चाहते थे कि गोमेज पुर्तगाल लौट जाएं। अतएव उन्होंने बेरजे को आदेश दिया कि उस हालत में उन्हें गोआ के धर्माध्यक्ष के सुपुर्द कर दें। अन्तोनियो के लिए यह असह्य था। इसका उल्लंघन कर वे रोम की ओर अपनी सफाई देने चले, किन्तु उद्दंड सागर के उत्तुंग लहरों ने उनका रास्ता रोक लिया। उनके साथ ही वह जहाज जल-समाधि को प्राप्त हो गया।

संत पौल में

संत पौल में फ्रांसिस के जो दिन बीते, वे उनके तथा उनके बंधुओं के लिए बड़े सुख के दिन थे। संत की संगति में गुरुकुल के बंधुओं को प्रेरणा मिलती रहती थी। और संत अपने भाइयों के बीच सच्चे आनंद का अनुभव करते थे। आठों याम उनका ध्यान ईश्वर पर लगा रहता। ऐसे धर्मवीर के लिए उन लोगों की संगति के बाहर कहां आनंद मिल सकता, जो सदा ईश्वर के कार्यों में निरत रहते हैं। ईश्वर पर उनकी आशा केन्द्रित थी और उनके बंधुओं ने भी तो उसी ईश्वर की सेवा का व्रत लिया था। फ्रांसिस की संगति का जो प्रभाव बंधुओं पर पड़ रहा था, उसकी झांकी हम तत्कालीन नवसिख तेसेइरा के फतवे में पा सकते हैं, "उनके मुखमंडल पर एक अलौकिक मुस्कान सदा खेलती रहती थी... उनकी आंखें स्वर्ग की ओर लगी रहतीं... उनका चेहरा ईश्वर के प्रेम से ऐसा देदीप्य-मान रहता कि दूसरे भी उससे चमक उठते... जब संत पौल के बंधु दुखित या मलिनमुख होते तो, उनके पास जाते। बीमारों के प्रति उनका विशेष दया भाव

रहता ।" तेसेइरा की उम्र उस समय केवल सोलह वर्षकी थी । उसकी निर्मल आत्मा का प्रतिरूप उसकी बाल मुखाकृति पर स्पष्ट था । इस किशोर येसुसमाजी के लिए संत फ्रांसिस के हृदय में विशेष स्थान था ।

संत फ्रांसिस की दीनता, प्रेमभाव तथा प्रार्थना-प्रवृत्ति से सन्त पौल का प्रत्येक सदस्य प्रभावित हुआ । वे अपने भाइयों से अपनी त्रुटियों के विषय में पूछते, उनके आचरण पर ध्यान देते रहने का उनसे आग्रह करते । उनका विश्वास था कि यद्यपि त्रुटियां हमारे अंदर रहती हैं, उनका ज्ञान बहुधा दूसरों को ही होता है। अत: वे ही हमारी अधिक सहायता कर सकते हैं । अपनी कमजोरियों पर विचार कर कोई भी फूल नहीं उठता और उस आनंद की संभावना तो और भी कम हो जाती है, जब वह अपने दुर्गुणों का वर्णन दूसरों के मुंह से सुनता है । फ्रांसिस जानते थे कि अहं पर विजय पाना ही अपने को सिद्धि की ओर अग्रसर करना है ।

संत फ्रांसिस के प्रेमभाव से सभी परिचित थे । उनके हृदय में चन्द इने-गिने लोगों के लिए ही स्थान नहीं था, वह सबों के लिए खुला रहता था, सबों से उनको प्यार था, कोई उससे बचा नहीं था । फ्रांसिस में वसुधैव कुटुम्बकम् वाला सिद्धांत पूर्णरूपेण चरितार्थ होता था । जो भी उनके पास आता, वही सोचता कि संत फ्रांसिस का प्रेम उसी को सबसे अधिक मात्रा में प्राप्त है ।

संत की प्रार्थना-प्रवृत्ति तो हम पहले से ही देखते आए हैं । ज्यों-ज्यों वे अपनी जीवन-संध्या की ओर बढ़ते जा रहे थे, ईश्वर में उनकी तन्मयता और स्पष्ट हो रही थी । अपने एक पत्र में मेल्कियोर नुनेज़ ने लिखा है : वे स्वर्ग में रहते हैं ।' यह सन्त की प्रार्थना-प्रवृत्ति का ही फल था । कोई भी जगह ऐसी न थी जहां उन्हें ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव नहीं होता था । दिन भर दूसरों की सेवा करने या उनकी करुण कहानी सुनने के कारण उन्हें विधिवत् प्रार्थना करने को समय नहीं मिल पाता था, वे रात के एकान्त में अपने प्रभु से प्रेमालाप करते ।

संत की शासन-प्रणाली

संत फ्रांसिस की शासन-प्रणाली भी उल्लेखनीय है । उनका अधिक समय तो एक जगह से दूसरी जगह जाने में ही बीत जाता था । जापान से लौटने के पहले तक वे भारत स्थित येसुसमाजियों के नियंता थे ही, लेकिन अनौपचारिक

रूपसे। अतएव शासक का रूप उनके व्यवहार में निखर नहीं पाया था। वे जो करना चाहते थे, परिस्थिति के कारण वह भी नहीं कर पाते थे, जैसे हम अन्तोनियो गोमेज़ के संबंध में देख चुके हैं। जापान से लौटने पर जो तीन-चार मास उन्होंने भारत में बिताए, उन्हीं में उनकी शासन-प्रणाली पूरी प्रतिभा के साथ दृष्टिगोचर होती है। उनका शासन दृढ़ अवश्य था जैसे मोराइस, गोसालवेज़ और गोमेज के दुर्भाग्य से स्पष्ट है। लेकिन उनकी दृढ़ता में भी प्रेम और दया का सामंजस्य था। किसी भी कुशल शासक में इन दोनों की आवश्यकता अनिवार्य है। पहले के अभाव में शासनकार्य असफल रह जाता है। और दूसरे की कमी से शासक क्रूर तानाशाह बन जाता है। यहां येसुसमाज के प्रति प्रेम और विश्वस्तता का प्रश्न उठता, वहां संत फ्रांसिस शिला-खंड की भांति अटल बने रहते। जहां सेवा तथा परोपकार की बात आती, वहां उनका हृदय माता की तरह कोमल और दयार्द्र बन जाता।

संत फ्रांसिस को भारत में अब और अधिक दिन नहीं रहना था। चीन उनको बुला रहा था, और कौन जानता था कि उधर से लौट कर आएंगे या नहीं और आवेंगे तो कब तक। येसुसमाज के भारतीय भूखंड का भार उन्होंने अभी तक अपने कंधों पर लिया था। जाने के पहले कुछ उपशासक की व्यवस्था करना अत्यावश्यक था। बेरजे के लौट आने से ओरमुज में कोई येसुसमाजी नहीं रह गया था, गुन्दीसाल्वो रोद्रिगेज को सन्त फ्रांसिस ने बेरज़े की जगह भेजा और अपनी अनुपस्थिति में उन्होंने भारत स्थित येसुसमाजियों का अध्यक्ष नियुक्त किया। मीन-तट की सुव्यवस्था उन्होंने पहले ही कर दी थी। समृद्धिशाली बसीन का महत्त्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था। वहां भी एक कुशल कार्यकर्त्ता की आवश्यकता थी। उसके लिए उन्होंने मेल्कियोर नूनेज़ बारेटो को चुना था। इन शासकों के पथ-प्रदर्शन के लिए उन्होंने कुछ उपदेश और परामर्श भी लिख छोड़े। ये परामर्श क्या हैं, भारत में बिताए दस वर्षों के अनुभव का ज्ञान-भंडार है जिसमें विद्वत्ता, व्यवहारिकता और दूरदर्शिता का अनुपम सामंजस्य है।

बसीन से काफी आमदनी होती थी, इसका सीधा जरिया था कर वसूली। बारेटो को कर वसूली शोभा नहीं देती थी, इसलिए संत फ्रांसिस ने उन्हें इस घृणास्पद कार्य को किसी ईमानदार पुरुष पर छोड़ देने का आदेश दिया। आध्यात्मिक

कार्य जिनका पेशा है, जिसके लिए वे इतनी लंबी तैयारी करते हैं, उन्हें अपना समय खाता-वही में विताना अपनी पूर्व अर्जित विद्या तथा अनुभव का उपहास करना है। फिर दानशीलता के विना धनोपार्जन से क्या लाभ। वसीन की तरह गोआ की आर्थिक दशा चिन्ता से मुक्त न थी। वेरजे को आटा-दाल की समस्या हल करनी पड़ती थी। इस हालत में अपनी जेव देखे विना दूसरों के प्रति अति उदार वन जाना भी बुद्धिमानी नहीं। वेरजे अकेले नहीं थे, उनके ऊपर गोआ वंधुओं की जीविका का भार था और संत पौल गुरुकुल भी ऋण से दवा जा रहा था। उस ऋण का भुगतान किए विना असंख्य असहायों तथा दरिद्रों की मदद करना उचित नहीं। जहां तक हो सके, खर्च में कमी करना ही सवों का ध्येय होना चाहिए। यदि संस्था के सदस्यों के कपड़े धोने के लिए वेरजे एक ऐसे धोवी का प्रवंध करते, जो गुरुकुल में ही रहा करता, तो इसका आर्थिक वोझ कुछ हल्का हो जाता। वेरजे के कंधों पर शारीरिक आवश्यकताओं से भी अधिक भारी उत्तरदायित्व था। वे भारत स्थित येसुसमाजियों के अध्यक्ष नियुक्त हुए हैं, अपने शासन-कौशल द्वारा इस समाज की उन्नति पर भी उन्हें विशेष ध्यान देना पड़ेगा। कोई भी संस्था अपने विधान पर चले बिना अपनी लक्ष्यसिद्धि में सफल नहीं हो सकता। येसुसमाज भी इस सिद्धांत के अधीन है, जैसे पवित्र गिरजा का अन्य कोई समाज। हरएक धर्मसमाज को अपनी लक्ष्यसिद्धि का विशेष साधन होता है। येसुसमाज का विशेष साधन है आज्ञाकारिता। अतः अवज्ञाकारी व्यक्ति इस समाज के योग्य नहीं हो सकते। यदि दुर्भाग्यवश कोई सदस्य अवज्ञाकारी निकल गया तो उसका निष्कासन अनिवार्य है। समाज की वृद्धि नए सदस्यों पर ही निर्भर करती है। फलतः उनके चुनाव में बड़ी सावधानी की जरूरत होगी; साधारणतः कच्ची उम्रवालों तथा मंदवुद्धि व्यक्तियों को भर्ती करना समाज की जड़ खोदना होगा।

अधीर यात्री

संत फ्रांसिस के अनेक जीवनी लेखकों ने अपने नायक को अधीर यात्री की संज्ञा दी है। यह सच है कि उनके श्रमकाल के दस वर्षों का बड़ा भाग यात्रा में ही वीता है। लेकिन यह समय का तकाजा था, जो अनसुनी नहीं किया जा

सकता था। वे भलीभांति समझते थे कि एक जगह रहकर ही सुव्यवस्थता शासन चलाया जा सकता है। उन्होंने वेरजे को तीन वर्षों के लिए गोआ के बाहर कदम नहीं उठाने की कड़ी आज्ञा दी। वेरज़े के उत्तराधिकारी का भी प्रवंध उन्होंने कर दिया था। यदि उनके चीन से लौटने के पूर्व ही वेरजे इस असार संसार से सिधार गए, तो शासन-सूत्र लंका स्थित मानुएल मोराइस के हाथ में जाएगा। और मोराइस के बाद बारेटो का नाम आएगा और यदि यूरोप से कोई इस पद के लिए आ गया तो उसकी वहाली कर देनी होगी। संत अनिश्चित संयोग पर अपने प्यारे भारत को छोड़ना नहीं चाहते थे।

धर्मोपदेशकों को संत के निर्देश

धर्मोपदेश के विषय में भी संत फ्रांसिस ने अपने उपशासकों को लाभप्रद परामर्श दिए। इस कार्य के लिए सवों में दिलचस्पी और प्रेम होना चाहिए। और सफल उपदेशक बनने के लिए सवों को प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन सफल उपदेशक या आध्यात्मिक जीवन खतरे से खाली नहीं रहता। दूसरों को धर्मज्ञान के प्रकाश में लाते समय, वह स्वयं अहंकार और अभिमान के अंधकार में भटक सकता है। धर्मोपदेशक को अपने कार्य में सफल बनने की कोशिश करते हुए, दीनता का भी सतत अभ्यास करना चाहिए। यदि हमारे कार्य का फल अच्छा हो, तो उसका श्रेय ईश्वर को देना चाहिए। ऐसे महान् कार्य को सम्पन्न करते समय हमें अपने श्रोताओं का ध्यान और विचार करना चाहिए कि ईश्वर की कृपा से ही वे हमारी बातें श्रद्धापूर्वक सुन रहे हैं और उन्हीं की कृपा से हम सफल उपदेशक बन सकते हैं। इस कार्य को दीन हृदय से करन के लिए, इस वात पर भी विचार करना लाभदायक है कि नरक कितने सफल उपदेशकों से भरा पड़ा है।

फ्रांसिस ने एक बड़े मार्के की बात बताई। पारिवारिक कठिनाइयों से सबका पाला पड़ता है। कभी-कभी ऐसा समय आता है कि पति-पत्नी में झगड़ा तकरार हो जाता है। ऐसे अवसर पर आध्यात्मिक निर्देशक को सावधानी से काम लेना चाहिए। "सदा पति-पत्नी में मेल-मिलाप रखने की चेष्टा करते रहिए...यदि बहुत से लोग इकट्ठे हों तो झगड़े का दोष पुरुष पर ही मत

लगाइए, यद्यपि बात ऐसी ही क्यों न हो। लेकिन उसे अपना दोष स्वीकार करने के लिए प्यार और विनय से समझाइए।"

प्रेम, दया और उदारता, ये ही संत फ्रांसिस के मूल मंत्र थे। भारत के लोगों से आप बलात् कुछ भी नहीं करा सकते। लेकिन आग्रह द्वारा वे सब कुछ करेंगे। अस्पतालों में रोगियों को देखने जाना, कैद में बंदियों को सान्त्वना देना, ये केवल खीस्त सेवकों का नहीं, सभी आम खीस्तीयों का गुण है। इसके बिना कोई सच्चा खीस्तीय कहलाने के योग्य नहीं हो सकता। बारेटो को बसीन में धन की कमी नहीं थी। जो धनी हैं उनका फर्ज होता है कि अपने गरीब भाइयों की सहायता करें। मीनका तट, गोआ, कोइलोन, आदि के खीस्तीय बसीन के समान भाग्यशाली नहीं थे। उनकी सेवा करना बारेटो का कर्त्तव्य है। उन्हीं का नहीं, उन्हें जापान और मलुक्का के निवासियों का भी हाथ बंटाते रहना चाहिए। संत फ्रांसिस जापान और मलुक्का के खीस्त सेवकों की विपदाएं सह आए थे। उन्हें पर्याप्त भोजन भी प्राप्त नहीं हो पाता था। उनके पास खाद्यान्न भेजते रहने की सलाह उन्होंने बेरजे को दी। प्रेम और उदारता के वशीभूत होकर ही उन्होंने अलफौंसो सिप्रियन जैसे तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध को डांटा भी। सिप्रियन और सां थोमे के विकर में किसी कारणवश कुछ मनमुटाव चल रहा था। फ्रांसिस ने उस वयोवृद्ध को विकर से नम्रतापूर्वक क्षमा मांगने को बाध्य किया। वे जानते थे कि इस आज्ञा से सिप्रियन के स्वाभिमान को ठेस लगेगी। उन्हें समझाते हुए लिखा, "यदि आप को मालूम होता कि कैसे प्रेम से प्रेरित होकर मैं यह सब आपको लिख रहा हूं, तो आप रात या दिन कभी भी मुझे अपने हृदय से नहीं बिसारते।"

वे स्पेनियों की प्रवृति से भी पूर्ण परिचित थे। स्पेनी नाविक मेक्सिको होकर जापान और चीन का रास्ता खोजने में प्रयत्नशील थे। वे पुर्त्तगालियों के समान व्यापार के अभिलाषी नहीं थे, उन्हें साम्राज्य की भूख थी। आक्रमणकारियों में विनम्रता और प्यार कहां? इन दो गुणों के बिना किसी भी विदेशी को चीन या जापान जैसे देशों में दो दिन भी टिकना असंभव था। स्पेनी नाविक अपनी जान की बाजी लगाकर अपने कार्य में सफल होना चाहते थे और फ्रांसिस उन्हें उस खतरे से बचाने के लिए व्यग्र थे। उन्होंने अपने चिर मित्र सिमोन

रोद्रिगेज से निवेदन किया कि आप पुर्त्तगाली राजा के जरिए स्पेनी राजा को इस परिस्थिति से अवगत करा दें।

भारत के शासन की वागडोर सुयोग्य हाथों में सौंप, छोटी से-छोटी वात का प्रवंध कर संत फ्रांसिस अपने अंतिम अभियान के लिए तैयार हुए। प्रस्थान के कुछ दिन पहले से ही वे अपने वंधुओं को रात के समय उपदेश देने लगे। उनके शव्दों में ऐसी शील तथा शक्ति थी कि वे सवों के हृदय प्रज्ज्वलित कर देते, उन्हें नया वना देते। उनके अंतिम उपदेश में एक ही तार वार-वार झंकृत हो रहा था, आज्ञाकारिता।

ग्यारहवां परिच्छेद

चीनी अभियान

पुण्य वृहस्पतिवार के दोपहर को अंतिम मिलन का समय आया। गिरजा में परम प्रभु की पावन देह की आराधना हो रही थी। सब के सब अपने प्रिय पिता संत फ्रांसिस के लिए प्रार्थना करते थे, जो चीन का बंद दरवाजा खटखटाने के लिए अपने प्रियजनों तथा भारत भूमि से विदा हो रहे थे। संत पौल का हर एक प्राणी फ्रांसिस के साथ चलने को तैयार था। लेकिन इने-गिने भाग्यशाली लोगों को ही जहाज तक उनका साथ देने का अवसर मिला। सबों के दिल में केवल एक ही प्रार्थना थी, प्रभु वह दिन निकट आवे, जब सबों को अपने प्रिय पिता फ्रांसिस के साथ चीन में प्रवेश करने का सौभाग्य प्राप्त हो। अभी तक यह संभव नहीं था, क्योंकि भारत को उनकी आवश्यकता थी।

संत फ्रांसिस के साथ कुल आठ आदमी थे। बुंगो के राजदूत ने खीस्तमत के सिद्धांतों से प्रभावित होकर बपतिस्मा ग्रहण कर लिया था, अब वे लौरेन्जो परेरा कहलाते थे। संत फ्रांसिस ने जापान से लौटते समय जहाज पर ही उन्हें धर्मशिक्षा देना शुरू कर दिया था। परेरा के साथ पेद्रो द अलकासोवा और एदुआर्द द सिल्वा और आंजीरो के दो साथियों को संत फ्रांसिस जापान भेज रहे थे। अलकासोवा और द सिल्वा का अभी तक पुरोहिताभिषेक नहीं हुआ था। वे अपने साथ बालथाजार गागो, अलवारो फरेरा, चीनी अन्तोनियो और खीस्तोफोर को चीन ले जा रहे थे। फरेरा को अब तक अलकासोवा और द सिल्वा की तरह ही पुरोहित का पद नहीं मिला था। अन्तोनियो चीनी थे, लेकिन आठ साल से संत पौल में रहने के कारण उन्हें अपनी मातृभाषा का कुछ भी ज्ञान नहीं रह गया था। खीस्तोफोर मलयाली थे।

फ्रांसिस मलक्का से जापान के राजा के लिए जो कीमती उपहार लेते गए थे, उनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। अब वे जापान के किसी भी दाइमियो से

अत्यधिक महान, चीन के सम्राट से मिलन जा रहे थे। उपहारों की संख्या और कीमत पहले से कई गुणा अधिक थी। और मुंज से वेरजे द्वारा लाए कीमती कपड़े, मखमल, रेशम, कालीन और पवित्र वेदी की समस्त सामग्री वे अब चीन ले जा रहे थे। उन्हें पूरी आशा थी कि राजदरबार में पहुंच कर उन्हें खीस्तयाग सम्पन्न करने का अधिकार अवश्य प्राप्त होगा।

चलते-चलाते संत फ्रांसिस अपने मित्र कोस्मस आनेस से मिलने गए। वृद्ध आनेस भी अपने अंतिम प्रस्थान की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने संत से पूछा, "अब हम फिर कब मिलेंगे?" संत फ्रांसिस ने उत्तर में कहा, "जोसेफात की घाटी में, अर्थात् संसार के अंतिम दिन।" क्या उन्हें ज्ञात था कि वे भारत से ही नहीं, इस संसार से सदा के लिए विदा होने पर हैं। उनके कार्यों से तो ऐसा ही आभास मिलता है।

प्रभु के पुनरुत्थान के पर्व दिन, सुखी गोआ से संत फ्रांसिस अपने आठ साथियों के संग चीन की ओर चल पड़े। कोचिन में उन्हें कुछ चिन्ताजनक समाचार मिले। पौल द वाल्ले की मृत्यु मीन-तट पर हो गई थी। हेनरी हेनरीकेस पहले ही भार से लदे थे, अब वाल्ले के देहावसान के बाद इनका भी कार्य उन्हीं को संभालना पड़ा। फ्रांसिस के प्यारे परिया लोगों को और भी खीस्तसेवकों की आवश्यकता थी। फ्रांसिस ने आदेश दिया कि एक और येसुसमाजी को मीन-तट पर भेजें। कोलोन में लांसिलोट्ट अपने पचास विद्यार्थियों के साथ मिट्टी के घर में फूस की छप्पर के नीचे अभावग्रस्त जीवन बिता रहे थे। इस उत्साही लेकिन अस्वस्थ खीस्तसेवक की अभावपूर्त्ति के लिए फ्रांसिस ने ओरमुज और बसीन जैसे धनी नगरों से धन की याचना की। लगभग अप्रैल की चौदहवीं तारीख को फ्रांसिस ने कोचिन स्थित अन्तोनियो एरेदिया को एक लिखित उपदेश भेजा, जिसमें उन्होंने सबों के साथ सद्भावना, सहृदयता तथा मित्रता बनाए रखने के महत्त्व पर जोर दिया, विशेषतः दया संघ के बंधुओं के साथ। उन्होंने आपस में एकमत होकर गरीबों की सहायता करते रहने का परामर्श दिया और सहायता इस प्रकार हो कि उन बेचारों के स्वाभिमान को ठेस न लगे। उत्साह तथा उदारता के साथ उनकी शारीरिक और आध्यात्मिक आवश्यकताएं पूरी करना येसुसमाजियों का कर्त्तव्य है।

श्री लंका के दक्षिण हिन्द महासागर से होता हुआ जब संत फ्रांसिस का जहाज बंगाल की खाड़ी में पहुंचा, तो उसे आंधियों का सामना करना पड़ा। लहरों के धक्कों से प्राण बचने की आशा न रही। नाविक जहाज को हल्का करने के अभिप्राय से माल-असबाब समुद्र में फेंकने लगे। मृत्यु को इतना समीप देख कर रणभूमि में वीरता दिखानेवाले पुर्त्तगाली सिपाही भी पत्तों की तरह कांपने लगे। उस जहाज पर फ्रांसिस ही ऐसे व्यक्ति थे जिनके चेहरे पर उस अशान्त वायुमंडल में भी शान्ति विराज रही थी। उन्हें मिट्टी के पुतले निर्बल मानव के बल पर विश्वास नहीं था, उनका जीवन-रक्षक स्वयं प्रकृति के सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर थे। जहाज के सब यात्री भयग्रस्त इधर-उधर कोनों में पड़े थे, कोई अपने भाग्य को कोसता था, कोई ईश्वर को फटकारता था। उनकी ऐसी हालत देख फ्रांसिस उन्हें उत्साहित करते हुए उनमें आशा का मंत्र फूंकते फिरते थे। लेकिन तूफान की भयंकरता जरा भी कम नहीं हुई। क्रोध से तिलमिलाती लहरें खूंखार शेर के समान जहाज पर झपटतीं। तब फ्रांसिस जहाज के ऊपरी भाग पर गए, अपनी जेब से पवित्र अवशेष निकाले और ईश्वर का नाम ले उन्हें समुद्र में फेंक दिया। जहाज की रक्षा के लिए उन्होंने ईश्वर की दुहाई दी और पुनः प्रार्थना में तल्लीन हो गए। ईश्वर ने अपने भक्त की प्रार्थना सुनी, जहाज पर झपटती लहरें शान्त हो गईं। यात्रियों के सूखे शरीर में प्राण लौट आए और उनके निराश हृदयों में आशा का संचार हुआ।

शंका और पराजय

वंग सागर की विकराल लहरें तो शान्त हो गईं, लेकिन सन्त फ्रांसिस का चित्त शान्त न हुआ। उनके हृदय में उथल-पुथल मचा रह गया उस एक मास की समुद्र यात्रा भर, जिस पर मानों प्रार्थनाओं का भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ सका। ६ मास पूर्व जब वे दिएगो परेरा के साथ सांचन से मलक्का लौट रहे थे, तभी उन्हें पहली बार पराजय का पूर्वाभास मिला। उन्होंने परेरा को सुना कर इसकी ओर संकेत भी किया था। अब दिएगो की नियुक्ति राजदूत के पद पर हो चुकी थी। इसका प्रमाणपत्र और बहुमूल्य उपहार ले संत अपनी महायात्रा शुरू कर रहे थे। पुनः वह शंका जाग उठी, पराजय का डर उन्हें फिर घेरने लगा। उठते-बैठते, सोते-जागते, सर्वत्र उन्हें भवितव्य का हाहाकार सुनाई देने लगा।

संत फ्रांसिस के मलक्का आने पर नगर के कप्तान दौन पेद्रो, उनके भाई मलक्का सागर के महा कप्तान आलवारो द गामा और पेरेज़ ने उनका हार्दिक स्वागत किया। उस समय दिएगो परेरा वहां उपस्थित न थे। वे अपनी चीन यात्रा के लिए पर्याप्त सामान बटोरने जावा गए थे। एक सप्ताह के अन्दर ही एक जहाज चीन के लिए रवाना हो गया और संत फ्रांसिस ने अपनी जापान मंडली को इसी पर विदा कर दिया। अपने पहले के आयोजन में कुछ फेर-फार करना पड़ा। उन्होंने बालथजार गागो को चीन न भेज कर जापान भेजा। यामागूची में उनकी सख्त जरूरत थी, जहां तोरेस और फर्नान्दिस अपने कठिन परिश्रम द्वारा उनके लगाए वृक्ष सींच रहे थे। परेरा के इन्तजार में संत फ्रांसिस मलक्का ठहरे रहे। तव तक नगर में गरीबों तथा मरीजों की सेवा का अच्छा अवसर मिला। मलक्का में महामारी फैली हुई थी जिससे बड़ी तादाद में लोग इस संसार से कूच कर रहे थे। उसका रूप इतना भीषण था कि बंदरगाह में लगे जहाज के नाविक भी इसकी चपेट में पड़ कर कालकवलित होने लगे। अस्पताल में तिल रखने की जगह न थी, रोगियों के लिए जहाजों पर ही प्रवंध करना पड़ा। मई की चिलचिलाती धूप में ही सन्त फ्रांसिस रोगियों की सेवा में नगर का चक्कर काटते और अपनी सुमंत्रणाओं से उन्हें अंतिम यात्रा के लिए तैयार करते रहे। महामारी का प्रकोप इतना विकराल था कि अथक परिश्रम करने पर भी एक ही जहाज पर तीस से अधिक रोगी चल बसे।

दिएगो परेरा जब जावा से चीन के राजा के लिए अमूल्य धनराशि लगाकर तरह-तरह के उपहार लिए मलक्का लौटे, तो संत फ्रांसिस की शंका का आधार प्रगट होने लगा। परेरा की चीन-यात्रा में अनेकों प्रकार की बाधाएं उत्पन्न होने लगीं। संत फ्रांसिस के अंतरंग मित्र और नाविक शिरोमणि वास्को द गामा के सुपुत्र, दौन पेद्रो द सिल्वा की अवधि समाप्त हो चुकी थी। उनकी जगह उनका छोटा भाई दौन आलवारो द अताइदे दो ही तीन महीनों में अपने भाई से कप्तान का पद ग्रहण करनेवाले थे। इस बीच वे मलक्का सागर के महाकप्तान के पद पर नियुक्त किए गए थे। महाकप्तान के अधिकार के अधीन

वे ही जहाज होते, जो मलक्का से छूटते थे। लेकिन ऐसा क्षुद्र अधिकार भी संत-फ्रांसिस की योजना को असफल करने को पर्याप्त था।

धैर्य की कसौटी

आल्वारो का स्वभाव उनके अग्रज से भिन्न था। पेद्रो के पास तो अधिक धन नहीं था, लेकिन उनका हृदय धनी था। उनकी उदारता की प्रशंसा करते हुए संत फ्रांसिस ने अपने एक पत्र में लिखा है, "मैंने यूरोप से आने पर मलक्का के कप्तान दौन पेद्रो के समान उदार हृदय कहीं नहीं देखा है।" लेकिन उनका अनुज आल्वारो उनसे कितना भिन्न था। जहां एक ओर वास्को द गामा के सुपुत्र दौन पेद्रो का हृदय उदारता से फूल रहा था, वहां उसी योग्य पिता के अयोग्य पुत्र आल्वारो का हृदय ईर्ष्या की दहकती आग से संतप्त होकर संकीर्ण होता जा रहा था। दिएगो परेरा जैसा एक साधारण व्यापारी पुर्त्तगाल के राजा का दूत बन कर चीन जाए, यह कदापि नहीं हो सकता था। वह हर तरह से उनकी यात्रा को विफल करने को उद्यत हो गया। शायद उसे संत फ्रांसिस से भी द्वेष था। १५४२ में जब भारत के भावी राज्यपाल दौन मार्टिन अलफौंसो द सुजा उसी अल्वारो को गिरफ्तार कर अपने साथ सोकोत्रा से गोआ ला रहे थे, तब संत फ्रांसिस भी उसी कुलाम पर यात्रा कर रहे थे। संत और राज्यपाल में जो मित्रता थी, उसे अल्वारो पहले देख चुका था। शायद उसी का बदला वह लेना चाहता था।

आरंभ में आल्वारो की ईर्ष्याग्नि भीतर ही भीतर सुलग रही थी, उसकी एक भी चिनगारी बाहर नजर नहीं आती थी। सांताक्रूज को उसने मलक्का न छोड़ने की आज्ञा दे दी; क्योंकि उसके कथनानुसार पुर्त्तगाली सत्ता की रक्षा के लिए मलक्का को उसकी आवश्यकता थी। लेकिन तथाकथित आवश्यकता की पोल खुलते देर न लगी। महाकप्तान का असली अभिप्राय प्रकट हो गया। लेकिन सब आग्रह और मिन्नतें व्यर्थ हुईं। महाकप्तान ने दिएगो के जहाज पर अधिकार कर लिया, उसके सिपाही सांताक्रूज पर पहरा करने लगे। और जहाज़ का हाल निकाल लिया गया। उसके अग्रज पेद्रो का भी अनुरोध बेकार सिद्ध हुआ। हार कर तत्कालीन कप्तान पेद्रो ने फ्रांसिसको आल्वारेज नामक एक

शाही न्यायकर्त्ता की शरण ली और अपने भाई पर अनधिकार हस्तक्षेप करने का दोष लगाया। वह भी व्यर्थ हुआ। उधर अल्वारो भी अकेला नहीं था। उसके भी बहुत से पिछलग्गू थे जो नए कप्तान की तीन साल की अवधि में अपना उल्लू सीधा करना चाहते थे। ऐसे अवसर में भावी कप्तान का साथ न देना उससे झगड़ा मोल लेना था। परेरा ने भी कप्तान को मनानें की बहुत कोशिश की। उसके सिपाहियों के लिए मोटी रकम छोड़ जाने का भी वचन दिया। बहुधा देखा जाता है कि प्रतिद्वन्द्वी का सच्चरित्र ईर्ष्या कान्ड में घी का काम करता है। अल्वारो की भी यही बात थी।

सब उपाय बेकार जाते देख संत फ्रांसिस को अब अपने अंतिम शस्त्र का सहारा लेना पड़ा। एक दशक पूर्व वे यूरोप से संत पिता का राजदूत बन कर चले थे। इन दस वर्षों में उन्हें इस अधिकार का उपयोग करने का मौका नहीं आया था। अब हारकर उन्हें वह करना पड़ा जो उनकी उदार प्रकृति के प्रतिकूल था। यदि अल्वारो को पुर्त्तगाल के राजा का डर नहीं रहा तो पवित्र गिरजा के सर्वोच्च नायक के प्रति तो श्रद्धा अवश्य होगी, यह सोच कर संत फ्रांसिस ने एक मसविदा तैयार किया, जिसमें उन्होंने अपनी उपर्युक्त नियुक्ति का उल्लेख करते हुए मलक्का के विकर श्रद्धेय सोआरेस से अनुरोध किया कि इस हठधर्मी को अपना अधिकार त्याग देने को बाध्य करें। सन्त पिता के दिए पत्र में उन सभी के लिए सख्त सजा निर्धारित की गई थी,जो किसी प्रकार उनके राजदूत के कार्यों में बाधा डालें। लेकिन संत पिता के श्राप के पात्र बनने और पवित्र गिरजा से च्युत किए जाने की धमकी का भी कोई प्रभाव अल्वारो पर नहीं पड़ा।

न्यायाधीश फ्रांसिसको आल्वारेज ने इस बात की ओर भी संकेत किया कि परेरा को रोकने से महा कप्तान को राजद्रोह का दंड भुगतने की नौबत आ सकती है, क्योंकि गोआ के राज्यपाल का अपमान पुर्त्तगाल के राजा का अपमान है। यह सुन कर अल्वारो और भी आगबबूला हो गया। राज्यपाल का नाम जैसे ही उसके कानों तक पहुंचा, वह जमीन पर थूक कर पैर पकटते हुए गरज उठा, "राज्यपाल और उसके आदेश का मैं इतना ही आदर करता हूं।" धर्मच्युत करने के पहले उसने संत फ्रांसिस को अपनी नियुक्ति का प्रमाण-पत्र दिखलाने को कहा। उसका उत्तर संत फ्रांसिस के पास नहीं था। सीधे सादे संत को

क्या पता था कि कभी भी उन्हें अपने प्रमाणपत्र दिखलाने की आवश्यकता आ पड़ेगी और यह भी एक पुर्त्तगाली को। गोआ में पैर रखते ही उन्होंने अपना प्रमाणपत्र गोआ के धर्माध्यक्ष को दिखाया था और तब से वह कागजात गोआ में ही पड़ा रह गया था। प्रमाणपत्र के बिना ही वे संत पिता के राजदूत की हैसियत से चीन के सम्राट् से मिलने जा रहे थे। जब आधा रास्ता तय हो गया, तब प्रमाणपत्र की अचानक जरूरत आ पड़ी। शायद चीन की यात्रा स्थगित हो सकती थी लेकिन वे इसके पक्ष में नहीं थे। मलक्का में उनका रहना भी असह्य होता जा रहा था। अल्वारो के पिछलग्गुओं के व्यंग और अशिष्ट शब्दों से उनके कान पके जा रहे थे। वे विधर्मी सड़कों और गलियों में खड़े होकर संत फ्रांसिस की राह देखा करते और उन्हें देखते ही गालियों की बौछार करने लगते। जो भी फ्रांसिस भारत में पवित्र पिता की संज्ञा पा चुके थे, वे अब कुकर्मी और दुष्ट कहलाने लगे।

घोर निराशा

परिस्थितियों से पराजित तथा विरोधियों के उपद्रव से निराश होकर संत फ्रांसिस ने अपना हृदय ईश्वर की ओर उठाया। अपने जीवन के पृष्ठों पर नजर दौड़ाई। विनम्र तथा दीन संत ने इस असफलता का दोषी अपने को ही ठहराया। दिएगो परेरा की हालत पर विचार करते ही उनका कलेजा बैठ जाता था। बेचारे परेरा ने अपनी सारी संपत्ति बेच कर चीन के सम्राट् के लिए उपहार खरीदे थे। उसके हृदय पर क्या बीतता होगा। अपनी विपदाओं का खयाल न कर उन्होंने दिएगो के पास लिखा, "मेरे और आपके पाप इतने जघन्य हैं कि ईश्वर भी हमारी सेवा स्वीकार नहीं करते। इस दुर्भाग्य के असली कारण हमारे पाप ही हैं। मेरे पाप इतने भयंकर हैं, उनके कारण ही हमारा आयोजन मिट्टी में मिल गया और आप आज बर्बाद हो गए। निस्सन्देह अपने और अपने साथियों के विनाश का दोषी आप मुझे ठहरा सकते हैं। मेरे ही लिए आपने चीन के राजा के उपहार में चार-पांच हजार "परदाओ" लगाए। आप का वह धन भी बर्बाद हो गया, जहाज भी हाथ से निकल गया, सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई, इस क्षति की जवाबदेही मेरे ही सिर पर है। मैं आपसे विनय करता हूं, आप यह विचार

करें कि मेरी इच्छा सदा आपकी और ईश्वर की सेवा करने की ही थी। यदि बात ऐसी नहीं होती, तो मैं अब तक दुःख से मर गया होता। आप कृपया मुझसे मिलने न आएं, नहीं तो आपको देखते ही मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा।"

संत फ्रांसिस के लिए मलक्का में रहना असंभव हो गया। उनके बैरियों का तो उन पर आक्रमण होता ही रहता था, अब मित्रों से भी उनको दुःख मिलने लगा। उन्हें देखते ही उनका कोमल हृदय चीत्कार कर उठता। उनसे दूर रहने में ही गुंजाइश थी। मलक्का छोड़ वे सान्ता क्रूज पर चले गए। लेकिन वे परेरा को खाली हाथ अंधेरे में ढकेल देना नहीं चाहते थे। उनके विचार में उन्हीं के कारण परेरा बर्बाद हो गए थे। अतः उन्होंने अपने इस विश्वस्त मित्र के लिए अपने अन्य मित्रों द्वारा पुर्त्तगाल के राजा से सिफारिश की, कि बिगड़ी तकदीर को फिर से बनाने में उनको शाही सहायता मिले।

पेद्रो द सिल्वा का कर्ज संत फ्रांसिस के सिर पर अब तक था। इससे उऋण होने का आदेश उन्होंने बेरजे को दिया। पेद्रो द सिल्वा धनी नहीं थे, फिर भी उन्होंने दिल खोल कर तन मन और धन से संत की सहायता की थी। संत फ्रांसिस जापान में मेन्देज़ पिन्टो नामक एक धनी व्यापारी से यामागुची के गिरजा घर के निर्माण के लिए तीन सौ कूज़ादो कर्ज लिया था। उसे मलक्का लौट कर पेद्रो से ही लेकर चुकाया था। इसी की भरपाई करने का आदेश अब वे बेरज़े को देना चाहते थे।

जून के अन्त में मलुक्का के अवकाश प्राप्त कप्तान बेरनार्दलिन द सुज़ा के साथ संत फ्रांसिस के प्यारे मित्र बेइरा मलक्का पहुंचे। पांच वर्षों के बाद ये दो ख्रीस्तवीर मिल रहे थे। बेइरा की सैनिक वीरता का समाचार संत को पहले ही मिल चुका था, उनसे मिलने की उन्हें बड़ी लालसा थी, लेकिन आशा नहीं। मलक्का के कष्टमय जीवन से बेइरा का स्वास्थ्य बिगड़ चुका था। अत्याचारों से उनका मष्तिष्क भी खराब होता जा रहा था। तेरनाते के सुल्तान ने अपने पुत्र को ख्रीस्तानुयायी बनाने का वचन तो दिया था, लेकिन अब तक उसे पूरा नहीं किया था, न भविष्य में उसे पूरा होने की आशा थी। जिलोलो के अधिकार में चले जाने के कारण मोरो निवासियों ने ख्रीस्त धर्म को तिलांजलि दे दी थी।

लेकिन पुर्त्तगालियों की सहायता पा मुक्त होते ही उन्होंने ईश्वर की कृपा से अपनी भूल पर पश्चात्ताप कर लिया था।

अन्ततः चीन को प्रस्थान

अन्त में अल्वारो द अताइदा की आँखें खुलीं, लेकिन पूरी तरह नहीं। उसकी काली करतूतें घुन की तरह उसकी आत्मा को कुतरने लगीं और पुर्त्तगाली राजा के अवश्यंभावी प्रकोप के विचार मात्र से उसका हृदय कांपने लगा। सांताक्रूज को उसने चीन जाने तो दिया, लेकिन परेरा को किसी भी हालत में उस पर यात्रा करने की अनुमति नहीं दी; वदले में उसके २५ विश्वस्त सैनिक जहाज के रक्षार्थ जा रहे थे। राखों से ढंकी उसकी ईर्ष्याग्नि अव तक सुलग रही थी। यह अंतिम अवसर देख कर संत फ्रांसिस प्रस्थान के लिए तैयार हो गए। वे खाली हाथ जा रहे थे, पुर्त्तगाल के राजदूत का विना उपहार लिए जाना व्यर्थ था, और चीन पहुंचना भी तो कोई निश्चित नहीं था। पुर्त्तगाली जहाज सांचन तक पहुंच सकता था। वहां से कान्तन पहुंचने में लाखों आपदाएं थीं। कांतन के चारो ओर वीस फुट चौड़ी और पच्चीस से चालीस फुट ऊंची चहारदिवारी थी। उन ६ मील लंवी दीवारों में प्रवेश के लिए कुल ६ दरवाजे थे। अवैध रूप से अन्दर घुसने के प्रयास में अव तक पचास पुर्त्तगाली काल के गाल में जा चुके थे और कितने कैद में पशु का जीवन बिता रहे थे। कांतन में हर एक विदेशी के सिर पर कैद और मृत्यु मंडराती थी, वहां संत फ्रांसिस जान पर खेल कर अवैध तरीके से जाने को प्रस्तुत थे। खीस्त की प्रेम-शिक्षा के प्रचार के लिए कोई भी जगह वंद नहीं की जा सकती।

जापानी योहन को मलक्का में ही छोड़, चीनी अन्तोनियो फरेरा और मलयाली खीस्तोफर को साथ ले संत फ्रांसिस सान्ता क्रूज पर जा चढ़े। अब न उन्हें पुर्त्तगाली राजा की शक्ति पर ही भरोसा था, और न परेरा के उपहारों पर। ईश्वर पर ही उनकी आशा केन्द्रित थी और किसी अनजान चीनी नाविक की दया पर, जो उनकी दशा पर तरस खा उन्हें चीन की भूमि पर पहुंचा देने के लिए अपनी नाव पर डेढ़ हाथ जगह दे दे। यदि इस वार वे चीन पहुंचने में सफल हो गए, तो नवंबर तक मलक्का लौट कर और राजदूत की मंडली का पूरा प्रबंध

कर फिर चीन जाने का विचार कर रहे थे। जुलाई के दूसरे पखवारे में सांता क्रूज ने लंगर उठाए, इक्कीस तारीख तक वह सिंगापुर पहुंचा। वहां कुछ दिन रुक कर फिर उत्तर की ओर मुड़ने लगा। संत ने एक बार और अपनी आंखें मलक्का और भारत की ओर उठाईं। अल्वारो द अताइदा, जापानी जौन, दिएगो परेरा, बेरजे, वेइरा, पेरेज, वाइसराय, गोआ के धर्माध्यक्ष और पुर्तगाल के राजा तृतीय जौन, सब एक-एक कर उनकी आंखों के सामने से गुजरने लगे। अल्वारो ने पुर्तगाली राजा तथा खीस्तेश्वर के कार्यों को ईर्ष्या और विद्वेश से वशीभूत होकर मिट्टी में मिला दिया था, उसका दोष तुच्छ समझ कर नहीं टाला जा सकता। उसको गिरजा से बहिष्कृत करने को उन्होंने बेरजे को आज्ञा भेज दी। संत पिता के राजदूत का अपमान कर अल्वारो ने यह बला अपने सिर पर ली थी। लेकिन संत फ्रांसिस गोआ के धर्माध्यक्ष द्वारा यह प्रकाशित करना चाहते थे, इस हेतु उन्होंने बेरजे को बूढ़े आलवुकर्के से सारी घटना कह सुनाने को कहा, "मैं कभी भी किसी धर्माध्यक्ष से किसी को धर्मच्युत कराने का अनुरोध नहीं करता, किन्तु यदि गिरजा के कानून या हमारे समाज को दिए गए आदेशपत्र द्वारा कोई धर्मच्युत हो जाए तो उसे यह बताने में मुझे संकोच कभी नहीं होगा कि वे अपने किए पर पश्चात्ताप करें और भविष्य में फिर ऐसा न करें।"

जापनी जौन को उन्होंने वेइरा के साथ भारत जानेका आदेश दिया और उसके लिए कुछ धन जमा करने के लिए पेरेज को लिखा कि आगामी वर्ष वह जापान जानेवाले अन्य खीस्तसेवकों को जापान ले जाए। संत यह कदापि नहीं चाहते थे कि वह घर जाकर कंगाल सा जीवन व्यतीत करे। उनकी इच्छा थी कि जौन भारत सें माल खरीद कर ले जाए और जापान में व्यापार करे। जापान के लिए संत फ्रांसिस को सदा चिन्ता बनी रहती थी। उन्होंने बेरजे को लिखा, "प्रति वर्ष किसी-न-किसी को जापान भेजने की अवश्य कोशिश कीजिए। हर प्रकार से, दया संघ, उदार सज्जन, वाइसराय, या दूसरों के द्वारा जापान के बंधुओं के लिए दान जमा करने की चेष्टा करते रहिए। कालेज में अवश्य याद कर मेरे और जापान के पुरोहितों तथा धर्मबंधुओं के लिए ईश्वर से प्रार्थना करिए।" और दिएगो परेरा, ने जिसको याद करते ही संत फ्रांसिस दुःख से

विह्वल हो जाते थे संत फ्रांसिस की चीन यात्रा को सफल बनाने के लिए उसने कैसी तैयारियां की थीं ? उनकी कैसी सहायता की थी ? अपने शारीरिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देने की सलाह देते हुए संत फ्रांसिस ने लिखा, "मैं सबसे अधिक इस बात का अनुरोध करता हूं कि आप ईश्वर के निकटतम आते जाएं कि वे ही आपको इन विपदाओं में सांत्वना दें।"

संत फ्रांसिस ने अकथ यंत्रणाओं का सामना करते हुए भी विरोधियों की भलाई पर ही ध्यान दिया। अल्वारो को धर्मच्युत कराना तो आवश्यक था कि दूसरे उससे सबक सीखें। उसी के प्रभाव से मलक्का के विकर श्रद्धेय जौन सोआरेज ने भी संत फ्रांसिस की चीन यात्रा में जरा भी मदद नहीं की थी, क्योंकि अल्वारो के पिछलग्गुओं में वे भी थे। अपने नए कप्तान से वे वैर मोल लेना नहीं चाहते थे।. ऐसे स्वार्थीयाजक के लिए भी उन्होंने राजा जौन से सिफारिश की। उन्होंने दिएगो को लिखा, "विकर ने मुझसे अपने लिए राजा से पैरवी करने का अनुरोध किया है। और मैंने यह किया भी है, यद्यपि मुझे मालूम हुआ कि उन्होंने हमारी यात्रा सफल बनाने के लिए छोटी उंगली भी नहीं उठाई थी। वे अल्वारो के पक्ष में रहना चाहते थे। उनका अभिप्राय स्पष्ट है। वे मूर्खों के स्वर्ग में रहते हैं जो सब सुखों के स्रोत ईश्वर को छोड़, मनुष्यों से कुछ पाने की चिन्ता में लगे रहते हैं। जो मेरे मित्र नहीं हैं, उनसे मैं उपकार द्वारा ही बदला लेता हूं।"

अनुकूल हवा के झोंके पाकर सान्ता क्रूज प्रशान्त सागर में उत्तर की ओर बढ़ता रहा। वातावरण शान्त था, लेकिन सन्त फ्रांसिस के लिए दुःख के दिन थे। उनके दोनों साथी फरेरा और चीनी अन्तोनियो सख्त बीमार पड़ गए थे, उनके बचने की कोई आशा न दीखती थी। लेकिन सन्त की निस्स्वार्थ सेवा से वे स्वस्थ हो पाए। जहाज पर अन्य मुसलमान और ख्रीस्तीय भी बीमार पड़े। सन्त ने इनकी भी सेवा दत्तचित्त होकर की। उनके लिए मुर्गियां खरीद लाते और अपने हाथों उन्हें बना कर खिलाते। अपने भोजन में से वे सदा आधे से अधिक उनके लिए बचा रखते। यदि किसी रोगी को किसी विशेष पथ्य की आवश्यकता होती, तो वे अन्य यात्रियों से वह चीज मांग लाते।

चीन सागर जैसे खतरनाक समुद्र से होकर भी परेरा का जहाज शान्तिपूर्वक जा रहा था। हवा पालों को भरती जाती, जहाज पानी चीर कर बढ़ता जाता। नाविक निश्चिन्त थे। सहसा एक नया द्वीप नजर आया। अब तक वहां किसी भी नाविक का आगमन नहीं हुआ था। संत फ्रांसिस को संदेह हुआ कि सांचन कहीं पीछे तो नहीं छूट गया। जापान से लौटते समय उन्होंने यह द्वीप तो नहीं देखा था। उन्होंने कप्तान को अपनी शंका से परिचित कराया। लेकिन कप्तान उनकी बात कैसे मानता। उनकी बातों पर विश्वास कर वे पीछे मुड़ना नहीं चाहते थे। फिर भी सन्त के अनुरोध से उन्होंने पता लगाने के लिए एक नाव भेजी। तीन दिनों के बाद वह नाव लौटी। तब नाविकों ने जहाज घुमाया और बिना किसी डर या खतरे के सान्ता क्रूज अगस्त के अन्त में सान्चन के किनारे लगा।

सान्चन द्वीप में

सान्चन का द्वीप, जहां चीनी और पुर्त्तगाली व्यापारी चोरी-चोरी मिलते थे, कोई मनोरंजक या मनोरम स्थान नहीं था। बंजर द्वीप के बालुकामय तट पर छोटी-बड़ी नावें समुद्र में लगे जहाजों से आती-जाती थीं। चीन वहां से ६ मील दूर उत्तर-पश्चिम कोने पर धुंधले चित्र-सा दिखाई देता था। तत्कालीन चीन का मशहूर नगर कान्तन तट से बहुत दूर था; अतः चीन के अधिकारी प्रचलित अवैध व्यापार पूर्णतः रोकने में असमर्थ थे। और अधिकारियों में से अनेक उस व्यापार पर रोक लगाने के पक्ष में भी नहीं थे, क्योंकि इससे उन्हें भी लाभ होता था। आधुनिक हांकांग सान्चन से सौ मील उत्तर-पूर्व बसा था। जब पुर्त्तगाली जहाज सान्चन पहुंचता, तब चीनी व्यापारियों का जत्था कान्तन से चुकियांग नदी के रास्ते आकर रेशम तथा सोने के बदले गोलमिर्च और तरह-तरह के मसाले चीनियों के भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए कान्तन ले जाते। लेकिन यदि दुर्भाग्यवश कोई भी पुर्त्तगाली उस वांसावरण के भीतर पकड़ा जाता, तो यदि मृत्यु नहीं, तो जेल की हवा अवश्य खानी पड़ती। सान्चन के तट पर पुर्त्तगाली अपना जहाज सदा तैयार रखते। आक्रमण का डर सदा बना रहता, कभी चीनी जलदस्युओं का, तो कभी चीन के राजकीय सैनिकों का। खतरे की घंटी बजते ही वे सुनसान सागर की शरण में छूमंतर हो जाते।

संत फ्रांसिस का पदार्पण जब सान्चन पर हुआ, तब वह व्यापारियों से भरा था। गौर पीत दोनों वर्णों के लोग वहां दीख पड़ते थे। सन्त के पुराने मित्र जौर्ज आल्वारेज भी वहीं थे।

लोगों ने सन्त का भव्य स्वागत किया। लेकिन दिएगो परेरा के बदले अल्वारो द अताइदे के सैनिकों को देख आल्वारेज को आश्चर्य अवश्य हुआ होगा। मलक्का के महाकप्तान के हथकंडों को समझते उन्हें देर न लगी। संत का संकल्प सुन कर उन्हें अचंभा और खेद दोनों हुआ। संत फ्रांसिस किसी की परवा न कर, अपनी लक्ष्य-सिद्धि में कार्यरत हो गए। चीनियों के मुख से चीन का वर्णन सुन कर उनकी उत्सुकता और भी बढ़ती जा रही थी। जिन चीनी व्यापारियों से भेंट हुई है, सब के सब अच्छे मालूम होते हैं। यही उनका विचार था। वे चीन में किसी भी तरह प्रवेश करने को कटिबद्ध हो गए। अपनी अंधेरी यात्रा में वे मलक्का से आशादीप जला कर चले थे, अब सान्चन पहुंचकर कान्तन पहुंचना कैसे दुष्कर हो सकता था। कोई भी छोटी-सी-छोटी नाव उस ६ मील के फासले को आसानी से तय कर सकती थी। लेकिन उसी सान्चन में कुछ ऐसे पुर्त्तगाली थे जो कान्तन के कैदखाने में भीषण यातनाएं झेल चुके थे; जिन्हें याद करते ही उनके रोंगटे खड़े हो जाते। इन्हीं अनुभवी लोगों में एक मानुएल द चावेस भी थे। इन्होंने ही कांतन के कैद से दिएगो परेरा के नाम राजदूत मंडली की स्थापना के लिए पत्र भेजा था। लेकिन जब वे स्वयं उस नरक से मुक्त हो चुके थे, तो अपने हतभागे देशवासियों के उद्धार का प्रयास हर प्रकार रोकने की चेष्टा कर रहे थे। उन्होंने तरह-तरह से सन्त को उस अभियान की मूर्खता दिखाने की कोशिश की। कान्तन के जेलों का आंखदेखा वर्णन किया जिसे सुन कर अन्य पुर्त्तगाली भी सन्त को समझा-बुझा कर रोकने लगे। लेकिन वज्र संकल्प फ्रांसिस में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं हुआ। यदि पुर्त्तगाली उनकी मदद करने को तैयार न होंगे, तो वे चीनियों के सामने हाथ फैलाएंगे।

यहां भी कठिनाई

और अन्त में एक अच्छे स्वभाव का चीनी उन्हें मिल भी गया, जो अपनी पच्चीस मन गोलमिर्च से लदी नाव पर उन्हें कुछ जगह देने को तैयार हो गया।

इसी नेकदिल व्यापारी के घर मानुएल चावेस ने कान्तन से भाग कर शरण ली थी। उसकी नाव पर केवल उसके पुत्र और कुछ विश्वस्त दास थे। उस समय वह कान्तन लौट रहा था। वहां से वापस आने पर उसने सन्त फ्रांसिस को अपने साथ ले जाने का वचन दिया। इस समझौते के अनुसार वह तीन दिन संत को अपने यहां आश्रय देगा, और चौथे दिन पौ फटने के पहले ही उन्हें कान्तन के गवर्नर के महल के सामने उनकी पुस्तकों तथा अन्य सामानों के साथ पहुंचा देगा। इस प्रकार सन्त फ्रांसिस को चीन के राजा से मिलने तथा गोआ के राज्यपाल के पत्र दिखाने का अवसर मिल जाएगा।

पच्चीस मन गोलमिर्च देकर यह अवसर प्राप्त करने में सन्त फ्रांसिस अपना सौभाग्य ही समझते थे। लेकिन यह प्रबंध भी खतरे से खाली न था। संभव था कि धन लेकर वह व्यापारी उन्हें किसी निर्जन द्वीप पर मरने के लिए छोड़ दे, या कुछ दूर जाकर समुद्र में ढकेल दे। उधर वह व्यापारी भी बड़ी खतरनाक जवाबदेही अपने सिर पर ले रहा था, यदि राज्यपाल को किसी तरह पता लग जाए कि अमुक चीनी व्यापारी ने उस विदेशी को चीन में प्रवेश करने में सहायता दी है, तो उसे भी कैद में सड़ना पड़ेगा। यदि इन सब प्रारंभिक कठिनाइयों का सामना करके फ्रांसिस किसी प्रकार राज्यपाल के महल तक पहुंच भी जाएं, तो चीन के कीड़ों से भरे कैद में दम तोड़ने या फांसी के तख्तों पर झूलने के सिवा किसी दूसरे परिणाम की आशा नहीं थी। किन्तु ये सब शंकाएं संत फ्रांसिस का कलेजा नहीं कंपा सकती थीं।

उन्हें केवल एक ही बात का डर था, जो मृत्यु या आजन्म कैद से भी भयावह जान पड़ती थी याने ईश्वर की दया और करुणा पर क्षण भर के लिए भी संदेह करना। "सब से भीषण तो यह है कि कहीं ईश्वर की दया और करुणा पर क्षण भर के लिए भी हमारा विश्वास और भरोसा डांवाडोल न हो जाए, जिनके सेवार्थ हम उनके पुत्र येसु ख्रीस्त अपने मुक्तिदाता और परम प्रभु के धर्म का प्रचार करने यहां आए हैं।" और संत फ्रांसिस जानबूझ कर अपने को इस खतरे में नहीं डाल सकते थे। ईश्वर की शक्ति पर उन्हें असीम विश्वास था। संसार की सारी शक्तियां भी यदि उनके विरुद्ध खड़ी हो जाएं, तो भी ईश्वर पर विश्वास कर उनसे लोहा लेने को तैयार थे।

बीमारी का शिकार

सितंबर की चौथी तारीख को संत फ्रांसिस ने सान्चन द्वीप पर मिस्सा का पूज्य बलिदान चढ़ाया, वह रविवार था। गिरजाघर कोई भव्य भवन नहीं, फूस की झोपड़ी थी, शायद पहली बार वहां ख्रीस्तयाग सम्पन्न हो रहा था। संत फ्रांसिस पुर्त्तगालियों की सेवा में लगे थे, विशेषत: उनके आध्यात्मिक उत्थान में। काम का अभाव नहीं था। अभी यात्रा की थकावट मिटी भी नहीं थी कि सन्त फ्रांसिस अपने कार्य में संलग्न हो गए। नतीजा यह हुआ कि वे स्वयं बीमार पड़े और दो हफ्तों तक ज्वर से जलते रहे। स्वस्थ हो जाने पर उनका कार्यक्रम पूर्ववत् चलने लगा। रोगियों की सेवा, गुलामों को धर्मशिक्षा और पुर्त्तगालियों की आध्यात्मिक देखरेख। गुलामों में एक पेरो लोपेज था जो गैरचीनियों की लड़ाई में पुर्त्तगालियों के हाथ आया था। संत फ्रांसिस भी एक ऐसे ही व्यक्ति की खोज में थे जो दुभाषिया बनकर उनके साथ चीन जा सके। उनका प्यारा अन्तोनियो इस काम के लिए बिलकुल बेकार था। फ्रांसिस पेरो को ही अपने साथ चीन ले जाने की सोच रहे थे। और पेरो तैयार भी था। लेकिन जब उसने कान्तन के कैदखाने का हृदयविदारक वर्णन सुना तो हिम्मत हार गया। अन्तोनियो और पेरो के अलावा मलयाली ख्रीस्तोफर था। लेकिन उस पर ऐसी आशा करना व्यर्थ था, क्योंकि उसको अपने वेतन से मतलब था।

संत फ्रांसिस सान्चन में सेवाकार्य में निमग्न थे, लेकिन उनकी आंखें चीन की ओर लगी थीं। उस चीनी व्यापारी पर उनको विश्वास था। फिर भी उनके मन का पंछी बार-बार भारत और जापान की ओर उड़ चलता। मलक्का में पैरेज का स्वास्थ्य दिन-दिन गिरता जाता था। संत ने उन्हें भारत जाकर कोचिन में इरिदिया का काम संभालने की आज्ञा दी और इरिदिया को जापान जाने को लिख भेजा। मलक्का से संत फ्रांसिस का दिल ऊब चुका था, उनके विचार में वहां उस समय येसुसमाजियों को रखना व्यर्थ था। यदि पीछे उनकी संख्या मे वृद्धि हुई तो फिर मलक्का के लिए किसी को भेजा जायगा।

दिओगे के नाम दो पत्र

दिएगो परेरा की हालत याद कर उनका दिल रो उठता था। वे अपने

व्याकुल हृदय को शान्त करने और दिएगो जैसे निस्स्वार्थ सेवक का दुःख कुछ हल्का करने के लिए उन्होंने उस व्यापारी के पास दो पत्र सांचन से लिखे। ये पत्र क्या हैं, उनकी कृतज्ञता और सहानुभूति की तसवीरें हैं। अपनी प्रत्याशित चीन यात्रा के विषय में उन्होंने लिखा, "यदि इस संसार में कोई है, जिसने इस महान कार्य में मेरी सहायता की है, जिसे ईश्वरीय विधान के अनुसार कृपा मिलनी चाहिए, तो वह निस्संदेह आप ही हैं, और इसकी सफलता का संपूर्ण श्रेय भी आपको ही प्राप्त होगा। असीम उदारतापूर्वक आपने मेरी और मेरे साथियों की यात्रा का खर्च उठाया है। यही नहीं, मेरे चीन महादेश और कान्तन प्रदेश तक पहुंचने का भी खर्च आप ही ने दिया है। आपका नौकर थोमस स्कान्देल्यो आपकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करता रहा है। जो कुछ उससे मांगता हूं, वह मुझे दे देता है। उसकी उदारता तथा अनवरत दया के लिए, जिसे वह हर समय दिखाता है, ईश्वर उसका भला करें।"

२५ वीं अक्टूबर को उन्होंने उस अति दूर भूखंड से गोआ के उपप्रदेशाध्यक्ष गास्पार बेरजे के नाम भी एक पत्र लिखा, जिसमें उन दिनों का सजीव वर्णन है। सन्त फ्रांसिस उस चीनी नाविक की राह देख रहे थे, लेकिन अब तक उस ६ मील प्रशस्त सागर पर वह परिचित नाव आती नहीं दीखी। तब संत के निराश हृदय गगन में आशा की एक रश्मि छिटकी। उन्हें खबर मिली कि चीन के राजा अन्य देशों की शासन प्रणाली का अध्ययन करने के लिए उत्सुक हैं। संत फ्रांसिस उन्हें केवल सांसारिक शासन प्रणाली ही नहीं, स्वर्ग की भी बातें बतलाने को वहां आए हैं। अब केवल एक ही बाधा थी, ६ मील चौड़ी जलराशि, जिसके सामने उनकी चार हजार मील से भी अधिक की यात्रा व्यर्थ सिद्ध हो रही थी। अब उनको एक दूसरा मार्ग दीख रहा था; वह था श्याम से होकर। यदि वह चीनी नाविक नहीं आया, तो वे श्याम से होकर चीन जाएंगे। बेरजे के नाम पत्र में संत के हृदय का प्रेम सूर्य की रोशनी के समान चमकता है, जिसे वे सबों तक पहुंचाना चाहते हैं। वे अपने बंधुओं से प्रार्थना की भीख मांगते हैं और गोआ के अन्य धर्मसमाजियों से भी यही अनुरोध करते हैं। भारत स्थित येसुसमाजियों के उपप्रदेशाध्यक्ष के पास लिखते समय मलुक्का उन्हें याद आता है, उस अनाथ मलुक्का के सहायतार्थ बेइरा के साथ किसी को भेजना होगा।

तेरह नवंबर को एक और पुर्त्तगाली जहाज मलक्का के लिए रवाना हुआ। संत फ्रांसिस ने फिर पेरेज, पेरेरा और वेरजे के नाम पत्र लिखे। पुनः वे परेरा को हृदय से धन्यवाद देते हैं : "हमारे प्रभु परमेश्वर आपको इसका पुरस्कार दें, क्योंकि वे ही इसमें समर्थ होंगे। मैं आपका ऋण कदापि नहीं चुका सकता। यह भार मुझे आजीवन ढोना पड़ेगा। यद्यपि मैं आपके ऋण का मूल्य नहीं चुका सकता, जब तक जीवन रहेगा, किसी-न-किसी प्रकार अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रतिदिन अनवरत प्रार्थना के द्वारा उसका कुछ-न-कुछ व्याज चुकाने की कोशिश करता रहूंगा कि ईश्वर सब बुराइयों से आपकी रक्षा करें और इस जीवन में कभी ऐसा न होने दें कि उनकी कृपा आप पर से उठ जाए। शारीरिक दुर्घटनाओं तथा दुर्भाग्य में वे आपके शरीर और आत्मा को बल प्रदान करें, जिससे आप अपने विश्वास में दृढ़ रहें, ईश्वर की आराधना और अपने धार्मिक कर्त्तव्य उत्साहपूर्वक पूरा करें। वे आपकी आत्मा को स्वर्ग की महिमा में ले जाएं। चेष्टा करके भी मैं अपने को इस समय संतुष्ट नहीं कर सकता। अतः मैं अपने येसुसमाज के सब बंधुओं की मदद मांगता हूं जो भारत के विभिन्न भागों में गिरजा के काम में लगे हुए हैं।"

केवल मुंह से परेरा को धन्यवाद दे संत संतुष्ट नहीं हो गए। उन्होंने पेरेज को लिखा, 'मैं आप लोगों से अनुरोध करता हूं कि आप लोग भारत के किसी भी स्थान में, जब कभी अवसर मिले, इस महापुरुष की सहायता करने की हृदय से कोशिश करें। स्वयं दुख सह कर भी इनके प्रति दया दिखाने के लिए प्रत्येक उपाय का प्रयोग करें। हम सबों का सम्मिलित उद्योग भी उनके इस अंतिम तथा इतने महान त्याग की बराबरी नहीं कर सकेगा जो हमारे धर्मप्रचार के लिए, चीन के साम्राज्य में प्रवेश करने में इतना सहायक हुआ है।"

लेकिन जिस प्रकार संत फ्रांसिस का हृदय दिएगो परेरा की उदारता याद कर कृतज्ञता से उमड़ उठता था, उसी प्रकार अल्वारो की उद्दंडता तथा हठधर्मी को स्मरण कर दुखित हो जाता था। अल्वारो के काले भविष्य का पूर्वभास उन्हें कुछ-कुछ मिल गया था। उन्होंने पेरेज को लिखा : "ईश्वर इस व्यक्ति को क्षमा करें जिसका हाथ ऐसे कुकर्म में रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि निकट भविष्य में ईश्वर का प्रकोप, जिसके विरुद्ध उसने अपराध किया है, उस



सांचन द्वीप में फ्रांसिस के मृत्यु-स्थल पर बना गिरजाघर (पृष्ठ २०२)

पर आनेवाला है। शायद इसका अनुभव उसे अभी भी हो रहा है।" उन्होंने बेरज़े को गोआ के धर्माध्यक्ष से कह कर कानूनी तौर से अल्वारो को गिरजा से च्युत कराने की आज्ञा दी,क्योंकि इस पुर्त्तगाली ने संत पिताकी आज्ञाका उल्लंघन किया था। अल्वारो को दंड मिलना जरूरी था कि उसे अपने अपराध की जघन्यता तथा उसके उचित दंड का ज्ञान हो जाए।

उसे दंड दिए बिना संत फ्रांसिस संतुष्ट नहीं होने को थे, क्योंकि इस घटना का प्रभाव भविष्य पर पड़ सकता था। यदि सबों की धारणा हो जाए कि ऐसे अपराध बिना सजा के भुलाए नहीं जाते, तो वे ऐसी बातों में संत पिता, पुर्त्तगाल के राजा और ईश्वर का अपमान इतनी आसानी तथा शीघ्रता से करने की हिम्मत नहीं करेंगे। "मैं आपको फिर अपना यह आदेश बड़े यत्न से पूरा करने की आज्ञा देता हूं। आप धर्माध्यक्ष से उन लोगों पर धर्मच्युत के कानून लागू करने को कहें जिन्होंने मेरी चीन यात्रा में बाधाएं डाली हैं, क्योंकि मैं संत पिता के राजदूत की हैसियत से चीन जा रहा था।" संत फ्रांसिस के ये अंतिम पत्र थे सांचन द्वीप से लिखे।

—वह नहीं आया—

संत फ्रांसिस उस चीनी व्यापारी की राह देख रहे थे। लेकिन वह नहीं आया और धीरे-धीरे सान्चन को निर्जन छोड़ एक-एक करके व्यापारी विदा होते गए। अन्त तक फ्रांसिस किसी तरह कान्तन नहीं पहुंच सके, तो सीधे स्याम चले जाएंगे। दिएगो आरागाओ नामक एक व्यापारी, जो बुंगों के दरबार में कुछ दिन रह चुका था, अपने जहाज के साथ श्याम ही में शरद काटना चाहता था। स्याम से प्रतिवर्ष राजदूत की एक मंडली चीन के राजा के दरबार में जाया करती थी। इस मंडली में कहीं संत फ्रांसिस को भी जगह मिल जाए तो उनका परिश्रम सफल हो जाएगा। और यदि स्याम में ६ महीने रह कर भी चीन जाने में सफल नहीं हुए तो भारत लौट जाना ही अच्छा होगा। इस कारण उन्होंने दिएगो परेरा की नियुक्ति का प्रमाणपत्र उनके पास भेज दिया। यदि अगले साल दिएगो का पासा पलटा, तो उस प्रमाणपत्र की आवश्यकता पड़ेगी। दिएगो का सान्ता क्रूज एक महीने के अन्दर ही सान्चन से प्रस्थान करनेवाला

था। उसी पर संत अपना पवित्र चषक भेज देना चाहते थे कि परेरा की मंडली में आनेवाले येसुसमाजी पुरोहित को पूज्य बलिदान की सामग्री की कमी न हो पाए। तब तक स्वयं संत फ्रांसिस खीस्तयाग बिना ही रहेंगे ?

नवंबर का अन्त निकट आता जा रहा था, लेकिन उस चीनी व्यापारी की नाव नहीं दीखती थी, उल्टे कान्तन से जो खबर आती, वह पहले से भी भयंकर होती। परेरा द मिरान्दा, जिसने हिरादो में संत फ्रांसिस का भव्य स्वागत ही नहीं, बल्कि सहायता भी की थी, अब कान्तन की कैद में सड़ रहे थे, जहां न खाने के लिए भोजन, न सांस लेने के लिए शुद्ध वायु थी, जहां के तहखानों में बेड़ियों से जकड़े कैदी, अधिकारियों के लात-जूते सहा करते थे। ऐसे समाचार सुन कर संत फ्रांसिस के समाजबंधु परेरा की भी हिम्मत छूटने लगी। संत फ्रांसिस ने उन्हें तुरंत समाज से हटा दिया और मलक्का और गोआ के भाइयों को इस घटना से अवगत कराया कि कहीं भूल से उन्हें अपने साथ रख न लें। उनका दुभाषिया पेरो लोपेज़ भी किनारा काटने लगा। जौर्ज आल्वारेज, संत के पुराने मित्र भी सान्चन से चले गए थे। निर्जन सान्चन पर एक ही जहाज रह गया था, दिएगो परेरा का सान्ता क्रूज जो तट से कुछ दूर लहरों पर झूम रहा था।

पुर्त्तगालियों की संख्या सांचन में कम हो जाने के कारण संत फ्रांसिस का कार्य भी घटता जा रहा था। उनका दिल चीन जाने को और व्यग्र हो उठा। उनकी आंखें उस रहस्यमय देश की धूमिल किनारों की ओर लगी रहती थीं, दूर क्षितिज से आती किसी नाव को देखने की कोशिश में सदा विस्फारित। संत फ्रांसिस के हृदय में तूफान मच रहा था। इस झंझा के झोंकों में वे अपना आशादीप जलाए रखने की सतत चेष्टा कर रहे थे। अपने को सब ओर से असहाय और एकाकी अनुभव कर रहे थे। नवंबर की हड़कंप ठंढ में उनका शरीर कांप उठता। रसद भी घटने लगी थी; भोजन के अभाव से शरीर गलने लगा। लेकिन उनके संकल्प में न निर्बलता आई, न उनकी आशा में शिथिलता।

जब क्षुधा उन्हें बेचैन करने लगी तो उन्होंने अन्तोनियो को सांता क्रूज के नाविकों से कुछ भोजन मांग लाने को भेजा। दिएगो वाज अपने सामर्थ्य के अनुसार उनकी सहायता करते रहे। फिर भी उस निर्जन भूखंड में झोपड़ी में ठंढ और भूख से किसका बचाव हो सकता था। धनलोलुपता, ईर्ष्या तथा परि-

स्थितियों का शिकार, सब प्रकार से पराजित, अपनी लक्ष्य-सिद्धि का आशादीप लिए संत फ्रांसिस अब भी अपने को आगे बढ़ाने की कोशिश में लगे थे। नवंबर मास की ठंढी हवा का एक झोंका आया, तीर-सा उनके चेहरे पर लगा, उनका जर्रा-जर्रा कांप उठा, उनकी अन्तरात्मा चीख उठी। सवेरे सूरज मुस्कुराता, लेकिन उनकी किरणें आशाज्योति बरसा कर चली जातीं। दिन का क्षण क्षण युग-सा प्रतीत होता और रात्रि के शरदाकाश के तारे उस छियालीस वर्षीय अधेड़ पर व्यंग से अट्टहास करते। दिन लंबे होते तो रात उसकी दूनी। लेकिन संत फ्रांसिस की आशा अणुमात्र भी नहीं टूटी। एक तरह से पराजित होकर भी वे आशातीत विजय की प्रतीक्षा करते रहे। उनकी आशा व्यर्थ नहीं होगी। विजय आएगी, पर चीन की भूमि पर नहीं। लेकिन उसी सान्चन के निर्जन भूखंड पर, जिससे वह द्वीप युग-युग के लिए पुनीत हो जाएगा।

नवंबर की इक्कीसवीं तारीख को सांचनु के फूस के गिरजाघर में संत फ्रांसिस ने एक व्यापारी के दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए मिस्सा का पूज्य बलिदान चढ़ाया। उसके बाद वे स्वयं खाट पर पड़ गए। यूरोप से आने के बाद उन्होंने दस वर्ष से अधिक सुदूर पूर्व में बिताए थे। उनके बाल कुछ सफेद हो गए थे, पर शरीर अब भी हृष्ट-पुष्ट था। परिस्थितियों के भार से वह शरीर दिन-दिन बिना उनके जाने क्षीण होता जा रहा था। अल्वारो आताइदे का दुर्व्यवहार, चीनी व्यापारी के लिए अविरल प्रतीक्षा, भोजन का अभाव और सांचन की सर्दी उनकी शक्ति खा रही थी।

—मृत्यु की छाया—

बुखार से उनका शरीर तवे के समान जल रहा था। उन्होंने सोचा, सांता क्रूज में कुछ आराम मिल सकेगा। उस दिन मध्याह्न को एक छोटी नाव पर वे सांता क्रूज पर गए। लेकिन लहरों के साथ उठता-गिरता जहाज उनके स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद नहीं सिद्ध हुआ। रात भर में उनकी तबीयत और खराब हो गई। सुबह को नाविकों ने उन्हें द्वीप पर चले जाने की राय दी। उनकी राय मान वे अपने प्यारे अन्तोनियो के पास लौट आए। उनके हाथ में ठंढ से बचने के लिए एक पतलून था और पेट की क्षुधा मिटाने के लिए कुछ बादाम। ज्वर

से उनका अंग-अंग कांप रहा था। तव भी उनके मुंह से आह तक न निकली। वीर सैनिक फ्रांसिस वीरतापूर्वक अपनी विजय की ओर बढ़ रहे थे। उनकी ऐसी दशा देख दिएगो वाज उन्हें अपनी झोपड़ी में लिवा लाए। स्वास्थ्य की तत्कालीन चिकित्सा पद्धति के अनुसार उन्होंने संत फ्रांसिस का रक्त स्राव कराया। इसके वाद संत फ्रांसिस कुछ समय तक संज्ञाहीन रहे। वुधवार को उनका जी मितलाने लगा, वे कुछ खा नहीं सके। दूसरे दिन फिर रक्त स्राव कराया गया। वे फिर मूर्छित हो गए। धीरे-धीरे चेतना उन्हें छोड़ती जा रही थी। इस हालत में उनके मुंह से यही प्रार्थना निकलती, "हे येसु, दाउद के पुत्र, मुझ पर दया करिए। मेरे पापों पर दया की दृष्टि डालिए।" खाट पकड़ने के आठवें दिन तक उनकी यही हालत रही। सोमवार को उनका कंठ भी वंद हो गया। तीन दिनों तक वे कुछ नहीं वोले। वृहस्पतिवार के मध्याह्न को चेतना लौटी। उनकी आंखें ख्रीस्तोफर पर पड़ीं। ठंढी आह के साथ उन्होंने कहा, "हतभागे, हतभागे, हतभागे।" शायद उनकी आंखें अनागत भविष्य की ओर देख रही थीं, जव उस दिन से ६ महीनों के वाद मलक्का की गलियों में पाप-पंक से लिप्त हतभाग ख्रीस्तोफर इस संसार से कूच कर जाएगा।

धीरे-धीरे रोगी की दृष्टि भी क्षीण होने लगी। किसी को पहचानना भी उनके लिए दुष्कर हो गया। उनका शरीर गलता जा रहा था, उनकी आत्मा अपने प्रियतम में तन्मय होती जा रही थी। उनका ध्यान परम पवित्र त्रित्व में लीन था। उस संज्ञाहीन अवस्था में भी उनके उद्‌गार त्र्यैक ईश्वर के विषय में ही थे। उनकी भाषा दुर्वोध थी। जहां-तहां अन्तोनियो एकाध शब्द समझ पाता।संभवतः संत फ्रांसिस अपनी प्यारी मातृभाषा में, अपने पूज्य देव से संभाषण कर रहे थे। वह वास्क भाषा जिसे उन्होंने नव्वार के दुर्ग में अपने प्रियजनों से सीखा था। वार-वार वे पुकार उठते, "दाउद के पुत्र, मुझ पर दया करिए।" वे अपने उस अंतिम क्षण में संत मरियम,अपनी परम प्यारी जननी को,जिसके प्रति उनके हृदय में वचपन ही से प्रेम तथा भक्ति उमड़ती आ रही थी,वार-वार पुकारते, "हे ईश्वर की कुंवारी माता, मुझको न भूलिए।"

शुक्रवार तक उनकी यही दशा रही। तव रात को उनकी दशा तेजी से गिरने लगी। रात आधी वीत चुकी थी, गगन का तारामंडल उस निस्तब्ध

वातावरण में आंखें फाड़-फाड़ कर सान्चन के रंगमंच का अभिनय देख रहा था। अंतोनियों की सजल आंखों ने महाप्रयाण के लक्षण देखे, विश्वस्त साथी ने सन्त फ्रांसिस के बलहीन हाथ में जलती बत्ती थमा दी। वह था तीसरी दिसंबर १५५२ का स्वर्णिम प्रभात, जब सुदूर पूर्व के प्रेरित फ्रांसिस जेवियर की दिव्य आत्मा अपने अनंत प्रेमी परमात्मा से मिलने चली गई।

बारहवाँ परिच्छेद

विजय तथा महिमा

शान्त सान्चन की वह फूस की झोपड़ी वत्ती की धीमी रोशनी से प्रकाशमयी हो रही थी, बाहर उषा के साथ प्राची के आकाश पर दिनकर का रथ ऊपर उठ रहा था। जिस परम पुनीत येसु के नाम का उच्चारण कर कोटि-कोटि खीस्तीयों ने हंसते-हंसते तलवारों को हार की तरह गले में डाला था, अपने भाल पर आग का चन्दन लगाया था, निश्चिन्त हृदय से अपने सिर जंगली जानवरों की गोद में रखे थे अथवा अथाह सागर की गहराई में प्रवेश किया था, उसी पवित्रतम नाम का उच्चारण कर शनिवार के प्रातःकाल दो बजे, संत फ्रांसिस ने स्वर्ग के विजय मंडप में प्रवेश किया। सांचन की फूस की झोपड़ी में वह पुनीत नाम कुछ देर तक गूंजता रहा, उसकी प्रतिध्वनि कालान्तर में कान्तन की मोटी दीवारों से ही नहीं, चीन और सुदूर पूर्व के घर-घर में टकराएगी। झोपड़ी शान्त हो गई, विश्वस्त सेवक अन्तोनियों की आंखों से प्रेम और विरह के आंसू झड़ने लगे। तारे शोक में एक-एक कर अपना मुंह छिपा कर विदा हो गए। उस दिन संत फ्रांसिस की उम्र छियालिस वर्ष और आठ मास थी। संत फ्रांसिस के दिव्य अवशेष एक टूटी खाट पर फूस की झोपड़ी में पड़े थे।

दुःख से विह्वल अन्तोनियो संत फ्रांसिस की मृत्यु का दुखद समाचार लेकर सान्ता क्रूज के पुर्त्तगाली नाविकों के पास पहुंचा। मित्रों तथा शुभचिन्तकों के दुख का पारावार न रहा। यद्यपि संत की बीमारी की खबर उन्हें पहले से थी फिर भी उनको इसकी आशंका भी न थी कि फ्रांसिस कान्तन की चहारदीवारी के बाहर से ही विदा हो जाएंगे। उनमें से कुछ पुर्त्तगाली जहाज पर से पूज्य मिस्सा के वस्त्र लेकर अन्तोनियो के साथ आए।

संत फ्रांसिस का शव देखकर उन्हें विश्वास न हुआ कि वह निष्प्राण पड़ा है। चेहरे पर विजय की शान्ति विराज रही थी। जीवन भर उन्होंने अपने प्रभु

के लिए दुःख उठाए थे, अब मृत्यु के बाद विषाद के चिह्न उनके चेहरे से लुप्त हो गए थे। अन्तोनियो ने शव को मिस्सा के वस्त्रों से सजाया और उसे लकड़ी की तावूत में रख कर और एक छोटी नाव में चढ़ा उसे दफनाने के लिए सांचन के पूर्वी भाग में चला। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी, नाविकों को बाहर आने की हिम्मत नहीं हो रही थी। अन्तोनियो ने एक गहरी कब्र खोदी, उसके साथ तीन और व्यक्ति थे, एक पुर्त्तगाली व्यापारी और दो गुलाम। दुख का मारा अन्तोनियो श्रद्धा और प्रेम से अपने पूज्य पिता के अवशेष कब्र के हवाले कर मिट्टी से ढंक ही रहा था कि किसी ने राय दी, तावूत को चूने से क्यों न भर दिया जाए कि सान्ता-क्रूज के सांचन से विदा होने के समय तक फ्रांसिस की अस्थियां गोआ ले जाने लायक हो जाएं।

यह सुझाव चीनी अन्तोनियो को जंच गया। चारों मिलकर चार बोरे चूना उठा लाए। अन्तोनियो ने तावूत खोल कर बोरे चूना शव के नीचे रखा और बाकी से शव को अच्छी तरह ढंक दिया। तावूत धीरे से नीचे लटकाई गई और मिट्टी को मिट्टी में मिला देने के प्रयास में कब्र को मिट्टी से ढंक दिया। उनके नेत्र सजल थे। अन्तोनियो ने निशान के लिए कब्र पर दो-चार पत्थर रख दिए। फ्रांसिस के स्मरणार्थ विश्व भर में बनाई जानेवाली असंख्य इमारतों की नींव के ये प्रथम पत्थर थे। अन्तोनियो ने सोचा, शायद किसी समय फ्रांसिस के समाज बंधु भूलते-भटकते सांचन पहुंच जाएं तो वे येसुसमाज के इस महारथी की कब्र पर जाकर ऐसे दिव्य जीवन से प्रेरणा प्राप्त करेंगे और उत्साह-पूर्वक उनके पद-चिह्नों पर आगे बढ़ेंगे।

दिसंबर की चौथी तारीख को सांचन द्वीप पर सन्नाटा छा गया। रात आई और अंधकार बिखेर कर चली गई। उषा आई और उन झोपड़ियों पर अट्टहास कर विदा हो गई। दिसंबर की सर्दी के बाद जनवरी भी वैसी ही ठंढ लेकर पहुंची। फरवरी आने पर सान्ता क्रूज मलक्का लौटने को तैयार हुआ।

अक्षय शव

फ्रांसिस की अस्थियां सांचन में ही छोड़ सान्ता क्रूज को प्रस्थान करते देख अन्तोनियो ने जहाज के कप्तान से निवेदन किया कि आप कब्र खुदवाकर शव

की जांच करें। लेकिन मलक्का के कप्तान अल्वारो द अताइदे के विश्वस्त सैनिक, जो सन्त फ्रांसिस की अन्त्येष्टि में भाग लेकर पुण्य कमाने को भी तैयार न थे, वे भला उनकी महकती लाश ले अपनी नाक क्यों फाड़ने जाते। अन्तोनियो के बहुत हठ करने पर अल्वारो के सहयोगी कप्तान ने अपने आदमी भेजे। कब्र खुली तो उन्हें अपनी आंखों पर विश्वास न हुआ। सड़ती लाश की जगह संत फ्रांसिस का शव उसी हालत में पड़ा था, जैसे अन्तोनियो ने दस सप्ताह पहले धरती को सौंपा था। वही सुन्दर चेहरा, वही सौम्य शान्ति। दुर्गन्ध के बदले चूने की महक उससे निकल रही थी। सान्ता क्रूज के कप्तान को विश्वास दिलाने के लिए एक पुर्त्तगाली संत फ्रांसिस के शरीर से काट कर मांस का एक टुकड़ा लेता गया। यह चमत्कार देख कर कप्तान ने ताबूत उठा लाने की आज्ञा दी। उसके आदेशानुसार तावूत अच्छी तरह बंद करके जहाज पर रख दी गई। फरवरी की १७वीं तारीख को सांता क्रूज अपनी अमूल्य तिजोरी लेकर सांचन से दक्षिण की ओर रवाना हुआ।

२२वीं मार्च को सांताक्रूज मलक्का पहुंचा। सारे नगर में आनंद की लहर फैल गई। जहाज से तट पर लगने से पूर्व ही दिएगो परेरा को सारा वृत्तांत मालूम हो गया था। उनकी व्यवस्था से संत के दिव्य अवशेष के स्वागतार्थ जगह-जगह शानदार तैयारियां की गई थीं। सारा मलक्का स्वागत के जुलूस में उमड़ पड़ा। लेकिन एक व्यक्ति अभी तक अपने दिल से घृणा नहीं निकाल सका था। अल्वारो द अताइदा मलक्का के कप्तान की द्वेषाग्नि अभी तक जल कर राख नहीं हुई थी। जब मलक्का संत फ्रांसिस की जयजयकार कर रहा था, वह अपने बरामदे में बैठा गोटी खेल रहा था। अबोध नागरिकों की मूर्खता पर मुस्कुरा रहा था, जो फ्रांसिस के अक्षय अवशेष को पा खुशी से पागल हो रहे थे।

संत फ्रांसिस का शव मरियम के गिरजाघर में लाया गया। इसी भवन में संत फ्रांसिस मलक्का निवासियों को धर्मोपदेश दिया करते थे। उस शव को देखने के लिए भीड़ की भीड़ आने लगी। वे अपने प्रिय पिता के अक्षय शरीर को देखते, पुर्त्तगाली और मलय, ख्रीस्तीय और गैर ख्रीस्तीय सबके सब उस महान चमत्कार के लिए ईश्वर को धन्यवाद देते। गिरजाघर की मुख्य वेदी के पास

शिलाखंड को काट कर एक कब्र खोदी गई और दिव्य पूजा के वस्त्रों में सजा कर शव को उसी में रक्खा गया। लेकिन कब्र कुछ छोटी थी, कब्र बंद करने के लिए सिर को कुछ सामने की ओर झुकाना पड़ा। उस पत्थर की कब्र में संत फ्रांसिस का शरीर बिना किसी ताबूत के पड़ा रहा।

शव की भारत-यात्रा

जब संत फ्रांसिस की मृत्यु का समाचार गोआ पहुंचा तो वस्तुस्थिति का पता लगाने वेइरा मलक्का चले। मलक्का पहुंचने पर उस महान चमत्कार की खबर मिली। पन्द्रह अगस्त की रात को उन्होंने अपने मित्र और संत फ्रांसिस के परम भक्त दिएगो परेरा के साथ कब्र खोली। अपने चिर मित्र और आदर्श फ्रांसिस का वही चिर परिचित मुखमंडल देख उन्हें उस आत्मा की महानता का आभास मिला। उस शरीर पर मृत्यु की छाया तनिक भी नहीं पड़ी थी। केवल लोगों की असावधानी से संकीर्ण कब्र में रखने के कारण नाक कुछ टूट गई थी और चेहरे पर कुछ जख्म आ गए थे। कब्र में एक नुकीला पत्थर रह गया था जो दाहिनी बगल विंध गई थी। उस अमूल्य धन को मलक्का में छोड़ना वेइरा ने सर्वथा अनुचित समझा। शीघ्रातिशीघ्र उसे गोआ पहुंचाने के अभिप्राय से वे उसे दिएगो परेरा के घर ले गए। अपने मित्र का दिव्य अवशेष अपने यहां रखकर परेरा अत्यन्त सम्मानित हुए। रेशम के मूल्यवान वस्त्रों में उसे लपेट कर उन्होंने ११वीं दिसंबर तक अपने यहां रखा, तब एक जीर्ण जहाज पर उसे भारत ले चले। नाविक डर रहे थे कि कहीं अथाह सागर के निस्तल गर्भ में वह धनराशि विलीन न हो जाए। लेकिन परेरा को संत फ्रांसिस की शक्ति पर दृढ़ विश्वास था। वह पुराना जहाज बंगाल की खाड़ी की भयानक लहरों से लड़ता अपनी संपत्ति छाती में छिपाए गोआ की ओर बढ़ता गया।

संत फ्रांसिस के स्वर्गवास की खबर पाकर सारा कोचिन शोक मना रहा था। फ्रांसिस की अन्त्येष्टि समारोह के अवसर पर भाषण देने के लिए एक दोमिनिक समाजी मंच पर चढ़े तो उन्हें विवश होकर उतर आना पड़ा। लोगों के क्रन्दन के कारण उनका भाषण सुनना असंभव हो गया। लेकिन जब संत फ्रांसिस के अक्षय शव की खबर गोआ पहुंची, तब सारा गोआ आनंद की उमंग से थिरक

उठा। कोचिन में फ्रांसिस पेरेज को संत के शव के साथ भारत पहुंचने की खबर मिली, तो वे अविलंब गोआ के लिए जहाज पर सवार हो गए। जब गोआ में ज्ञात हुआ कि शव कोचिन पहुंच चुका है, तो संत पौल के अध्यक्ष मेलकियोर नूनेज़ बारेतो एक तेज नाव पर जहाज से मिलने निकल पड़े। उनके साथ संत फ्रांसिस के भक्त और प्रथम जीवनी लेखक तेस्सेरा और संत पौल कालेज के कुछ विद्यार्थी भी थे। नूनेज़ को विश्वास नहीं हो रहा था कि संत फ्रांसिस का शव अक्षय रह सकता है। जब उन्होंने परेरा के जहाज को पताकाओं और झंडों से सजा देखा और तोपों को सलामी देते सुना तो उसका अविश्वास जाता रहा। कीमती वस्त्रों से सजे शव को लेकर वे द्रुतगति से गोआ की ओर बढ़े। मार्च की पन्द्रह तारीख, दुखभोग सप्ताह के बृहस्पतिवार की आधी रात को उनकी नाव गोआ बंदरगाह में लगी। सारी रात संत पौल का गिरजाघर सजाने में बीत गई। शुक्रवार को शव के स्वागत-समारोह का आयोजन था।

संत की अभ्यर्थना

पौ फटने के पहले ही बंदरगाह पर लोगों की अपार भीड़ जमा होने लगी। कितने तो तैर कर नाव के पास पहुंचने की चेष्टा करने लगे। गोआ के धनी-गरीब, वाइसराय और नगर के अमीर-उमराव, सबके सब तट पर एकत्र होने लगे। वाइसराय के आज्ञानुसार गोआ के सब घंटे आनंदोल्लास से बज उठे। संत फ्रांसिस के विजय नाद से सारा गोआ गूंजित हो उठा। बंदरगाह से जुलूस संत पौल के गिरजाघर की ओर बढ़ा। चार दिनों तक लगातार भक्त दर्शनार्थियों का तांता लगा रहा। लोग आते और उस परमादरणीय अवशेष के पास घुटने टेक ईश्वर से प्रार्थना करते, उन पावन चरणों को श्रद्धा से चूम कर अपने भाग्य सराहते। भीड़ इतनी थी कि लोगों के रहते शव को दफनाना असंभव हो गया। अवसर देख कर रात के सन्नाटे में अधिकारियों को यह कार्य सम्पन्न करना पड़ा। पहले तो संत पौल के गिरजाघर में ही पुनीत अवशेष को दफनाया गया, पर कुछ दिनों के बाद उसे एक विशाल मंजूषा में रखा गया, जिसे देखने के लिए भारत और संसार भर से यात्री आज भी गोआ आते-जाते हैं।

संत फ्रांसिस के शव के इस चमत्कारपूर्ण प्ररक्षण के विषय में अब कोई संदेह

नहीं रह गया है। गोआ लाए जाने के डेढ़ ही वर्ष बाद तत्कालीन राज्यपाल की आज्ञा से उस शव की पूरी जांच की गई। उस समय दो चिकित्सकों कीं दी हुई साक्षी अब भी विद्यमान है। डाक्टर कोस्मस सरेवा, जिन्होंने मोजांबीक में रोगी संत फ्रांसिस का इलाज किया था और डाक्टर आम्ब्रोजियो रिबेरो ने शव के अंग प्रत्यंग की जांच की। गोआ के उच्चाधिकारियों की शंका थी कि मसाला लगा कर उसे किसी ने सुरक्षित रखा है। डाक्टर रिबेरो ने अपनी कैफियत देते हुए कहा, "मैंने अपने ही हाथों शरीर की सभी मांसपेशियों को दबा-दबा कर देखा है और गवाही देता हूं कि मांस बिल्कुल स्वस्थ और मुलायम है, शुष्कता कहीं भी नहीं आई है और अपने प्राकृतिक चमड़े से ढंका है। सड़ने की निशानी कहीं भी नहीं है।"

संत फ्रांसिस के अक्षय शरीर की चर्चा सुन कर खीस्तीय मत के केन्द्र रोम के निवासी उसे अपनी नगरी में रखना चाहते थे। लेकिन गोआ अपनी अतुल धनराशि से पृथक् होना नहीं चाहता था। अतः येसुसमाज के अधिनायक के आज्ञानुसार एक भुजा काट कर रोम भेजी गई, जो १९४९ में विश्वयात्रा के लिए निकली थी। १६९४ ई० तक संत फ्रांसिस का शव बिलकुल स्वस्थ रहा, लेकिन उसके चौदह वर्ष बाद सूखने लगा। फिर भी आज तक यह शव सड़ा नहीं है। १९३२ में सर्वसाधारण की भक्ति के लिए चांदी का संदूक खुला था। उसी अवसर पर पहली बार उस चमत्कारमय शव के चित्र भी लिए गए। १९५२ में संत फ्रांसिस के स्वर्गवास की चौथी शती समारोह के उपलक्ष्य में ताबूत फिर खोली गई। समस्त भारत और देशविदेश से भक्तवृन्द महान संत फ्रांसिस के पुण्य अवशेष के दर्शन करने गोआ पहुंचे। चार सदियों का शव बिना किसी रक्षा-उपचार के अब तक कीड़ों का खाद्य नहीं बन सका है, यह ईश्वर के विशिष्ट अनुग्रह से ही संभव हो सकता है।

—संत घोषणा—

धर्मवीर फ्रांसिस सन् १६२२ में विधिवत् संत घोषित किए गए। इस घोषणा का अर्थ यह है कि फ्रांसिस अब स्वर्ग में अपने वीर जीवन के पुरस्कार स्वरूप ईश्वर के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं, सदा उनके समक्ष हैं। अपनी आंखोंमें

वे तुच्छ थे, लेकिन आज उस दीनता के लिए ही मनुष्य तथा भगवान सभी उन्हें सम्मानित कर रहे हैं। उनका जीवन कठिन और दुखमय था, पर अब वे बियालीस वर्ष के दुख इस असीम अनंत सुख की तुलना में क्या थे ? उनके हृदय में वह निष्काम प्रेम था जिसके प्रचार के लिए उनका अंग-प्रत्यंग निस्वार्थ परिश्रम करने के लिए स्पंदित हो उठा था। दुर्दैव भी उनकी आशा-दीपिका नहीं बुझा सका। इसके विपरीत ईश्वर के विधान पर उनका विश्वास दृढ़तर हो गया। अपने जीवन-काल में कोई भी संत घोषित नहीं हो सकता, वह भले ही सिद्धि के उत्तुंग शिखर को प्राप्त कर चुका हो।

संत घोषित करने के पूर्व गिरजा उक्त व्यक्ति की जीवन घटनाओं की जांच-पड़ताल बड़ी सावधानी से करती है। यदि उसका जीवन विश्वास, भरोसे और प्रेम के गुणों से असाधारण मात्रा में प्रेरित हुआ रहता है और इसकी साक्षी स्वयं ईश्वर अलौकिक चमत्कारों द्वारा देते हैं, तो वह संत घोषित किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। गिरजा ने फ्रांसिस को भी इसी कसौटी पर कसा। फ्रांसिस उस अग्नि परीक्षा में खरा उतरे। गिरजा ने उन्हें संत ही घोषित नहीं किया, विश्व भर के धर्मविस्तार कार्य का उन्हें संरक्षक भी चुना है। उनका कार्यक्षेत्र अब भारत, जापान और सुदूर पूर्व ही नहीं सारा संसार उनके दामन में आ गया है। उनके प्रियजनों में जेवियर कुल के सपूतों का ही स्थान नहीं रहा, उनके प्रेम-प्लावित हृदय में मीन-तट की परिया जाति के लिए ही प्यार नहीं है, अब समस्त मानव जाति उनकी प्यारी हो गई है।

संत फ्रांसिस द्वारा किए गए चमत्कारों के विषय में बहुत-सी दन्त कथाएं प्रचलित रहीं। उनकी जीवनी के लेखकों में से अनेक पक्षपात के शिकार बन गए। लेकिन इस कारण कह देना कि जिन चमत्कारों का श्रेय सन्त फ्रांसिस को दिया जाता है वे सब झूठे हैं, सत्य से बहुत दूर होगा। हम मानते हैं कि संत फ्रांसिस ने अपने पत्रों में इन चमत्कारों का उल्लेख कदापि नहीं किया है। यह बिलकुल स्वाभाविक है। विनय संतों की निजी संपत्ति है। जो वास्तव में दीन होता है, वह अपने मुंह मिया मिट्ठू नहीं बनता। साधु-संत अपनी क्षुद्रता का ही अनुभव करते और जो कुछ मानवेतर शक्ति उन्हें प्राप्त हुई रहती है, उसका श्रेय वे ईश्वर को ही देते हैं। संत फ्रांसिस के विषय में भी यही बात थी।

यदि उन्होंने अपन चमत्कारों का उल्लेख नहीं किया है तो इनके साक्षी उनके साथी हैं जिनमें से बहुतों ने चमत्कारों को अपनी आंखों देखा था।

ईश्वर ने संत फ्रांसिस के द्वारा उनके जीवन-काल में अनेक चमत्कार किए, इसकी गवाही फ्रांसिस के स्वर्गवास के चार वर्ष बाद उनके साथियों ने सौगंध खाकर दी। संत फ्रांसिस की मृत्यु के बाद भी उनकी मध्यस्थता से अनेकों चमत्कार हुए हैं, लेकिन सबसे बड़ा चमत्कार तो उनका अक्षय शव ही है। इससे बढ़कर क्या हो सकता है कि प्रकृति के अनुल्लंघनीय नियम के बावजूद वह शरीर अब तक खाक में नहीं मिला है।

जो काम संत फ्रांसिस ने शुरू किया, वह अब भी चल रहा है। लोगों को खीस्त की प्रेम-शिक्षा देना, उन्हें खीस्त के प्रेम का अमूल्य पाठ पढ़ाना, वही खीस्तप्रेम जिसको पाकर उच्च कुलोत्पन्न महाकांक्षी फ्रांसिस ने पेरिस के विश्व-विद्यालय के उज्ज्वल भविष्य को त्याग दिया और आज्ञाकारिता का व्रत लिया; ऐश्वर्यमय जीवन को ठुकरा कर दरिद्रता को अपनाया और मातृभूमि के स्वाभाविक प्रेम से अलग, परिस्थितियों से पराजित, अपने बंधुओं से विरक्त गिरजा के अन्तिम संबल से भी वंचित, अपने सपनों के संसार को अधूरा छोड़ सांचन की ठंढी रात में शान्ति और संतोष के साथ इस संसार से चले गए। ऐसे ही खीस्तीय प्रेम के कारण वाह्य पराजय में भी विजय उन्हीं की हुई और आज संत फ्रांसिस जेवियर का नाम खीस्त मंडल में चिर स्मरणीय हो गया है। उस खीस्तप्रेम की तान उन्होंने एक बार इसी पावन भारत भूमि में छेड़ी थी जो कालान्तर में विजय नाद बन कर विश्व भर में फैल गई। भारतवर्ष को संत फ्रांसिस ने हृदय से प्यार किया था, यद्यपि वह प्रेम संगीत सुनाने के लिए उन्हें पसीना और लहू बहाना पड़ा था। वह भारतवर्ष अब भी उन्हें प्यारा है। यह हमारे भारत का सौभाग्य है, हम भारतवासियों का सौभाग्य है। धन्य है हमारा भारत, धन्य हैं हमारे संत फ्रांसिस।

समाप्त

